बौद्धदर्शन
तथा
अन्य भारतीय दर्शन

द्वितीय भाग

भरतसिंह उपाध्याय

बौद्ध दर्शन

तथा

अन्य भारतीय दर्शन

द्वितीय भाग

भरतसिंह उपाध्याय

मूल्य ७)

बौद्धदर्शन

तथा

अन्य भारतीय दर्शन

द्वितीय भाग

भरतसिंह उपाध्याय

बौद्ध दर्शन

तथा

अन्य भारतीय दर्शन

द्वितीय भाग

भरतसिंह उपाध्याय

मूल्य ७)

बौद्धदर्शन

तथा

अन्य भारतीय दर्शन

(ऐतिहासिक शोधपूर्ण, पक्षपातरहित, तुलनात्मक विवेचन)

द्वितीय भाग

लेखक

भरतसिंह उपाध्याय, एम० ए०

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, जैन कालेज, बड़ौत

प्रकाशक

बंगाल हिन्दी मंडल

८, रॉयल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता-१

वितरक
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस,
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
सं० २०११ वि०
मूल्य ७)

मुद्रक—
बी० पी० ठाकुर
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

विषय-सूची

पाँचवाँ प्रकरण

बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन

अ--बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान

अनात्मवाद भी विमुक्ति के लिये है---नानात्व-संज्ञा का प्रहाण बौद्ध साधना में सम्मिलित---औपनिषद मनोविज्ञान---मानसिक व्यापारों का आत्मा में लय---संज्ञावेदयितनिरोध और औपनिषद समाधि---औपनिषद मोक्ष, साधन-पथ, कर्म और पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्तों की एतद्विषयक बुद्ध के विचारों से तुलना---सम्यक् सम्बुद्ध औपनिषद विचार-परम्परा से विरहित नहीं हुए, बल्कि वही उनके समग्र आचारतत्व और तत्वज्ञान की प्रतिष्ठा है और उसके बिना उसका समझा जाना ही अशक्य है, इस मत का उपपादन---बुद्ध-धर्म बहुजन-वेदान्त है---बहुजन-वेदान्त के रूप में बुद्ध-शासन को देखना ही वास्तव में औपनिषद मन्तव्य के साथ मूल बुद्ध-दर्शन के सम्बन्ध का ठीक अनुमापन करना है।

आ—बौद्ध दर्शन और गीता

गीता-दर्शन का समग्र और अविरोधी स्वरूप---गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है---गीता में ज्ञान और कर्म का समन्वय---मध्यम मार्ग गीता में प्रशंसित---गीता का भक्ति-योग और बौद्ध साधना---गीता और महायान में आदान-प्रदान---वैदिक प्रज्ञान की ओर दोनों की प्रवृत्तियों की तुलना---बुद्ध और कृष्ण---तथागत और कृष्ण दोनों ही सत्य-रूप दिखाये गये---कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष और आचारतत्व सम्बन्धी दोनों के विचारों का सम्बन्ध---कर्म पर तुलनात्मक विचार---कर्म-स्वातंत्र्य और भक्तिवाद---ब्रह्मनिर्वाण और निर्वाण---गीता और बुद्ध-दर्शन का आपेक्षिक मूल्यांकन---मनुष्यता के विचार से बुद्ध-वाणी अधिक प्रभावशाली किन्तु तात्विक दृष्टि से गीता सम्भवतः अधिक परिपूर्ण दर्शन---परम सत्य की अनिर्वचनीयता और बुद्ध-मौन---क्या बौद्ध दर्शन 'गणेश का खण्डित दांत' है! बौद्ध दर्शन का प्रभाव गीता-दर्शन की अपेक्षा अधिक व्यापक और विश्वजनीन है।

इ—बौद्ध दर्शन और चार्वाक-मत

सुत्त-पिटक में महानास्तिक के रूप में चार्वाक मत के सदृश सिद्धान्त का वर्णन और बुद्ध की उसके प्रति प्रतिक्रिया---चार्वाक-सम्मत जड़वाद का संक्षिप्त विवेचन और बुद्ध-मन्तव्य की उसके साथ किसी भी प्रकार समता दिखाने की अनुपयुक्तता---बुद्ध-मत और चार्वाक-मत अत्यन्त विपरीत सिद्धान्त हैं।

ई—बौद्ध और जैन दर्शन

जैन धर्म श्रमण-परम्परा का जन्मदाता है---जैन धर्म की विशालता---

बौद्ध और जैन दोनों श्रमण धर्म हैं---निगण्ठ नाटपुत्त---जैन और बौद्ध दर्शन आचार-तत्व के क्षेत्र में---तत्व-दर्शन के क्षेत्र में---उत्तरकालीन बौद्ध और जैन न्याय-परम्पराएँ---अनेकान्तवाद सन्देहवाद नहीं---क्या जैन धर्म बीच रास्ते का पड़ाव है ? अनात्मवाद और भेद-विज्ञान की साधनात्मक एकता।

उ--बौद्ध दर्शन और न्याय-वैशेषिक

उपोद्घात---न्याय-वैशेषिक दर्शन (अथवा दर्शनों) पर संक्षिप्त विचार और दोनों का बौद्ध दर्शन से ऐतिहासिक और तात्विक सम्बन्ध---प्रमाण मीमांसा---सामान्य और विशेष---इन्द्रियार्थसंनिकर्ष की समस्या---अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में---बौद्ध और न्याय दर्शनों के इतिहास की कुछ समस्याएँ ---माध्यमिकों पर गलत सिद्धान्तों का आरोप---ईश्वर कर्तृत्वाद, कारणवाद, क्षणिकवाद, आत्मवाद और नैरात्म्यवाद पर बौद्ध और नैयायिक दृष्टि से विचार---ईश्वर की सिद्धि और असिद्धि---बौद्ध विज्ञानवाद और वैशेषिक परमाणुवाद---उपसंहार ।

ऊ--बौद्ध दर्शन और सांख्ययोग

उपोद्घात---सांख्य-योग दर्शन पर तात्विक दृष्टि से संक्षिप्त विचार---सांख्य और बौद्ध दर्शन के ऐतिहासिक और तात्विक सम्बन्ध की समस्या---बुद्ध के पूर्व गुरु अराड सांख्याचार्य थे---दुःख-निरोध दोनों दर्शनों का सम्मत उद्देश्य---सांख्य प्रमाणवाद---'प्रतिविषयाध्यवसाय'---सांख्य तत्व---बौद्ध 'अविद्या' सांख्य की मूल प्रकृति नहीं---सांख्य मनोविज्ञान---'इत्येष प्रकृतिकृतः' बुद्ध-मत को मान्य नहीं---ईश्वरवाद की समस्या---बन्धन और मोक्ष---'नास्मि न मे नाहम्' और बौद्ध अनात्मवाद---सांख्य साधना-मार्ग---बौद्ध दर्शन और योग-सूत्र---बौद्ध और योग दोनों 'चतुर्व्यूह' शास्त्र हैं---योग का साधना-मार्ग---'अभिनिवेश' और 'आत्माभिनिवेश'---योग : बौद्ध और पातंजल---दोनों की दार्शनिक परिस्थिति---योगसूत्र में विज्ञानवाद का खण्डन---उपसंहार ।

ए--बौद्ध दर्शन और पूर्वमीमांसा

उपोद्घात---पूर्वमीमांसा में दर्शनत्व और बौद्ध विचार के साथ उसका सम्बन्ध---मीमांसा को ब्रह्मज्ञान का स्वतंत्र महत्व स्वीकार नहीं---प्रामाण्यवाद, ईश्वरवाद और आचार-तत्व को लेकर बौद्ध और पूर्वमीमांसा दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन---'सामान्य' और 'विशेष' पर बौद्ध और मीमांसा-मत---वेदों

का स्वतः प्रामाण्य मीमांसा को मान्य है--कुमारिल द्वारा बौद्धों की निन्दा--विज्ञानवाद का खण्डन--'सेश्वर मीमांसा'--मीमांसा का 'स्वर्ग' उच्च उद्देश्य नहीं--उपसंहार ।

ऐ--बौद्ध दर्शन और वेदान्त

उपोद्घात--वेदान्त-दर्शन के पंचमुखी विकास पर एक विहंगम दृष्टि--ब्रह्मसूत्र--दर्शन और बौद्ध दर्शन से उसकी तुलना--बौद्ध धर्म की अभेद-निष्ठा वेदान्त से अधिक व्यापक--बौद्ध दर्शन और योगवासिष्ठ--योगवासिष्ठ का रचना-काल--'वैराग्य-प्रकरण' का सन्देश--राम का विरागी रूप कहां से आया ?--अविवादी दृष्टि--शून्य, ब्रह्म और विज्ञान मात्रता--जगत् मनोमय है--परमार्थ तत्व की अनिर्वचनीयता--बौद्ध दर्शन और आचार्य गौडपाद--आगम प्रकरण--वैतथ्य-प्रकरण--द्वैत मिथ्यात्व है--अद्वैत-प्रकरण--अद्वय परमार्थ है--'अलातशान्ति प्रकरण'--'अजातिवाद'--'अद्वय' तत्व बुद्धों का विषय रहा है--गौडपाद 'अनानात्व' पद के पुजारी--'अस्पर्श योग' क्या है? 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्'--गौडपाद ने बुद्ध-मौन की व्याख्या की है--वेदान्त-निश्चय ही बुद्ध-मन्तव्य है, यद्यपि बुद्ध ने इसे नहीं कहा--गौडपादाचार्य पर बौद्ध प्रभाव--गौडपाद की भाषा पर बौद्ध ग्रन्थों की छाप--कुछ कारिकाओं की बौद्ध अवतरणों से तुलना--गौडपाद के कार्य का महत्वांकन--बौद्ध दर्शन और शांकर दर्शन--भगवान् शंकर और उनके पूर्ववर्ती बौद्ध आचार्य--शंकर का दर्शन साधन-चतुष्टय की आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित है--अनुभूति और तर्क--भगवान् शंकर के द्वारा ब्रह्मसूत्र-भाष्य में बौद्ध दर्शन का प्रत्याख्यान--सर्वास्तिवादी दर्शन का खण्डन--प्रतीत्य समुत्पाद की अपूर्णता--प्रतीत्य समुत्पाद से 'संघात' की सिद्धि नहीं होती--लेखक के द्वारा कुछ प्रसंगान्तर--स्थिर सत्ता माने बिना बुद्ध-मन्तव्य नहीं समझा जा सकता--क्षणिकवाद का खण्डन--सर्वास्तिवादियों के अन्य सिद्धान्तों का खण्डन--सर्वास्तिवादियों पर 'निर्हेतुक विनाश' का आरोप अनुचित--बौद्धों के 'आकाश' सम्बन्धी विचार का प्रत्याख्यान--आकाश वस्तुसत् है--'अनुस्मृतेश्च'--सर्वास्तिवादि-दर्शन का ठीक ज्ञान शंकर को नहीं था--असत् से सत् की उत्पत्ति ?--बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन--शून्यवाद का खण्डन--शंकर का अनौचित्य--क्या शंकर प्रच्छन्न बुद्ध हैं ?--क्या उनका निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म 'शून्य' का ही दूसरा नाम है ? अथवा क्या स्वयं शांकर वेदान्त औपनिषद आत्मवाद का

आवरण ओढ़े हुए विशुद्ध विज्ञानवाद का ही नव संस्करण है ?---मायावाद---क्या मायावाद महायान से लिया हुआ है ?---जगन्मिथ्यात्व का स्वरूप---अध्यास---व्यवहार और परमार्थ अथवा संवृति और परमार्थ सत्य---असत्य के माध्यम से सत्य की प्राप्ति---कार्य-कारण-भाव का अपलाप---प्रमाण-विचार---शून्य, निर्गुण और अनिर्वचनीय पर उपसंहार रूप से कुछ कथन---शून्य और ब्रह्म एक हैं---बौद्ध और वेदान्त दर्शनों के निष्कर्ष समान हैं---एक बौद्ध 'आलवन्दार'---उपसंहार---'बौद्ध-वेदान्त' एक दर्शन ।

ओ—बौद्ध दर्शन और मध्ययुगीन भक्ति-साधना

उपोद्‌घात---मध्ययुगीन भक्तिधारा की पूर्व भूमि---बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति-साधना का आरोहण हुआ---महायान से भक्ति की निष्पत्ति---मध्ययुग में बौद्ध धर्म का एशिया में समन्वय-कार्य---कबीर और बौद्ध धर्म---सन्त-साधना पर बौद्ध प्रभाव---प्रतिपद् और प्रपत्ति---बुद्ध 'प्रतिपद्' (मार्ग) पर जोर देते हैं जब कि भक्ति 'प्रपत्ति' (शरणागति) से अधिक आश्वासन ग्रहण करती है---शरणागति का बौद्ध रूप---महायान दर्शन और भक्ति-तत्व---संग्राहक दृष्टि से बौद्ध दर्शन और भक्ति-दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध---शून्य-साधना---भक्ति आश्वासनप्रद साधना-पद्धति है ।

औ—बौद्ध दर्शन और तन्त्र सिद्धान्त

तन्त्र-दर्शन के स्वरूप और सिद्धान्तों पर एक विहंगम दृष्टि---बुद्ध-मन्तव्य सरल और केवल मध्यमा प्रतिपदा पर प्रतिष्ठित---उत्तरकालीन बौद्ध धर्म में तान्त्रिकता का समावेश---इसी कारण बौद्ध धर्म और दर्शन के भी परिष्कार की आवश्यकता और आर्य सनातन धर्म रूपी महासमुद्र में नाम और रूप छोड़कर उसका समावेश और लोप । .

अं—बौद्ध दर्शन और आधुनिक भारतीय विचार

उपोद्‌घात---एक लम्बी मूर्च्छा के बाद भारतीय विचार की अभी स्फूर्तिमय जागृति और आत्मस्वरूपानुस्मृति---आधुनिक युग सर्वत्र ही एक अभूतपूर्व परीक्षण-युग---स्वभावतः बौद्ध विचार के प्रति एक नई दिलचस्पी और शाक्यमुनि का आकर्षण---बुद्ध और गांधी---जड़वाद के निश्चित दुष्परिणामों से विह्वल, धार्मिक विश्वास जैसी किसी चीज़ के लिये अयोग्य, शान्ति की

इच्छुक किन्तु अपने व्यष्टि और समष्टि सभी रूपों में तत्रतत्राभिनन्दिनी तृष्णा की बुरी तरह से शिकार मानवता के लिये बुद्ध का सन्देश ।

अः—संश्लेषणात्मक दृष्टिपात और एक सर्वनिष्ठ संग्राहक तत्व की ओर संकेत

अनेक तत्वज्ञान सम्बन्धी और प्रमाण-प्रमेय विषयक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की भूमि में सब दर्शन एक होते हैं—'अत्र ह्येते सर्वं एकं भवन्ति'।

पृष्ठ ७१५-१०८६

छठा प्रकरण

उपसंहार और भारतीय दर्शन-साधना में बौद्ध दर्शन के स्थान और महत्व का अनुमापन

सिंहावलोकन और अन्तिम निष्कर्ष—'विश्वे सतो महान्त इत्'—'एकमेव दर्शनम्' की भावना में किसी भी एक दर्शन-प्रणाली को अल्प या महान् कहना उचित नहीं—अतः 'बुद्ध-शासन मनन करने के लिये अत्यन्त उत्तम है' धर्मसेनापति सारिपुत्र के इन सामान्य और अत्यन्त उदार शब्दों में ही समग्र बौद्ध दर्शन के महत्व का यहां अंकन—पूर्व-प्रस्तावित 'बहुजन वेदान्त' के रूप में मूल बुद्ध-दर्शन और 'बौद्ध वेदान्त' के रूप में उत्तरकालीन विकसित बौद्ध दर्शन को देखना ही भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन के स्थान और महत्त्व का सम्भवतः सर्वोत्तम अनुमापन है—तथागत की 'पच्छिमा वाचा' ही समग्र भारतीय दर्शन-साधना की 'पच्छिमा वाचा' है—'वयधम्मा संस्कारा अप्पमादेन सम्पादेथाति'—लेखक की देसना या क्षमा-याचना।

पृष्ठ १०८७-११०४

पाँचवाँ प्रकरण

बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन

विषय-प्रवेश

वैसे तो मूल बुद्ध-दर्शन का यदि प्राचीन उपनिषदों के उपदेश के साथ और विकसित बौद्ध दर्शन का वेदान्त दर्शन की परम्परा के साथ ठीक सम्बन्ध आंक लिया जाय, तो यही सम्भवतः समग्र भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन के स्थान का भी सम्यक् अनुमापन हो सकता है। जबकि उपनिषदें भारतीय अध्यात्म-साधना के सर्वोच्च तत्व को अपने नैसर्गिक और सरलतम रूप में प्रकट करती हैं, उत्तर-कालीन वेदान्त का विकास उनके मन्तव्यों को पंडितवाद की दिशा में आगे बढ़ाता है। यही हालत ठीक बौद्ध दर्शन की भी है। उरुवेला की भूमि में सम्यक् सम्बोधि को साक्षात्कार करने वाले शाक्यमुनि के द्वारा जिस विशुद्धि-मार्ग का बहु-जन के हित और सुख लिए के उपदेश दिया गया, वह अपने विशुद्धतम रूप में उपनिषदों के ज्ञान के समान ही आन्तरिक अनुभूति अथवा अन्तर्ज्ञान पर अवलम्बित था। किंतु उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों के द्वारा प्रायः बुद्ध के मन्तव्यों को बौद्धिक रूप से प्रख्यापित करने के प्रयत्न में जिस वाद-परम्परा का प्रवर्तन किया गया, वह वास्तव में प्रतिलोम रूप से प्रायः उसी मार्ग से गई जिस पर उत्तरकालीन वेदान्त की परम्परा। बाद के वेदान्ताचार्यों के प्रज्ञानों में जिस प्रकार इस तथ्य की सम्यक् अनुभूति नहीं दिखाई पड़ती कि औपनिषद मनीषियों के चिन्तन किसी तार्किक परम्परा के परिणाम स्वरूप प्राप्त नहीं थे बल्कि गहरी आत्मानुभूति पर प्रतिष्ठित थे। उसी प्रकार उत्तरकालीन बौद्ध आचार्य भी अपने प्रतिवादियों को परास्त करने की मुख्य चेष्टा में सम्भवतः यह याद न रख सके कि बुद्ध के समय में भी अनेक महान् वादी और तार्किक थे जो स्वयं बुद्ध को भी तर्क में परास्त करने का दावा रखते थे [१], अनेक अग्नि परिचरण करनेवाले ब्राह्मण याज्ञिक थे [२] जो बुद्ध को तुच्छ व्यक्ति

---

(१) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'प्राग्बौद्धकालीन दर्शन की अवस्था और सम्यक् सम्बुद्ध का आविर्भाव' पर विचार।

(२) देखिए उपर्युक्त के समान ही।

मात्र समझते थे किन्तु वादियों का जो वाद छूटा, याज्ञिकों ने जो अपने चम्मच, और घृतपात्र नदियों में फेंक दिये[1], वह सब तथागत की तर्क-परम्परा से परास्त होने के कारण नहीं, बल्कि उनके सन्देश की सच्चाई से पराभूत होकर ही। उसमें तर्क प्रधान कारण न था? इसकी सम्यक् अनुभूति उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक न कर सके। तथागत के सिद्धान्तों के अधिक बुद्धि-सम्मत होते हुए भी उनके पास सत्य का एक गहरा सन्देश था, एक अनुपम ज्ञान-सम्पदा थी, एक अपरोक्ष अनुभूति थी, एक महान् साधना-सम्पद् थी, ब्रह्मविदों की सी उनके मुख पर एक आभा थी, जिस के कारण सभी उनसे अभिभूत हो जाते थे। तथागत का यह केवल अद्वितीय व्यक्तित्व ही था जिसके कारण न केवल समग्र विचारशील भारत ही, बल्कि विश्व का एक विशाल खण्ड ही, उनके प्रति नमित हुआ और देव और मनुष्यों के अनुपम शास्ता के रूप में उनके प्रति श्रद्धा अर्पित करने को विवश हुआ। ब्राह्मण समाज अथवा ठीक कहें तो यज्ञमय धर्म में विश्वास करनेवाला भारतीय समाज तो उनके उपदेश को ठीक तरह से पचा न कर सकने पर भी एक उत्तर-कालीन युग में उनके विशाल व्यक्तित्व और चारित्र्यगुण एवं अपूर्व तपस्या के कारण ही उसे विष्णु का साक्षात् अवतार मानने को भी बाध्य हुआ, स्वयं उनके समय में ही ब्राह्मण उनसे ब्रह्मा (ब्रह्म) की सलोकता का मार्ग पूछने जाने लगे और उरुवेल काश्यप, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन जैसे ब्राह्मण-महाशाल तो स्वयं उनके प्रसिद्ध शिष्य ही हो गए। कहने का तात्पर्य यह कि बुद्ध का विचार जो अपने समय में वातावरण को इतना उद्वेलित कर सका उसका कारण इतना उनके द्वारा किसी नवीन व्यवस्थित दर्शन-प्रणाली का उद्भावन करना नहीं था जितना कि दिगन्तव्यापी ज्ञान-रश्मियों को सदा प्रसारित करनेवाला उनका अभूतपूर्व व्यक्तित्व जिसके विषय में ही धर्म-सेनापति सारिपुत्र ने अपने परिनिर्वाण के समय अपनी माता से कहा था 'महा उपासिके! मेरे शास्ता के समान शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, ज्ञान, दर्शन में कोई नहीं है[2]।' जो कोई उनके मार्ग पर चलता था वह यहीं अपने दुःख के अशेष नाश को देखता था,[3] शान्त और दान्त हो जाता

(१) देखिए इसी प्रकरण में आगे 'बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान' पर विचार।
(२) देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१५
(३) यो इमस्मिं धम्मविनये अप्पमत्तो विहेस्सति ।

था [1]। इसी में तथागत की सफलता का रहस्य था। अतः जिस प्रकार उपनिषदों का ज्ञान किसी तर्क-परम्परा के विकास का परिणाम नहीं किन्तु ऋषियों की विशुद्ध नैसर्गिक अनुभूति का स्फुट प्रकाशन है, उसी प्रकार उन महाश्रमण का वाद भी है और जिस प्रकार औपनिषद ज्ञान के समन्वय-विधान का प्रयत्न एक उच्चतम प्रमाण-विज्ञान का आश्रय लेकर उत्तरकालीन आचार्यों, भाष्यकारों और वृत्तिकारों के द्वारा किया गया, वही ठीक हालत बुद्ध-मन्तव्य के विषय में भी कही जा सकती है। अतः इन दोनों धाराओं का उनके उद्गम से लेकर (जो यदि बिलकुल समान नहीं तो समीपतम तो है ही) उनके विकास की परम्परा पर्यन्त देखना ही उनके पूरे तुलनात्मक स्वरूप को भी देखना होगा। विशुद्धतम रूप से श्रौत तो वेदान्त ही है किन्तु अन्य न्याय–वैशेषिकादि दर्शन भी श्रौत परम्परा में ही आते हैं। चूंकि इनके विकास का सामान्यतः पर्यवसान वेदान्त में ही होता है, अतः साधारण दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जब हम केवल वेदान्त दर्शन को उसके समग्र रूप में बौद्धदर्शन के साथ देख लेते हैं तो कदाचित् यही तथोक्त समग्र 'आस्तिक' दर्शनों को बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में देखना होता है। किन्तु अत्यधिक सूक्ष्मता और अस्पष्टता एवं विषयों के अधिक सम्मिश्रण के मार्ग को हटा कर एवं विषय को अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण के प्रकाश में दिखाने के लिए हम सभी भारतीय दर्शनों का सम्बन्ध अलग-अलग बौद्ध दर्शन के साथ देखने का प्रयत्न करेंगे और इस प्रकार न केवल सभी श्रौत दर्शन-सम्प्रदायों का ही बल्कि जैनादि दर्शनों का भी सम्बन्ध हम बौद्ध दर्शन से अलग-अलग दिखाएँगे। इस प्रकार के निरूपण में हम पहले तो ऐतिहासिक ढंग का ही अवलम्बन लेंगे अर्थात् वैदिक युग से लेकर आज तक की सभी दर्शन प्रणालियों का क्रमशः सम्बन्ध बौद्ध दर्शन से दिखाने का प्रयत्न करेंगे, किन्तु प्रत्येक दर्शन के ऐतिहासिक विकास को हम यहाँ अपने अध्ययन

पहाय जातिं संसारं दुक्खस्सन्तं करिस्सति।
महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३)

(१) "कोई दण्ड से दमन करते हैं, कोई शस्त्र और कोड़े से भी, तथागत के द्वारा बिना दण्ड, बिना शस्त्र के ही मैं दमन किया गया हूँ। बड़ी बाढ़ में डूबते हुए, बुद्ध की शरण आया, देखो शरणागति के प्रभाव को। भव जाल सिमट गया।" अंगुलिमाल की उक्ति, देखिए अंगुलिमालसुत्त (मज्झिम० २।४।६)

का विषय न बनाएँगे, क्योंकि इस पर कुछ विचार हम द्वितीय प्रकरण में ही कर चुके हैं। हाँ, सांख्यादि दर्शनों के विषय में ऐतिहासिक तत्व को लेकर यद्यपि यहां भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ा है। वैसे इस प्रकरण में विशुद्ध सैद्धान्तिक पक्ष की ही प्रधानता रक्खी गई है। चूंकि इस सैद्धान्तिक पक्ष के भी अपेक्षित मूल्य अंकन में कभी-कभी जो बड़ा भ्रम हो जाता है, जिससे कभी बड़े-बड़े विद्वान् भी मुक्त नहीं हो पाते, वह यह है कि जो एक सिद्धान्त प्रकारान्तर से दो दर्शन-सम्प्रदायों में उपलब्ध होता है उसके आधार पर झट अपनी श्रद्धानुसार एक को दूसरे का ऋणी बना दिया जाता है। योगभाष्य के औषध शास्त्र के 'चतुर्व्यूह'[1] और बुद्ध के चतुरार्य सत्यों को लेकर बड़ी आसानी से एक या दूसरी बात कही जा सकती है, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन के विद्यार्थी का मार्ग बड़ा कठिन है। निश्चय ही वह खड्ग की धारा पर चलता है जिस पर गिरने में देर नहीं लगती। जहाँ ऐतिहासिक ज्ञान का विशेष प्रकाश नहीं है वहाँ तो यह पतन कितना नीचे जा सका है, इसका कोई अनुमान ही नहीं। भगवान् कुमारिल बौद्धों पर यह आरोप लगाते हैं, कि वे वैदिक वस्तुओं को लेकर उन्हें अपनी कहकर व्यर्थ प्रलाप करते हैं[2] किन्तु उन मनीषी आचार्य को स्वयं यह विदित नहीं था कि वे स्वयं अपने याज्ञिक परिष्कारों के लिए या अन्य अनेक विचारों के लिए अज्ञात रूप से बौद्धों के कितने ऋणी थे। इन सब तथ्यों से ऐतिहासिक गवेषक को तो अपने प्रकाश के अनुसार सत्य ही निकालना ठहरा। फिर समालोचनात्मक अध्ययन की एक फिसलने वाली चट्टान यह भी है कि हमारी अनेक पालित मान्यताएँ होती हैं जिन्हें तथ्यों के प्रकाश में हमें छोड़ना पड़ता है, परन्तु हम छोड़ने को उद्यत नहीं होते। समान को समान और असमान को असमान ठीक रूप से दिखा देना निष्पक्ष अध्ययन की अन्तिम कसौटी है। साधारण मस्तिष्क अपने मानसिक राग-द्वेष के ही प्रकाश में तथ्यों की व्याख्या करने में प्रवृत्त होता है। जो कुछ भी सत्य हो उसे स्वीकार करने में मुझे विप्रतिपत्ति नहीं होगी, इतना बौद्धिक वैराग्य उसके लिए सदा सम्भव नहीं होता। 'यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्[3]' ऐसा धर्मकीर्ति के समान

---

(१) देखिए आगे 'योग-दर्शन' का विवेचन।

(२) देखिए तन्त्रवार्तिक में से इसी विषय का एक अत्यन्त उपयुक्त उद्धरण, मैक्समुलर : हिस्ट्री ऑफ ऐन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४३-४४

(३) प्रमाण वार्तिक २।२०९

कहनेवाले विचारक अधिक नहीं हुए हैं ? श्रुति की अपने मत से विरुद्ध व्याख्या करनेवालों के लिए भी 'तथापि वेदार्थश्चेत् स्यात् कामं भवतु न मे द्वेषः'[१] ऐसा कहने के लिए सिवाय शंकर और किस की वाणी प्रवृत्त हो सकी है ? स्वतन्त्र और निष्पक्ष विचार अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। यहाँ प्रयत्न मात्र ही किया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन अथवा मूल बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन-वेदान्त' नाम देने का विनम्र प्रस्ताव उपस्थित किया है। यह न तो वेदान्त के प्रति लेखक के चिपटने या उसे आत्यन्तिक महत्त्व देने के परिणाम-स्वरूप है यद्यपि प्रत्येक भारतीय दर्शन का निष्पक्ष विद्यार्थी ऐसा करने का लोभ करेगा। और न बौद्ध दर्शन की औपनिषद दर्शन के प्रति सर्वांश में एकात्मता प्रतिपादित करने के प्रयत्न स्वरूप ही है। जब मैं मूल बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन वेदान्त' या 'जन-वेदान्त' कहता हूँ तो वेदान्त शब्द से मेरा तात्पर्य होता है या तो केवल प्राचीनतम उपनिषदों से ही या ज्ञान के चरम अवसान से ही। उपनिषदों के ऋषियों ने जिस ज्ञान का प्रवर्तन किया वह एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक और तात्विक उपदेश था, अथवा उपनिषदों की भाषा में ही कहें तो 'गुह्य आदेश था।'[२] निश्चय ही यह गुह्य आदेश सब के लिए नहीं हो सकता था जब कि प्रतर्दन, जानश्रुति, आरुण, उपकोशल और बृहद्रथ जैसे साधक भी बिना कठिन साधना का मूल्य चुकाये उसके मन्दिर में प्रवेश नहीं पा सके थे। उपनिषदों के आध्यात्मिक यज्ञ सम्बन्धी विचार, उनके परा विद्या सम्बन्धी उद्‌गार, उनके द्वारा ज्ञानवाद का प्रचार, उनके 'अणोरणीयान महतो महीयान्' सम्बन्धी उपदेश, निश्चय ही साधारण जनता के लिए नहीं हो सकते थे। भगवान् तथागत ने अपने अनुभव के आधार पर जिस धर्म का, जिस शील, समाधि और प्रज्ञा का एवं सबसे अधिक व्यापक मैत्री भाव का, साधारण जनता में प्रचार किया, वह सब अपने व्यवहार-पक्ष में तो उपनिषदों के समान था ही अपनी तात्विक प्रतिष्ठा के लिए भी उन्हीं पर आश्रित है, ऐसा हम आज कह सकते हैं। साधारण जनों के लिए, 'बहुजनों' के लिए, वेद का, ज्ञान का, पर्यवसान क्या हो सकता है, इसी का निरूपण बुद्ध ने किया है और इसीलिए सम्भवतः वे उसकी तात्विक व्याख्या में नहीं गए

---

(१) बृहदारण्यक भाष्य ४।३।६

(२) मिलाइये 'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्' ! अमरकोश; वेदार्थ की गोपनीयता के लिये देखिये ऋ० १।७२।१

है। किन्तु साधारण जन के ज्ञान से तात्पर्य यहाँ निम्न कोटि के ज्ञान से नहीं है, केवल उच्चतम विशुद्ध वास्तविक ज्ञान के ही साधारण जनों में प्रसारित स्वरूप से है। यह बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन-वेदान्त' कहे जाने का संक्षिप्त स्पष्टीकरण है। आत्मवाद और अनात्मवाद की कठिनाई का वैसे चतुर्थ प्रकरण में ही समाधान किया जा चुका है और आगे इस प्रकरण में भी उसपर विचार किया जायगा। कुमारिल जैसे कट्टर मीमांसक ने भी बौद्ध दर्शन का 'उपनिषत्प्रभवत्व' स्वीकार किया है[1] और इस रूप में उसे प्रमाण भी माना है। वास्तव में वैदिक दर्शन के सामान्य स्रोत से ही समस्त श्रौत परम्परा के दर्शनों का और उसी प्रकार बौद्ध दर्शन का भी उद्गम माने विना हम भारतीय दर्शन-परम्परा के ऐतिहासिक स्वरूप को कुछ समझ ही नहीं सकते। जब 'उपनिषत्प्रभवत्व' बौद्ध दर्शन का कुमारिल जैसे आचार्य के साक्ष्य पर सिद्ध है तो फिर हम यह कैसे स्वीकार न करें कि जिस प्रकार अन्य न्याय, सांख्य, मीमांसा आदि अनेक दर्शन अपने अपने विचारों को अपने अपने मतों की पुष्टि करने के लिए प्रसारित करते हैं, उसी प्रकार बौद्ध दर्शन भी करता है, फिर चाहे वह वेद के प्रामाण्य को स्वीकार भले ही न करता हो! फिर वेद के प्र माण को स्वीकार करके भी सांख्य मीमांसादि दर्शन कहीं-कहीं उसके मन्तव्य के कितने दूर और वेद के प्रामाण्य का तीव्रतम प्रत्याख्यान करके भी बौद्ध आचार्य कहीं-कहीं वेद के मन्तव्य के कितने समीप पहुँच गए हैं, यह भी तो भारतीय दर्शन में एक अत्यन्त समाश्वसनीय और विचारणीय प्रश्न है। सभी 'आस्तिक' दर्शनों का पर्यवसान 'वेदान्त' में है और सर्वांश में वही 'श्रौत' दर्शन भी है। श्रुति का तात्पर्य (यदि उसे प्रमाण रूप से ग्राह्य समझा जाय तो) एक ही हो सकता है, किन्तु उत्तरकालीन वेदान्त के आचार्यो ने पांच प्रकार से उसकी व्याख्या की है और सब ने श्रुति का ही आश्रय और प्रमाण लेकर। उनके पारस्परिक विवादों का इतिहास ही बताता है कि वे उपनिषदों के अथवा यों कहिए कि वेद या ज्ञान के अन्तिम तात्पर्य के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं रखते हैं। जिस प्रकार शिव, विष्णु, राधा और कृष्ण की उपासना करने वाले भी अपने मत के अन्त में 'वेदान्त' की संज्ञा लगा लेते थे (यथा माध्व-वेदान्त, रामानुज-वेदान्त, वैष्णव वेदान्त आदि) उसी प्रकार उन सबको माया विशिष्ट चैतन्य की कोटि में डालनेवाले अदम्य परिव्राजकाचार्य शंकर भी अपने अध्यास-

(१) देखिए आगे पूर्वमीमांसा दर्शन का विवेचन।

वाद को 'यथा चायमर्थः सर्व वेदान्तानाम्' ऐसा कहकर 'वेदान्त' के रूप में उसकी स्थापना भी कर सकते थे जो उनसे विरुद्ध 'वेदान्त' वादियों की दृष्टि में 'असच्छास्त्र' ही हो सकता था। फिर नैयायिक, सांख्य और मीमांसकों के प्रति विरोध तो सभी उत्तरकालीन वेदान्तवादियों का प्रायः समान ही है, अपने अपने दृष्टिकोणों को लेकर और सभी ने ब्रह्मसूत्रों के आधार पर उनका खण्डन भी किया है। हमारा तात्पय यहाँ केवल यह दिखाने का है कि जिस प्रकार न्याय दर्शनादि की बहुत सी मान्यताओं का खण्डन करके भी एवं आपस में अनेक विभिन्नताएँ रखते हुए भी, औपनिषद मन्तव्य के विषय में सभी उलझते हुए भी, अपनी प्रमाण-परम्पराओं में भी समान रूप ग्रहण न करते हुए भी (केवल श्रुति-प्रामाण्य को छोड़कर और वह भी प्रकान्तर से अपने अपने ढंगों के अनुसार) सभी शंकर, रामानुज, वल्लभ आदि के सम्प्रदाय 'वेदान्त' की संज्ञा ग्रहण करते हैं, तो अन्तिम ज्ञान की ही खोज में लगे हुए धर्मकीर्ति, नागार्जुन, असंग, वसुवन्धु आदि आचार्यों के मतों को उनके विरोधियों के मतों के समान ही 'वेदान्त' की संज्ञा क्यों न दी जाय? वे तो स्वयं 'अद्वयवादी' होने का दावा तक करते हैं। शंकर के पूज्याभिपूज्य गुरु तक तो उनकी परम्परा में हैं। फिर जिस प्रकार शंकरादि मनीषी औपनिषद मार्ग के साक्ष्य का दावा लेकर ज्ञान की अन्तिम गवेषणा में प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार बौद्ध आचार्य बुद्ध के द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण करके ही ज्ञान के अन्त की थाह पाने का प्रयत्न करते हैं, अतः उन्हें केवल भारतीय दर्शन की सर्वोत्तम विचार-परम्परा अर्थात् 'वेदान्त' दर्शन के साथ उनका सम्बन्ध दिखाने के लिए और कुछ कुछ उनके महनीय विचारों के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन करने के लिए ही, अन्य किसी प्रयोजन से नहीं, यदि हम 'बौद्ध वेदान्त' (अर्थात् बौद्ध दृष्टि से ज्ञान का चरम निष्कर्ष) के प्रख्यापन करने वाले कहें तो कदाचित् यह उन्हें भी नहीं अखरेगा और साथ ही शंकरादि मनीषियों की महिमा भी कुछ नहीं घटेगी। निश्चय ही बौद्ध आचार्यों की परम्परा ज्ञान की गवेषणा में साहसपूर्वक उसके पर्यवसान पर्यन्त तक गई है, और निर्भय पूर्वक अभियान करते हुए उसका तथाकथित 'अभावावसान' प्रतिषेध भी क्या वास्तव में 'अभावावसान' ही हुआ है अथवा 'ब्रह्मावसान' प्रतिषेध करनेवाले मनीषी वेदान्ताचार्य भी उसी के पास पहुँचे हैं और इस प्रकार विपरीत मार्गो पर चलते हुए भी दोनों ने प्रकारान्तर से 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' अथवा 'स एष नेति नेत्यात्मा' की औपनिषद भूमि पर ही पैर जमाया है, यह हम आगे देखेंगे। परमार्थ के स्वरूप पर विचार करते हुए भी दोनों किस

प्रकार समान मार्ग के गामी बने हैं, इसका भी विवेचन हम करेंगे। जिसे अद्वैत वेदान्त का निर्गुण-निराकार कहा गया है वही भूमि बौद्धों के विज्ञप्ति मात्रता की है। दृष्टि-भेद को छोड़ दें तो दोनों एक समान हैं, 'वेदान्त' हैं। उपर्युक्त कारणों से ही हम मूल बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन-वेदान्त' और उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन को 'बौद्ध वेदान्त' के नामों से अभिहित करने में प्रवृत्त हुए हैं। किन्तु अभी तो प्रारम्भ से ही इन तथ्यों के उपराग में हमें भारतीय दर्शन-परम्पराओं का अध्ययन करना नहीं होगा। अभी हम स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से प्रत्येक भारतीय दर्शन का बौद्ध दर्शन से मिलान करेंगे और तभी हम कुछ कह सकेंगे। वास्तव में तो 'यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्' ऐसी बुद्धि हमें सदा रखनी है, क्योंकि वेद और ज्ञान अनन्त हैं।

इस दृष्टि से विचार करने पर न तो यहाँ बौद्ध दर्शन को ही श्रौत दर्शनों के दृष्टिकोण से अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है और न बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त दर्शनों को ही बौद्ध दर्शन की भावना में व्याख्यात करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार न तो एक तरफ बौद्ध दर्शन में कुछ भी नवीन न दिखाने का प्रयत्न कर बुद्ध और बौद्ध दर्शन की भारतीय दर्शन के प्रति अत्यन्त मौलिक देनों पर पानी फेर दिया गया है, और न दूसरी तरफ बुद्ध और बौद्ध दर्शन के ही गीत गाकर भारतीय दर्शन में अन्य सब को उसके शेषत्व के रूप में वर्णित किया गया है। जो जैसा है उसको उसी रूप में दिखाकर लेखक ने केवल दर्शन की समग्रता की ओर इंगित मात्र किया है। कहीं-कहीं लेखक ने एक उचित सीमा में विनम्रतापूर्वक अपने मत का निदर्शन भी आवश्यक समझा है जो गलत भी हो सकता है और सही भी, किन्तु जिसके ऐसा होने पर उसके अध्ययन की महत्ता घटती नहीं। प्रत्येक दर्शन और उसके आचार्यों की परम्परा को अन्य दर्शन और उनके आचार्यों की परम्परा के साथ ही रखकर अध्ययन किया गया है जो ऐतिहासिक और तात्विक दोनों ही दृष्टियों से समीचीन है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन की अन्य दर्शनों के साथ तुलना करने पर, जैसे कि उदाहरणतः बौद्ध दर्शन की न्याय दर्शन से तुलना करने पर, बुद्ध और उनके मन्तव्य को अक्षपाद और उनके मन्तव्य के साथ ही तुलना का विषय बनाया गया है और इसी प्रकार दोनों दर्शनों के उत्तरकालीन आचार्यों का पारस्परिक अध्ययन किया गया है। इसी प्रकार शाक्यमुनि के व्यक्तित्व और विचार की तुलना औपनिषद मनीषियों से ही की गई है जिनके प्रज्ञान सभी 'नास्तिक' और 'आस्तिक' प्रज्ञप्तियों से निरपेक्ष हैं और उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों को ही उत्तरकालीन वेदान्त के

आचार्यों के सम्पर्क में लाया गया है। फिर एक बड़ी कठिनता जो अनुभूत की गई है वह यह है कि भारतीय दर्शनों में से प्रायः सभी का एक विशेष ऐतिहासिक विकास है और जैसे श्रौत परम्परा में सांख्य-मीमांसादि दर्शनोंकी उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में शून्यवाद आदि चिन्तन प्रणालियों की उनके बहुकालव्यापी ऐतिहासिक विकास में एक विविध स्वरूपता दृष्टिगोचर होती है जो सभी सामान्य व्यवस्थित अध्ययन की असफलता पर स्मित सा करती है। सांख्य के निरीश्वरवाद और माध्यमिकों के शून्यता-दर्शन की अभावात्मक व्याख्या पर कोई सामान्य निर्णय नहीं दिया जा सकता, कारण कि ग्रन्थ-ग्रन्थ में उनके स्वरूप में परिवर्तन है जो किसी एक सामान्य नियम में बांधा नहीं जा सकता। इस ऐतिहासिक विकास के तथ्य को ऐसे स्थानों में दिखा देना ही अधिक श्रेयस्कर समझा गया है, बजाय उनके किसी एक ही स्वरूप को लेकर निश्चयात्मक निर्णय करने के। जहाँ बौद्ध दर्शन का किसी अन्य दर्शन के साथ कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध नहीं है, वहाँ केवल सैद्धान्तिक पक्ष का ही निरूपण कर संक्षिप्त समीक्षा उपस्थित की गई है। मध्ययुगीन भक्ति-परम्परा के विषय में ऐसा ही किया गया है, क्योंकि जब इन भक्त कवियों ने भगवान् के गुण गा-गाकर साधारण लोक में तत्संबन्धी जीवन दर्शन की स्थापना की तो वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध विचारकों के संघर्ष या सम्पर्क में नहीं आए किन्तु फिर भी उनके (विशेषतः सन्तों के) विचार का बौद्ध विचार से तुलनात्मक अध्ययन तो अवश्य सम्भव हो सकता है, अतः विशुद्ध सैद्धान्तिक पक्ष के रूप में ही इस विषय पर विचार किया गया है, यद्यपि महायान धर्म के अन्तिम विकास रूप सहजयान की साधना सन्त मत पर क्या प्रभाव छोड़ गई, इसका कुछ ऐतिहासिक निर्देश करना भी आवश्यक समझा गया है। कहां तक सभी बातों का स्पष्टीकरण किया जाय, तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन में गिरने के अनेक स्थल हैं। न जाने कितनी वार इनमें गिरना होगा, ठीक नहीं कहा जा सकता। पूर्व ऋषियों और मार्ग-निर्माताओं को प्रणाम करने के अतिरिक्त और चारा ही क्या है? तो फिर सभी दर्शनों के उद्भावकों, शास्ताओं और उनके मार्ग को प्रशस्त करने वाले मनीषियों के प्रति यह विनम्र प्रणामांजलि है! वे सभी इस श्रद्धालु सत्य गवेषक के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट करें। हे शंकर! हे औपनिषद मनीषियो! हे निर्ग्रन्थो! हे भक्ति रसामृतसिन्धु में निरन्तर अवगाहन करनेवाले शतसहस्र भक्त--कवि-दार्शनिको! सभी कृपा करो विद्याभीप्सी इस जन पर कि यह आपके मन्तव्यों को जानकर तदनुसार आचरण कर सके। हे सम्यक् सम्बुद्ध! हे अनुपम शास्ता! हे पुरुष-दम्य-सारथी! हे धर्ममेघ!

हे समन्त चक्षु ! आपसे तो कुछ कहना ही क्या, क्योंकि आप सभी उपाधियों से विमुक्त हैं। किन्तु फिर भी अपनी भावना की विशुद्धि के लिए कहता हूँ—हे निर्वाण-प्राप्त मुनि ! जिस तथागत-प्रवेदित-धर्म को आप आर्य-धर्म और आर्य-विनय कहकर पुकारा करते थे, उसी के विस्तृत स्वरूप के साथ हे देवातिदेव ! मैं आपके मन्तव्य को मिलाकर देखना चाहता हूँ। मुझे प्रकाश मिले।

अ—बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान

वैदिक ज्ञान का उदय और उसकी महत्ता

मानव-सभ्यता के उषःकाल में, प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युगों की धुंधली सन्धिवेला में, वैदिक ज्ञान का प्रकाश सत्य द्रष्टा ऋषियों के प्रकृति-विशुद्ध मानस में पड़ा[1]। मिस्र, यूनान, असीरिया और बेबीलान की प्राचीनतम सभ्यताओं के आविर्भाव से शताब्दियों पूर्व, सप्त सिन्धव के प्रदेश में, सिन्धु और गंगा के पुनीत अञ्चल में, ब्रह्मावर्त की देवनिर्मिता पुण्यस्थली में[2], जिस आर्य संस्कृति का जन्म और पोषण हुआ, उसी की अक्षय देन विश्व-मानव को वेद विद्या के रूप में मिली। वेद भारत के प्राचीनतम ज्ञान के भाण्डार, उसके सांस्कृतिक, दार्शनिक और सामाजिक आदर्शों के मूर्तिमान् प्रतीक और उसके समग्र राष्ट्रीय जीवन के शेवधि स्वरूप हैं। उसके गौरवशाली अतीत के वे सर्व प्रथम साक्षी, उसकी समस्त सद्विद्याओं के बीज रूप और प्रतिष्ठास्थान और उसकी समस्त धार्मिक और दार्शनिक विकास-परम्परा के वे सदा अत्यन्त श्रद्धा और साथ ही समस्या के भी विषय रहे हैं। हिन्दु-हृदय के लिए वे परम पुरुष स्वयम्भू से उद्भूत[3] और उन्हीं के साक्षात् निःश्वास स्वरूप हैं[4]।

---

(१) तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते। निरुक्त (तपस्यमान ऋषियों के हृदयों में स्वयम्भू वेद प्रकट हुए, यही ऋषियों का ऋषित्व है) मिलाइये, तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे। मनु ११।२४३; ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा मात्र हैं, रचयिता नह, देखिये, कौषीतकि बाह्मण १०।३०; ऐतरेय ब्राह्मण ३।७

(२) सरस्वती दृशद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ मनु० २।१७

(३) तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।। ऋग्वेद—पुरुष सूक्त (१०।१९०।९)।

(४) अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो, बृहदारण्यक० २।४।१०

पितृ, देव और मनुष्यों के वे सनातन चक्षु हैं। अपौरुषेय और अप्रमेय हैं[१]। चार वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम, भूत, वर्तमान और भविष्यत्, इन सब की सिद्धि वेद से ही है[२]। धर्म की जिन्हें जिज्ञासा करनी है, उनके लिए वेद ही अन्तिम प्रमाण है[३]। सभी स्मृतियाँ अपने प्रामाण्य के लिए वेद की ही ऋणी हैं और पुराणों की भी प्रामाणिकता का यही मापदण्ड है कि वे वेद के ही अर्थो का भली भाँति समुपबृंहण करें[४], उसके ही निगूढ़ मन्तव्यों को लौकिक भाषा में समझावें। वेद की महिमा के विषय में अधिक क्या कहा जाय, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण स्वयं ब्रह्म की स्थिति भी तो बौद्धिक रूप में वेद रूप 'शास्त्र-योनित्व' पर ही अन्त में अवलम्बित है[५]। भारतीय जीवन के विभिन्न संस्कारों में वेद की जो महिमा प्रतिष्ठित है, उसके विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। हमें यही जानना है कि दार्शनिक क्षेत्र में वेदों का महत्व कम नहीं है। भारतीय दर्शन की वे प्रथम और अतुल सम्पत्ति हैं। उपनिषदें वेद के बहिर्भूत नहीं हैं. बल्कि श्रुति (उपनिषद्) और वेद पर्यायवाची शब्द हैं[६], और वैदिक ज्ञान का परम विकास उपनिषदों के रूप में ही हुआ है। यद्यपि आत्मविद्या के सामने उपनिषदें मन्त्रों और ब्राह्मणों के संग्रह रूप वेद को और उससे उपलब्ध ज्ञान को अधिक महत्व नहीं देतीं और यज्ञ-मय धर्म की अपेक्षा आन्तरिक यज्ञ या यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या ही उन्हें अधिक प्रिय है, किन्तु फिर भी विद्रोह की हल्की भावना के साथ-साथ उनके प्रति उनकी श्रद्धा और समन्वयात्मक बुद्धि

---

(१) पितृदेव मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्। अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः। मनु० १२।९४

(२) चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। मनु० १२।९७

(३) धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। मनु० २।१३; वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। वहीं २।६

(४) मिलाइये, इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। महाभारत; मिलाइये, वेदाः प्रतिष्ठिता देवि पुराणे नात्र संशयः। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ नारद-पुराण।

(५) शास्त्रयोनित्वात्। ब्रह्मसूत्र १।१।३; मिलाइए अतएव च नित्यत्वम्। वहीं १।३।२९

(६) श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो। मनु २।१०

भी सर्व विदित है[१]। फिर षड्दर्शन की परम्परा में तो सभी दर्शन-सम्प्रदाय श्रुति-प्रामाण्य को स्वीकार करते ही हैं और अपने-अपने ढंगों से सभी वेदों के पुजारी हैं, अथवा ठीक तो यों कहना चाहिए कि उनकी वेदाविषयक भक्ति ही, फिर कहीं कहीं चाहे वह केवल शब्दों में ही क्यों न हो, उन्हें 'आस्तिक' दर्शनों में परि-गणित कराने के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार न्याय दर्शन 'शब्द' को प्रमाण मानता हुआ वेदों को ईश्वरोक्त मानता है एवं उनके प्रामाण्य को स्वीकार करता है। वैशेषिक दर्शन भी पीछे न रहकर वेद को ईश्वर (तत्) का मानकर ही उसके प्रामाण्य को स्वीकार करता है[२]। सांख्य को निरीश्वरवादी सिद्ध करने के लिए हम 'ईश्वरासिद्धेः' आदि जो कोई प्रमाण ढूंढ़ निकालें और चाहे भले ही यह जान लें कि दुःख-त्रय की आत्यन्तिकी निवृत्ति के लिए सांख्य की 'दृष्ट' के समान ही 'आनुश्रविक' विधान में भी कोई आस्था नहीं क्योंकि वह उसके लिए 'अविशुद्धि', 'क्षय' और 'अतिशय' से युक्त है, किन्तु यह सब होते हुए भी हम इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकते कि सांख्याचार्य वेदों के नित्यत्व और स्वतः प्रमाण को मानते हैं और जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमानकी उनके अनुसार गति नहीं चलती वहां आप्तश्रुति रूप आप्तवचन ही उन्हें प्रमाणके रूपमें मान्य है। प्रत्यक्ष और अनुमान के सहित ही आगम को भी प्रमाण मानना योगदर्शन की एक सामान्य बात है[३]। पूर्वमीमांसा का तो आधार ही बिलकुल वेद है और उसे नित्य और प्रमाण रूप मानने में मीमांसकों को सामान्य रूप से कोई आपत्ति नहीं[४]। फिर गीताकार ने भी तो वेद-वाद में आसक्त जनों की 'पुष्पिता वाणी' की कुछ निन्दा भी कर, वैदिक प्रज्ञान को कुछ त्रैगुण्य का भी विषय बता, अपरोक्षानुभूति सम्पन्न महात्माओं के लिए उसकी आपेक्षिक कम महत्ता को भी स्वीकार कर, अन्त में सब वेदों के द्वारा वेद्य स्वयं सर्वशक्तिमान् प्रभु ही को तो बताया है[५]। भगवान् ब्रह्मसूत्रकार के लिए तर्क यद्यपि एक आवश्यक वस्तु है, किन्तु उसकी अप्रतिष्ठा होने के कारण वेद भी प्रमाण के रूप में उन्हें ग्राह्य हैं। भगवान् शंकर भी, जिनकी अपूर्व तर्क-प्रणाली की भारतीय दर्शन में समता मिलना दुर्लभ है, और जो स्वयं सदसद्वि-

---

(१) देखिए आगे उपनिषदों के दर्शन का वर्णन।
(२) देखिए आगे न्याय-वैशेषिक दर्शन का विवेचन।
(३) देखिए आगे सांख्य-योग दर्शन का विवेचन।
(४) देखिए आगे 'बौद्ध दर्शन और पूर्वमीमांसा' पर विवेचन।
(५) सर्वैश्च वेदैरहमेव वेद्यो--गीता। देखिए आगे गीता-दर्शन का विवेचन।

बेक में बुद्धि को छोड़कर अन्य कोई साधन ढूंढ़ नहीं सकते, श्रुति को सहस्र माता-पिताओं से भी अधिक कल्याण करनेवाली मानते हुए अध्यात्म-चिन्तन में उसके अनन्य उपासक हैं; अध्यात्म विरहित कुतर्क और कुतार्किकों की भरपूर निन्दा कर श्रुत्यनुगृहीत तर्क के वे प्रतिष्ठापक हैं[1]। महा मनीषी आचार्य गौडपाद की भी बिलकुल यही स्थिति है[2]। इसी प्रकार भगवान् रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ भी अपनी-अपनी दृष्टियों से वेदों के उपासक हैं और उन्हें प्रमाणस्वरूप मानते हैं। तन्त्रों के विषय में भगवान् शंकर की भले ही यह धारणा रही हो कि वे 'अवैदिक' हैं, किन्तु आचार्य रामानुज, यामुन और वेदान्तदेशिक आदि उन्हें ऐसा मानने को तैयार नहीं हैं। फिर मध्यकालीन भक्तों की भी वेद भक्ति देखने योग्य ही है। ब्रह्मवादी ज्ञानेश्वर और समर्थ रामदास ने तो स्थान-स्थान पर वेद की स्तुति की ही है, गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में ही 'बन्दहुँ चारों वेद...... जिनहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुवर विमल जसु' कहकर वेद के प्रति अपनी भक्ति दिखाई है और अन्यत्र भी 'श्रुति सम्मत हरि भगति पथ', 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यत्' आदि वाक्यों के द्वारा राम भक्ति के प्रतिपादन में श्रुति को आधार स्वरूप ग्रहण किया है। तुलसीदास को वेद की अतुलित महिमा का पूरा पता था। वे जानते थे कि इसी की निन्दा के कारण 'विदित बुद्ध-अवतार' निन्दित हो चुका है[3]। इसलिये राम-भक्ति की स्थापना के लिये उनकी वेद-स्तुति की तत्परता को हम भली प्रकार समझ सकते हैं। इसी प्रकार राम की स्तुति करते हुए समर्थ रामदास के ये शब्द भी स्मरणीय हैं 'जयाची लिला वर्णितीं वेदवाणी[4]। नुपेक्षी कदा देव दासाभिमानी' आदि[4]। स्वतंत्र-प्रज्ञ ब्रह्मज्ञानी कबीर साहब भी तो जिनकी प्रतिगामिता के विषय में

(१) देखिए आगे शांकर दर्शन और बौद्ध दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन।

(२) निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत्। माण्डूक्य कारिका ३।२३

(३) तुलसी महिमा वेद की अतुलित किये विचार।
जेहि निन्दत निन्दित भयो विदित बुद्ध अवतार॥ दोहावली।
तुलसीदास का यह साक्ष्य अत्यन्त मार्मिक है और तृतीय परिच्छेद में बौद्धधर्म नास्तिकत्व के सम्बन्ध में जिन निष्कर्षों पर हम पहुंचे हैं, उनके मेल में है।

(४) 'मनाचे श्लोक'।

बहुत कुछ कहा जा सकता है और जिन्होंने स्वयं लोक और कुल की मर्यादा के साथ-साथ वेद की मर्यादा को भी 'गले की फाँसी' कहा है,[1] अपने को वेद-विरोधी समझे जाने के लिए अपने युग के पुरुषों को फटकारते हुए सिंहनाद करते हैं 'वेद पुरान कहा किन झूठा झूठा जोइ न विचारै।' बहुना कि, उदार महात्मा जायसी की जिन्होंने एक मुस्लिम वंश में जन्म ग्रहण किया, ये उदार वाणियां भी उस प्रभाव की परिचायक हैं जिसे वेद ने मुस्लिम साधकों पर भी डाला है, 'वेद पन्थ जे नहिं चलहिं ते भूलहिं बन मांझ', 'झूठ बोल फिर रहे न रांचा। पण्डित सोइ वेदमत सांचा।' 'वेद वचन मुख सांच जो कहा। सो जुग-जुग अहिथिर होइ रहा।' करोड़ों हिन्दू भावनायें भी इस अवस्था को नहीं पहुँच सकतीं। वैदिक प्रज्ञान की सच्चाई की कैसी स्पष्ट गवाही है। उसके शाश्वत सत्य का कैसा मार्मिक साक्ष्य है—'सो युग-युग अहिथिर होइ रहा।' फिर मध्य-युग को छोड़ कर आधुनिक युग में आने पर ऋषि दयानन्द के व्यक्तित्व में तो निश्चय ही एक बार ऐसा लगा कि वैदिक युग का ही प्रत्या-वर्तन हुआ है और गत शताब्दी के उत्तर भाग से लेकर आज तक वैदिक अध्ययन की ओर जो ध्यान पूर्व और पश्चिम के विद्वानों का गया है, वह चाहे वेदों के धार्मिक महत्व के कारण उतना न हो, परन्तु मानव संस्कृति के विकास में उनका, विशेषतः ऋग्वेद का, एक निश्चित स्थान होने के कारण उनकी महिमा की स्वीकृति तो उसमें है ही। अतः भारतीय समाज, साहित्य, धर्म और दर्शन पर वेदों की एक अमिट छाप तो पड़ी ही है, विश्व संस्कृति के अध्ययन में भी उसका एक महत्वपूर्ण स्थान है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु जबकि यह सब सत्य है, यह तथ्य भी कुछ कम सत्य और सार्थक नहीं है कि भारतीय दर्शन की स्वतंत्र विचार-परम्परा को अवश्य कुछ धक्का लगता यदि वेदों के प्रामाण्य की सीमा से बाहर अर्थात् उनसे सर्वथा निरपेक्ष रहकर केवल अनुत्तर स्वानुभूति के आधार पर ही महनीय विचार भी नहीं किया जाता, छान्दोग्य उपनिषद् की भावना में त्रयी विद्या से ऊपर किसी ज्ञान की कल्पना नहीं की गई होती, किसी भी ग्रंथ-प्रमाण का स्वतंत्र साक्ष्य स्वीकार न कर केवल बुद्धि रूप ऋषि के ही हाथ में सब कुछ सत्ता नहीं दे दी गई होती, केवल विशुद्ध अनुभव के ही क्षेत्र में विशुद्ध आचारतत्व की स्थापना नहीं की गई होती, परमार्थ का स्वतन्त्र चिन्तन कर उसकी अधिगति का एक अनुपम मार्ग दिखला कर ही। यदि सर्वत्र ग्रंथ प्रमाण की ही तूती

(१) लोक वेद कुल की मर्यादा इहै गरै में फांसी।

भारतीय दर्शन में बजती, तो स्वतंत्र विचारकों को उसमें कोई आश्वासन न रहता, स तन्त्रचेता पुरुषों के लिए उसमें कोई आकर्षण न बचता। धार्मिक सम्प्रदायों से अलग हम दर्शन को कैसे समझ पाते, उसकी समस्याओं पर निष्पक्ष रूप से हम विचार कैसे कर सकते? बौद्ध और जैन दर्शन जो मानवीय विचार के क्षेत्र में एक अत्यन्त ऊँचा स्थान रखते हैं, वेद को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते और केवल इसी प्रवृत्ति का यह अनिवार्य परिणाम है कि मूल बातों में और विशेषतः आचार तत्व के प्रस्थापन में ये दर्शन–सम्प्रदाय तथोक्त आस्तिक दर्शनों के साथ अत्यन्त समीप होते हुए भी एक बिलकुल अनुचित रूप से, जैसा कि हम पहले निर्देश कर चुके हैं, उन जड़वादी नास्तिकों के साथ परिगणित किए गए हैं, जो न लोक में विश्वास रखते हैं न परलोक में, न जिनके लिए कोई आचार तत्व है और न कोई आदर्श विधान तथा जिनके लिए वेद जैसे महाग्रंथ 'मुनि, भांड़ और निशाचरों' की कृतियाँ मात्र हैं।' जैसे-जैसे स्वतंत्र विचार को अधिक प्रोत्साहन मिलेगा और विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के तुलनात्मक अध्ययन में गम्भीर विद्वान् प्रवृत्त होंगे, वैसे ही हम बौद्ध दर्शन को वैदिक दर्शन के एक पूर्णरूप से विभिन्न या विपरीत दर्शन रूप में देखने से हिचकेंगे और और भविष्य के चिन्तकों का यह एक लक्ष्य होगा कि वे किसी एक ग्रंथ-विशेष के प्रामाण्य स्वीकार करने अथवा न करने पर ही भारतीय दर्शन सम्प्रदायों का वर्गीकरण न कर इस विषय में एक नई दिशा का प्रवर्तन करेंगे। तभी हम तथागत के विषय में महात्मा ईसा के के समान कह सकेंगे कि वे 'पूर्णता प्रदान करने के लिए आये थे, विनाश करने के लिए नहीं।' किस प्रकार वैदिक अध्यात्मवाद को पूर्णता बुद्ध-शासन के मानवतावादी रूप में मिली है, इसे दिखाना भारतीय साधना के कल्याणकारी विकास के लिए आवश्यक होगा। वैसे यदि वैदिक प्रज्ञान बौद्ध दर्शन के विरोध के फलस्वरूप भी टिक सकता है, तो सम्यक् सम्बुद्ध के मार्ग के विषय में भी यह आसानी से कहा जा सकता है कि वह अपनी सत्यता की सिद्धि के लिए वेद या किसी अन्य ग्रंथ के साक्ष्य की अपेक्षा नहीं रखता। सत्य दोनों में व्याप्त है और उसे हमें समझना है। वास्तव में समन्वयपूर्वक जो देखता है वही कदाचित् ठीक देखता है। सभी सत्य-गवेषी एक ही मार्ग से गए हैं और उस मार्ग का खोजना ही दर्शन का प्रधान व्यवसाय है। इस प्रकार वेद की महिमा और भारतीय दर्शन में उसके स्थान का कुछ संक्षिप्त उल्लेख कर अब हम उसका कुछ और विस्तृत तात्विक विवरण और विकास

क्रम उपस्थित करेंगे और फिर बौद्ध-दर्शन के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त होंगे।

वैदिक दर्शन के तीन स्पष्टतर स्तर—ऋग्दर्शन, ब्राह्मण-दर्शन और उपनिषद्-दर्शन—वैदिक दर्शन की विकास परम्परा का संक्षिप्त निदर्शन

जैसा कि पूर्व निवेदन किया जा चुका है, वैदिक दर्शन का विभाजन तीन विकास-क्रमों में किया जा सकता है—ऋग् दर्शन, ब्राह्मण-दर्शन और उपनिषद्-दर्शन। प्रथम विकास-क्रम में हम ऋग्वेद की ऋचाओं और उनके दर्शन पर विचार करते हैं। वास्तव में तो 'दर्शन' जैसी कोई वस्तु अपने पारिभाषिक अर्थों में ऋचाओं में उपलब्ध नहीं होती। किन्तु उनमें, जैसा कि पश्चिमी ढंग के विद्वान् प्रायः कहने में बहुत दिलचस्पी रखते हैं, मनुष्य-जाति के प्रभात-काल की सुगन्ध और नैसर्गिकता अवश्य है। इन्द्र-वरुणादि देवताओं को आह्वान करने की उपस्तुतियों के रूप में ही ये ऋचायें प्रधानतः स्मरणीय हैं और इनके माध्यम से ही हम उस समय के आर्य ऋषियों अथवा कवियों की भावनाओं का कुछ दिग्दर्शन कर सकते हैं। इन स्तुतियों में कहीं ऋषियों की भक्तिमयी विकलता, कहीं निर्व्याज सरलता, कहीं अशुभ कर्म के लिए उनके हृदय की अद्भुत जलन, कहीं एक अखण्ड विश्वव्यापी नियम में उनकी आस्था, कहीं प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के अन्दर एक नियामक प्रभु को देखने की उनकी सरल अनुभूति आदि बातें स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। कहीं-कहीं 'ऋषियों से मैं पूछता हूँ, जाननेवालों से, स्वयं नहीं जानता हुआ' इस प्रकार दार्शनिक जिज्ञासायें भी ऋषियों के हृदय के अन्दर उद्भूत हुई हैं[1]। ऋग्वेद की उपस्तुतियों का अथवा उसके दैवत तत्व का मार्मिक रहस्य क्या है, इसके विषय में अभी विद्वान् एकमत नहीं हो सके हैं। जितने मुंह हैं, उतनी ही बातें हैं[2]। किन्तु उनसे हमें यहां विशेष प्रयोजन भी नहीं है। एकेश्वरवाद की भावना इस युग में अवश्य दृढ़ दिखाई पड़ती है[3]। गम्भीर नैतिक भावना भी दृष्टिगोचर होती है और न केवल देवताओं

(१) देखिए ऋ० १०।१२१; १०।८२।७; १।१६७।५-६

(२) विभिन्न दृष्टिकोणों के लिए देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ६८-७०

(३) देखिए ऋ० १०।११४; मिलाइये निरुक्त० ७।५; ऋ० १०।८८।१५ १।१२५।५; १०।१०७।२

के प्रति, वलिक मनुष्यों के प्रति भी कर्तव्य की तत्कालीन ऋषियों को अनुभूति है[1]। किन्तु फिर भी धर्म विशेषतया दैवतमय ही है। हां, अभी उसमें कृत्रिमता के लिए गुंजाइश नहीं है। बाह्य विधानों की अपेक्षा मंत्रों से ही ऋषि यज्ञ करना अधिक अच्छा समझते हैं[2]।

ऋग्वेदीय युग और समाज का ब्राह्मणकालीन यज्ञयागादि की परंपरा में से गुजर कर स्वाभाविक रूप से उपनिषदों की प्रवृत्तियों पर आना—बुद्ध के द्वारा प्रकारान्तर से उन्हीं का प्रवर्तन करना और उन्हें आगे बढ़ाना

किन्तु समय आगे चलता है। वैदिक धर्म के विकास में एक नए युग का आगमन होता है। देवताओं की स्तुति मंत्रों के द्वारा करने के लिए बाह्य नियमों का विधान होता है। मंत्रों का 'संहिताओं" के रूप में संकलन होता है। संहिता युग के वाद बाह्य यज्ञयागादिमय ब्राह्मण-युग का प्रवर्तन होता है। अनेक प्रकार के कर्म-काण्ड की सृष्टि होती है। बहुत से विचारक इस सबसे घबर कर वनों में जाकर 'आरण्यक' बनते हैं। उन्हीं की परम्परा में से औपनिषद ऋषि निकलते हैं जो यज्ञयागादिमय विधान के स्थान पर विशुद्ध ज्ञान के पक्षपाती हैं। इन्हीं की परम्परा का प्रवर्तन करनेवाले और उसे आगे बढ़ानेवाले, जैसा कि हम अभी देखने का प्रयत्न करेंगे, सम्यक् सम्बुद्ध हैं। अभी हम वैदिक दर्शन की उपर्युक्त तीन विकास की अवस्थाओं का बौद्ध दर्शन के साथ तात्विक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करें और विश्लेषणात्मक रूप से देखें कि वैदिक दर्शन और बौद्ध दर्शन दोनों में क्या संबंध है और दोनों की एक दूसरे के प्रति ऐतिहासिक दृष्टि से क्या प्रतिक्रिया थी।

संहिताओं का दर्शन प्रारंभिक है, जबकि बुद्ध-दर्शन के आविर्भाव की पृष्ठभूमि में एक महान् दार्शनिक परम्परा निहित है, जिसमें स्वयं संहिताएं भी सम्मिलित हैं।

ऋग्वेदीय धर्म और देवता-तत्त्व तथा मृत्यु, 'पुनर्जन्म' और मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों का एतद्विषयक बुद्ध के विचारों से सम्बंध

ऋग्वेदीय युग में धर्म नितान्त दैवतमय था और देवताओं से मनुष्य के कल्याण के लिए अनेक प्रकार की स्तुतियां की गई थीं। किन्तु बुद्ध-दर्शन की इससे उच्चतर दार्शनिक परिस्थिति है। वहां मनुष्य के तेज को स्वयं देवों की महिमा से तीव्रतर करने का प्रयत्न किया

(१) देखिए ऋ० १०।११७
(२) देखिए ऋ० १।२।९।२

गया है। मनुष्य को देवताओं से ऊपर उठाया गया है । देवताओं के आधिपत्य से मनुष्य को मुक्त किया गया है। 'धर्म' की व्याख्या भी यहां अधिक व्यापक है और देवताओं से उसका कोई संपर्क नहीं है। यहां 'ऋत' अपनी समग्र महिमा में विद्यमान है, किन्तु उसका 'धाता' कोई वरुण देव यहां नहीं है। धृतव्रत यहाँ स्वयं मनुष्य ही है । वरुण पाप करने वाले के लिए कृपालु है,[1] किन्तु भिक्षु तो मैत्री भावना से समग्र दिशाओं को ही आप्लावित करने वाला है।[2] वैदिक ऋषि कभी-शत्रुओं को पराजित करने के लिये भी देवताओं से प्रार्थना करते थे, परन्तु शाक्यमुनि के शासन में तो किसी को शत्रु मानने का ही कोई कारण न रहा, जहाँ मैत्रीपूर्ण चित से लोक को आपूरित कर देने का ही एकमात्र आदेश था। जिस कार्य को वैदिक ऋषि नदियों के प्रवाहित करने में,[3] सूर्य को चमकाने और चन्द्रादि ग्रहों को अपने नियम में रखनेवाले,[4] सूर्य की ही चक्षुवाले, आकाश के ही वस्त्रवाले और पवन के ही निःश्वास वाले[5] वरुण देव से लेते थे, वही काम बुद्ध के दर्शन में दुर्धर्ष विश्वव्यापी नियम से लिया गया जिसकी संज्ञा प्रतीत्य समुत्पाद है। ऋषियों के लिए जिस प्रकार अग्नि पिता, बन्धु, भ्राता और मित्र था[6], उसी प्रकार बुद्ध के दर्शन में 'कर्म' (कम्म) ही केवल अपना हो गया है और उसी के द्वारा हम पहुंचाते हैं अपने को देव या देव समान अवस्थाओं तक भी[7]। दैवत तत्व का बुद्ध के विशुद्ध नैतिकवाद से कोई संबंध ही नहीं है, किन्तु बुद्ध उस तत्व को सर्वथा निराकरण करने में समर्थ हुए हों अथवा उसका उन्होंने अपने उद्देश्य के लिए प्रयोग ही नहीं किया हो, ऐसी भी बात नहीं हैं। वैदिक देवों को (विशेषतः ब्रह्मा और इन्द्र को) उन्होंने उपदेशों में अनेक बार प्रयुक्त किया है, परन्तु उनकी उपासना के लिए नहीं, बल्कि अपने

---

(१) द्रष्टव्य ऋ० ७।८७।७
(२) देखिए तेविज्ज सुत्त (दीघ १।१३)
(३) द्रष्टव्य ऋ० १।२४।८; २।२८।४; ७।८७।५
(४) द्रष्टव्य ऋ० १।२४।१०; १।२५।६; १।४४।१४; २।१४; २।२८।८; ३।५४।१८; ८।२५।२
(५) देखिए ऋ० ७।८७।२
(६) मिलाइये ऋ० १०।७।३
(७) मिलाइये ऋ० २।६

नैतिक निष्कर्षों को निकालने के लिए ही। वैदिक देवता बुद्ध-पुरुष से नीची अवस्था मे ही पालि त्रिपिटक में अक्सर दिखाये गये हैं। कहीं वे बुद्ध या उनके शिष्यों की छोटी-मोटी शारीरिक सेवाएँ करते दिखाये गये हैं, कहीं उनसे उपदेश ग्रहण करते हुए, कहीं (सहापति ब्रह्मा के समान) उनसे याचना करते हुए और कहीं उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए मानवीय जन्म भी ग्रहण करते हुए। यह स्मरण रख लेना यहाँ आवश्यक होगा कि बौद्ध धर्म के नैतिक प्रभाव में आकर ऋग्वेद का उद्धत और कदाचित् अनैतिक इन्द्र भी विनम्र और सुशील वन गया है। हाँ, मानवतावादी बुद्ध ने देवताओं के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया गया है, यह महत्वपूर्ण तथ्य भी यहां स्मरण रख लेना आवश्यक होगा। इसी प्रकार दिशाओं की पूजा आदि के तत्वों की उन्होंने गूढ़ नैतिक व्याख्या की है जो पालि त्रिपिटक में अनेक स्थानों में दृष्टिगोचर हो सकती है।[1] ऐसी प्रवृत्ति का भारतीय वाङ्मय में अन्यत्र भी अभाव नहीं हैं और यह उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि का एक प्रधान लक्षण है। संग्राहक रूप से हम कह सकते हैं कि नाना देवताओं की अथवा उनके अधिपति किसी एक देव की उपासना में सम्यक् संबुद्ध की कोई श्रद्धा नहीं दीखती, कम-से-कम वह उनका मार्ग नहीं है। मनुष्य के निर्बल हृदय के लिए कुछ विवेचकों की दृष्टि में देवों के आश्वासन की चाहे भले ही जरूरत पड़ती हो, ऋग्वेद की ऋचाएँ, विशेषतः वरुण आदि की उपस्तुतियाँ (जिनमें भक्ति की भावनाएँ मार्मिकता के साथ भरी पड़ी हैं) मनुष्य के इस अभाव और सहायता की पूर्ति अवश्य करती कही जायँ, किन्तु जहाँ विचार का कुछ अधिक प्रकर्ष है, मनुष्य को अपने वीर्य में कुछ अधिक विश्वास है, वहाँ तो तथागत का मार्ग ही अधिक आकर्षण रखता है। यह उनके दर्शन की एक विशेषता है कि 'धर्म' की गंभीरतम अनुभूति तो उनकी विचार-प्रणाली में उपस्थित है, किन्तु एक या अनेक देवों का कोई पता नहीं है। यही ऋग्दर्शन का बुद्ध के दर्शन से विशेष विभेद है। मृत्यु, पुनर्जन्म और मोक्ष संबंधी विषयों मे तो दोनों विचार-प्रणालियों में अत्यन्त विभेद है ही, किन्तु केवल एक अविकसित और विकसित प्रणाली का ही, कोई मौलिक नहीं।

---

(१) देखिए सुत्तनिपात (सभिय सुत्त) एवं सिंगालोवाद सुत्त (दीघ०); मिलाइये डा० बापट का 'सुत्तनिपात' का संस्करण, भूमिका, पृष्ठ २७

मृत्यु पर विशेष गवेषणा ऋग्वेदीय ऋषियों का कार्य नहीं, वे तो जीवन की प्रसन्नता से ही भरपूर निश्चिन्त हैं। यहां बुद्ध के चतुरार्य सत्यों जैसी कोई चीज ढूंढ़ने से भी नहीं मिल सकती। ऋषियों को दुःख और अनित्यता की भावनाएँ तो छू तक नहीं गईं, हाँ एकाध जगह उन्होंने इन भावनाओं का कुछ प्रदर्शन अवश्य कर दिया है[1]। वे तो आशावादपूर्वक यही घोष निरन्तर करते दीखते हैं 'कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे',[2] (भगवन्! जीवन-यात्रा में हमें समुन्नत कीजिए) 'भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि'[3] (कल्याणमय जीवन व्यतीत करते हुए हम वृद्धावस्था को प्राप्त हों।) 'विश्वदानी सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्'[4]। हम सदा प्रसन्न चित्त होते हुए उदीयमान सूर्य के चिरकाल पर्यन्त दर्शन करें'॥ पुनः

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।
पुष्येम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्।
भूषेम शरदः शतम्। भूयसीः शरदः शतात्।[5]

'हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक देखें, जीवन-यात्रा करें, ज्ञान संपादन करें, उत्तरोत्तर उन्नति करें, पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करें तथा अपने को समृद्धि, ऐश्वर्य और गुणों से भूषित करें'। इतना ही देवताओं से वे चाहते हैं। वे अपनी ऐहिक समृद्धि की, अपने और अपने पशुओं की भलाई को खूब याचना करते हैं, वित्त पुत्रादि मांगने में भी उनको संकोच नहीं क्योंकि सर्वत्र ही 'मधु' प्राप्त करते हुए और मधुमय ही जगत्को समझते हुए वे विचरते हैं[6]। किन्तु बुद्ध के विचार की ऐसी परिस्थिति नहीं है। और वह इसलिए नहीं कि वह निराशावादी है, किन्तु इसीलिए कि जीवन का उसका दर्शन अधिक गंभीर है और उसने उपनिषदों की तरह ही सभी ऐहिक और पारलौकिक सुख की अनित्यता, अनात्मता और दुःखमयता देखी है। त्रिपिटक साहित्य में

---

(१) यथा 'अपां मध्ये' तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्। ऋग्वेद।
(२) ऋ० १।३६।१४
(३) ऋ० १०।३७।६
(४) ऋ० ६।५२।५
(५) अथर्व० १९।६७।१-८
(६) द्रष्टव्य ऋ० 'मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः' आदि।

जहाँ कहीं बुद्ध या उनके शिष्यों की प्रसन्नता के वर्णन आए हैं[1] नैतिक दृष्टिकोण की ही व्यापकता रक्खी गई है। कम-से-कम यहां सोम पीकर तो अमृतत्व पानेवाले कभी नहीं देखे गए[2] और न कहीं किन्हीं ऐहिक या स्वर्गीय उपकरणों के लिए प्रार्थना को ही बुद्ध-मार्ग में विहित बताया गया है। 'वर्धय चास्मान् प्रजया धनेन' में कोई धर्म की अनुभूति नहीं है। बुद्ध का धर्म जीवन की गंभीर समस्या को लेकर चलता है जबकि ऋग्वेदीय ऋषि इससे विशेष प्रभावित नहीं दिखाई पड़ते। मृत्यु के बाद ऋग्वेदीय ऋषियों के लिए पितरों का मार्ग खुल जाता है[3]। मरने के बाद वे सुखपूर्ण स्वर्ग की भी कल्पना करते हैं[4] और पापियों के लिए नरक की भी[5]। पुनर्जन्म की कल्पना का भान उन्हें अस्पष्ट रूप से ही हुआ दीखता है[6] और मोक्ष का स्थान अभी स्वर्ग और नरक के अस्पष्ट विचारों ने ही लिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बुद्ध-दर्शन में इनसभी विषयों संबंधी एक महनीय विचार है, जिसका विवरण और विवेचन हम चतुर्थ प्रकरण में कर आए हैं और जिसके पिष्टपेषण की यहाँ जरूरत नहीं। जन्म-मरण के संसरण रूप संसार, जिसका तात्विक विवेचन बौद्ध-दर्शन और बाद के सभी दर्शनों का एक रुचिकर विषय है, ऋग्वेदीय ऋषियों की कल्पना को विशेष आकृष्ट करता नहीं दीखता। किन्तु फिर भी बाद के प्रायः सभी महनीय दर्शनों के वीज ऋग्वेद में वर्तमान हैं, इसमें संदेह नहीं। ऋग्वेद की ऋचाओं की यज्ञयागादिमय और आध्यात्मिक व्याख्याओं को लेकर ही ब्राह्मण ग्रंथ प्रवृत्त होते हैं और उन्हीं को ज्ञान-कांड की दिशा में बढ़ाती है उपनिषदें भी। वरुण की उपासना में हम भक्ति के सर्वोत्तम तत्व देखते हैं। इसी प्रकार सांख्य और योग आदि के बीज भी ऋग्वेद में हमें मिलते हैं। अतः

---

(१) मिलाइये 'सुसुखं वत जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो। वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो'। धम्मपद, सुखवग्गो; अन्य उद्धरणों के लिए देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'क्या बुद्ध दुःखवादी हैं ? पर विवेचन।

(२) मिलाइये ऋ० ८।४८।३

(३) मिलाइये ऋ० १।२४।१; ७।५६।२४; १०।८८।१५

(४) देखिए ऋ० १।२५।६

(५) मिलाइये ऋ० १०।१३२।४; ४।५।५; ९।७३।८; १०।१५२।४

(६) देखिए ऋ० ४।२७।१; १।१६४।३०; १०।५८

हम कह सकते हैं कि वह समग्र भारतीय दार्शनिक विचार की ही एक प्रकार से आधार-भूमि है, जिससे पूर्व की न केवल भारत की ही किन्तु विश्व की भी विचार-परिस्थिति का कोई पता नहीं।

ऋग्दर्शन के विकास में विद्वानों ने तीन क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन किया है। अथवा हम यों भी कह सकते हैं कि एक प्रकृत विकसित अवस्था के तीन स्वरूप हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं, अर्थात्, देवबहुत्व, एकेश्वरत्व और एकात्मत्व। इनका संबंध ईश्वर अथवा सत्ता संबंधी प्रश्नों को लेकर है, जिनके विषय में भगवान् बुद्ध ने या तो मौन रक्खा है या जिन्हें 'अव्याकृत' किया है। अतः यद्यपि इन सिद्धांतों का ऋग्वेद के दर्शन के विवेचन में विशेष महत्व है, किन्तु सम्यक् सम्बुद्ध को इनके विषय में कुछ नहीं कहना है जो कि हमारा प्रधान विषय है, इसलिए इनके विवेचन से हम यहाँ अवश्य ही विराम ले सकते हैं। एकात्मतत्व के साथ अपने नैतिक रूप में बुद्ध-विचार का बहुत कुछ संबंध है और चूंकि एकात्मतत्व मुख्यतः उपनिषदों का विषय है, अतः उनके उपदेशों की समानता और असमानता बुद्ध-दर्शन के साथ दिखाने के समय ही हम अभी आगे इस विषय पर आयेंगे।

ऋग्दर्शन के विकास की तीन अवस्थाओं का अथवा एक ही प्रकृत विकसित अवस्था के तीन स्वरूपों का, देवबहुत्व, एकेश्ववरत्व और एकात्मत्व का, बुद्ध के विचार के साथ सम्बन्ध

अभी हम संहिताओं की श्रुतियों आदि के विषय में भगवान् तथागत के कुछ उद्गारों को देखें ताकि यह संबंध अधिक सरल और सुगम हो जाय। प्रथम तो हमें इस संबंध में यह याद रखना चाहिए कि संहिताओं और मंत्रों की परम्परा उस समय भारत में प्रचलित अवश्य थी और लोगों को उसके विषय में प्रश्न पूछने की दिलचस्पी भी थी और भगवान् भी उस परम्परा से पूर्ण रूप से अवगत थे। 'द्रोण! जो तेरे पूर्व के ऋषि, मंत्रों के कर्ता, मंत्रों के प्रवक्ता थे, जिनके पुराने मंत्रपद को इस समय ब्राह्मण गीत के अनुसार गाते हैं। प्रोक्त के अनुसार प्रवचन करते हैं, भाषित के अनुसार भाषण गाते हैं, स्वाध्यायित के अनुसार स्वाध्याय करते हैं, वाचित के अनुसार वाचन करते हैं, जैसे कि अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि,

संहिता और मन्त्रों के विषय में बुद्ध के कुछ उद्गार और उनके अर्थ

अंगिरा, भरद्वाज, वशिष्ट, कश्यप, भृगु[1]'। मन्त्रकर्ता ऋषियों की यह नामावली भगवांन् को विदित थो। इसी विषय में भारद्वाज नामक ब्राह्मण भगवान् से प्रश्न भी पूछता है 'हे गौतम! जो वह ब्राह्मणों का पुराना मंत्र पद ('वेद') इस परम्परा से पिटक (वचन समूह) है, उसमें ब्राह्मग पूर्ण रूप से निष्ठा रखते हैं कि, यही सत्य है, और सब झूठा। इस विषय में आप गौतम क्या कहते हैं? कितना स्पष्ट प्रश्न है। अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित भगवान का उनरभी कितनास्पष्ट है 'क्या भारद्वाज! ब्रह्मणों में एक भी ब्राह्मण ऐसा है जो कहे कि मैं इसे जानता हूं, इसे देखता हूं 'यही सत्य है और सब झूठा' क्या भारद्वाज! ब्राह्मगों का एक आचार्य भी, एक आचार्य-प्राचार्य भी, परमाचार्यों की सात पीढ़ी तक भी, ब्राह्मणों के पूर्वज ऋषि भी, अट्टक, ामक,...... क्या उन्होंने भी कहा, हम इसको देखते हैं,हम इसको जानते हैं'यही सत्य है और सब झूठा"। "नहीं हे गौतम[2]!" 'तो फिरभ रद्वाज! ब्राह्मणों में एक भी ब्राह्मण नहीं है जो कह सके 'मैं जानता हूँ' मैं देखता हूँ 'यही सत्य है और सब झूठा। भारद्वाज! अंध वेणु परम्परा (अंधों की लकड़ी का तांता), लगी हो, पहले वाला भी नहीं देखता, बीच का भी नहीं देखता, पिछला भी नहीं देखता। ऐसे ही भारद्वाज! ब्राह्मणों का कथन अन्धवेणु (अंधे की लकड़ी, के समान) है, पहले वाला भी नहीं देखता, बीच का भी नहीं देखता, पिछला भी नहीं देखता। तो क्या मानते हो भारद्वाज! क्या ऐसा होने पर ब्राह्मणों की श्रद्धा अमूलक नहीं हो जाती'।[3] इस प्रकार भगवान् ने अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित ज्ञान की ही महत्ता मानी है अ र स्वयं जानकर और स्वयं साक्षात्कार कर (सयं अभिञ्ञा सच्छकित्वा) वह कह सके कि ऐसा मैं जानता हूं, ऐसा मैं साक्षात्कार करता हूं, केवल 'इतिह''इतिह' कहने से काम नहीं चल सकता, फिर चाहे वह वैदिक प्रज्ञान के ही विषय में क्यों न हो। किसी भी सत्य का वास्तविक 'ऋषि' तो मनुष्य को होना ही चाहिए। तभी वह सत्य के विषय में कुछ कह सकता है। और इसकी उस समय बड़ी कमी थी। ब्राह्मणों की अत्यन्त पतित

---

(१) द्रोणसुत्त (अंगुत्तर ५।५।२;) देखिए चंकिसुत्त (मज्झिम० २।५।५)

(२) चंकिसुत्त (मज्झिम० २।५।५)

(३) चंकिसुत्त (मज्झिम० २।५।५)

अवस्था थी, इसके त्रिपिटक में अनेक प्रमाण हैं[१]। फिर भगवान् वैदिक प्रज्ञान की एकमात्र महत्ता इस प्रक र स्वीकार नहीं कर सकते थे कि यही सत्य है और सब झूठा। ये अत्यन्त साहसिक पद हैं। अतः बुद्ध का मन व्य वेद के संहिता भाग के प्रति न तो सर्वांश में सत्य होने का था और न वे इसके साथ समग्र वैदिक कर्मकांड की परमार्थ की प्राप्ति में विशेष आवश्यकता या महत्ता ही अनुभव करते थे, यह हम अभी आगे ब्राह्मण-दर्श के प्रति उनकी प्रतिक्रिया को दिखाते समय मूल त्रिपिटक के आधार पर दिखाने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु इसके पहले हम भगवान् की उन पूर्व ऋषियों के प्रति आदर-बुद्धि का प्रकाशन और कर दें जो एक अत्यन्त सरल ढंग से यज्ञ करते थे और जिनके आचरण अत्यन्त पवित्र थे। ये ऋषि संभवतः संहिता काल के ही हो सकते हैं, क्योंकि इसी युग में इस प्रकार का सरल यज्ञमय विधान प्रचलित था। कुछ-कुछ इसे हम ब्राह्मण-युग का भी परिचायक कह सकते हैं। 'पुराने ऋषि संयमी और तपस्वी होते थे। पंच कामगुणों को छोड़ वे अपना अर्थ (ज्ञान, ध्यान) करते थे। उस समय ब्राह्मणों को न पशु थे, न हिरण्य, न अनाज। वे स्वाध्याय रूपी धन-धान्यवाले थे। ब्रह्मनिधि को पालन करते थे। नाना रंग के वस्त्रों शयन और आवसथों (अतिथिशालाओं) से समृद्ध जनपद राष्ट्र उन ब्राह्मणों को नमस्कार करते थे। ब्राह्मण अवध्य, अजेय, धर्म से रक्षित थे, कुल द्वारों पर उन्हें कभी कोई नहीं रोकता था।

. . . .

वे तण्डुल, शयन, वस्त्र, घी और तेल को मांगकर धर्म के साथ निकालकर यज्ञ करते थे। यज्ञ उपस्थिति होने पर वे गाय को नहीं मारते थे'[२]। ब्राह्मणत्व की महिमा का कितना सुन्दर प्रख्यापन है, साथ ही वैदिक युग के निर्व्याज समाज और पशु-हिंसा के अभाव का कितना बड़ा साक्ष्य भी। इसको देखकर कौन बुद्ध को पूर्व ऋषियों का निन्दक कह सकता है? हाँ, जहाँ उनकी सर्वज्ञता का सवाल है वहाँ तो तथागत का स्वयं अपनी सर्वज्ञता के समान ही एक विभिन्न मत है और इसके लिए तथागत का बुद्धि-स्वातंत्र्य सर्वथा सराहनीय है। अब हम ब्राह्मण-युगीन-दर्शन परम्परा पर आते हैं।

(१) देखिए सुनक सुत्त (अंगुत्तर ५।४।४१)
(२) ब्राह्मण धम्मिय सुत्त (सुत्त निपात २।७); मिलाइये द्रोण सुत्त (अंगुत्तर ५।४।५।२)

ब्राह्मणयुगीन यज्ञयागादिमय धर्म ही वह वस्तु है, जिस के विरुद्ध बुद्ध की आवाज संभवतः तीव्रतम है और इस विषय में वे उपनिषद की प्रवृत्तियों के समान ही हैं अथवा उनसे भी कुछ आगे बढ़े हुए हैं। संहिताओं में जो दर्शन निहित है उसी का कर्मकांड-मय-स्वरूप ब्राह्मण युग में हुआ। मंत्रों के साथ-ही-साथ एक जबरदस्त पौरोहित्य का भी उदय इस युग की घटना है। पुजारी भी देवों के समान ही समझे जाने लगे[१]।

ब्राह्मणयुगीन यज्ञयागादिमय धर्म के प्रति सम्यक् सम्बुद्ध की प्रतिक्रिया—इस विषय में औपनिषद् मनीषियों से उनकी समानता

और यज्ञ कर कर के मनुष्यों की अभिलाषा बढ़ने लगी अमृतत्व हासिल करने की[२]। तीनों[३] वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानने की प्रवृत्ति का भी उदय और सबसे अधिक वेग संभवतः इसी समय हुआ। वेदों को ईश्वर प्रदत्त बताया गया[४], परमपुरुष के निःश्वास उन्हें घोषित किया गया[५] और उनकी प्रामाणिकता को एक दृढ़तम भित्ति पर स्थापित किया गया इसी युग में। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस एक तथ्य समग्र ने भारतीय दर्शन के विकास को प्रभावित किया। वैदिक अध्ययन एक पण्डितवाद की वस्तु हो गया और सुनिश्चित परम्परा के विरुद्ध जाने का किसी को भी साहस न होने लगा। विरुद्ध विचार प्रकट करने पर भी व्याख्याकार ऊपर से दुहाई देते रहे वेद के प्रति वफादारी की और अनन्य श्रद्धा- बुद्धि की ही। कितनी चतुरता के साथ उत्तरकालीन भारतीय दर्शन में परस्प

---

(१) देखिए शतपथ ब्राह्मण २।२।२।६; २।४।३।१४

(२) देखिए शतपथ ब्राह्मण ३।१।४।३; ऐतरेय ब्राह्मण २।१।१

(३) इस समय तीन ही वेद माने जाते थे, देखिए ऋ०१०।९०।९; ५।७।१; तैत्तिरीय २।२-३; ऐतरेय ब्राह्मण० ५।२२; बृहदारण्यक० १।५।५; छान्दोग्य २।१।७; मनु० ३।१४५; ४।१२४; ११।२६३; १२।११२; पालित्रिपिटक में भी तीन विद्याओं (तेविज्ज) का ही उल्लेख है। मिलाइये गीता ९।२१ में में 'त्रैविद्या' जो पालि के 'तेविज्ज' के समान है।

(४) ऋ० १।३७।४; ३।१८।३

(५) शतपथ ब्राह्मण ११।५।८।१; द्रष्टव्य पुरुष सूक्त (ऋग्वेद) भी।

विरोधी सिद्धांतों को एक ही वेद का प्रामाण्य स्वीकार कर और उसी का साक्ष्य लेकर स्थापित किया गया है, यह इसी से स्पष्ट है। स्वतंत्र विचार को तो इससे धक्का पहुंचा ही, कुछ ल.भ भी इससे अवश्य हुआ कि मनुष्य केवल बुद्धिवादी न रहकर बुद्धि को अनुभूति से, जैसी कि वह वेद में प्रतिष्ठित थी, सीमित करने लगे। बुद्ध की इसके प्रति प्रतिक्रिया देखनी ही होगी और करनी होगी उपनिषदों के साथ इसकी तुलना भी। तो फिर और बातों से पहले हम दो प्रधान बातों को, एक तो वैदिक कर्मकाण्ड को और दूसरे वेद प्रामाण्य को लें, जो दो प्रवृत्तियाँ इस युग में प्रधान थीं। भगवान् बुद्ध वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध नहीं थे, किन्तु वे उसके सम्यक् मूल्य को आंकनेवाले थे जैसे कि उपनिषदें! तीनों वेदों में पारंगत बावरि ब्राह्मण का शिष्य 'पुण्णक' भगवान् से पूछता है 'भगवन्! किस कारण ऋषियों, मनुष्यों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों ने यहाँ लोक में देवताओं के लिये पृथक् पृथक् यज्ञ कलिपत किये, यह पूछता हूँ, भगवान् बतलावें।'

भगवान्--'जिन किन्हीं ऋषियों, मनुष्यों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों ने यहां लोक में देवताओं के लिए पृथक् पृथक् यज्ञ कलिपत किए, उन्होंने इस जन्म की चाह रखते हुए जरा आदि से अ-मुक्त होकर ही किए।'

पुण्णक--'जिन किन्हीं ने यज्ञ कलिपत किये, भगवन्! क्या वे यज्ञ पथ में अप्रमादी थे? हे मार्ष! क्या वे जन्म-जरा को पार हुए? हे भगवन्! तुम्हें यह पूछता हूँ, मुझे बताओ।'

भगवान्--'वे जो आशंसन करते, स्तोम करते, अभिजल्प करते, हवन करते हैं सो लाभ के लिए कामों को ही जपते हैं। वे यज्ञ के योग से, भव के राग से रक्त हो जन्म-जरा को पार नहीं हुए, ऐसा मैं कहता हूँ।'

पुण्णक--'हे मार्ष! यदि यज्ञ के योग से, यज्ञों द्वारा जन्म-जरा को पार नहीं हुए, तो मार्ष! फिर लोक में कौन देव जन्म-जरा को पार हुए? तुम्हें पूछता हूँ। हे भगवान् इसे बतलाओ।'

भगवान्--'लोक में वार पार को जान कर जिसे लोक में कहीं भी तृष्णा नहीं, जो शांत, दुश्चरित-रहित, रागादि विरत, आशारहित है, वह जन्म जरा को पार कर गया, कहता हूँ[1]'। उपर्युक्त संवाद और उपदेश इतना सरल और स्वयं व्यख्यात है कि इसे व्याख्या की अपेक्षा नहीं। लेन-देन रूपी व्यापार की भावना पर प्रति-

(१) सुत्तनिपात ५।३ (पुण्णक माणव पुच्छा)

ष्ठित[1] याज्ञिक धर्म के समर्थक तृष्णा के उच्छेदकशाक्यमुनि कभी नहींहोसकते । भगवान् बुद्ध के अनुसार वैदिक कर्मकाण्ड विशुद्धि का मार्ग नहीं है। नन्द ब्राह्मण (बावरि का एक शिष्य) भगवान् से पूछताहै 'लोग कहते हैं कि 'लोक में मुनि हैं।' तो यह कैसे ? उत्पन्न-ज्ञान को मुनि कहते हैं या कठिन तपयुक्त जीवन से युक्त को ।

भगवान्—न दृष्टि (मत) से, न श्रुति से, न ज्ञान से नन्द ! कुशल जन किसी को 'मुनि' कहते हैं। जो विष-सा मानकर लोभरहित, आशारहित, हो विचरते हैं, उन्हें मैं मुनि कहता हूँ।

नन्द—'कोई कोई श्रमण-ब्राह्मण इष्ट या श्रुत से शुद्धि कहते हैं, शील और व्रत से भी शुद्धि कहते हैं, अनेक रूप से शुद्धि कहते हैं मार्ष ! भगवन् ! वैसा आचरण करते क्या वे जन्म-जरा से तर गए होते हैं? भगवान्, इसे मुझे बतलाओ'

भगवान्—'जो कोई श्रमण-ब्राह्मण इष्ट और श्रुत. ..वे जन्म-जरा को नहीं तरे

नन्द—'. . .यदि मुनि उन्हें ओघ से न पार हुआ कहते हैं, तो देव ! मनुष्य-लोक में कौन जन्म-जरा को पार हुआ ? हे मार्ष। तुम्हें पूछता हूँ, इसे मुझे बतलाओ।'

भगवान्—'मैं सभी ब्राह्मणों को जन्म-जरा से निवृत्त नहीं कहता। जो कि इष्ट, श्रुत, स्मृत, शील, व्रत सभी छोड़, सभी अनेक रूपों को छोड़ तृष्णा को त्याग, अनास्रव हैं, उन नरों को मैं ओघ-पार कहता हूँ[2]"।

भगवान् का दृष्टिकोण अत्यन्त ही स्पष्ट है। न तो वैदिक कर्मकाण्ड के करने और न करने में ही वें विशुद्ध का मार्ग देखते हैं, वह तो पंथ ही। दूसरा है जो तृष्णा के सम्यक् निरोध से ही और अपने तीव्र प्रयत्न द्वारा ही प्राप्तव्य है। 'मागन्दिय ! न दृष्टि से, न श्रुति से, न ज्ञान से, न शील से, न व्रत से शुद्धि कहता हूं, अ–दृष्टि, अ–श्रुति, अ–ज्ञान, अ–शील, अ–व्रत से भी नहीं[3] । 'कर्म और श्रुति से भी मुक्ति पद नहीं ले जाया जा सकता। वह तो

---

(१) 'तुम मुझे यह दो, मैं तुम्हें यह देता हूँ' इस भावना पर प्रायः समग्र याज्ञिक विधान प्रतिष्ठित है, देखिए वाजसनेयि संहिता ३।५०; शतपथ ब्राह्मण २।५।३।१९

(२) नन्द-माणव पुच्छा, सुत्त निपात ।

(३) सुत्तनिपात ४।९

तृष्णा आदि निवेशनों में अप्राप्त है।' यही तत्व भगवान् ने एक और स्थान पर भी एक याज्ञिक ब्राह्मण को सिखाया जो उपनिषदों के ऋषियों के ही समान है और उनकी परम्परा की ओर संकेत करता हुआ भी कहा जा सकता है। 'ब्राह्मण! लकड़ी जला कर शुद्धि मत मानो, यह बाहरी चीज है। कुशल लोग उससे शुद्धि नहीं बतलाते, जो कि बाहर से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण! मैं दारुदाह छोड़ भीतर ही ज्योति जलाता हूँ। नित्य आगवाला, नित्य एकान्त चित्तवाला हो, मैं ब्रह्मचर्य पालन करता हूँ। ब्राह्मण! यह तेरा अभिमान खरिया का भार (खारिभार है) है, क्रोध धुवाँ है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है, और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण! शील तीर्थ (घाट) वाला, सन्तजनों से प्रशंसित, निर्मल धर्म ह्रद है, जिसमें कि 'वेदगू' (वेदज्ञ) नहा कर बिना भीगे गात्र के पार उतरते हैं। यह ब्रह्म प्राप्ति सत्य, धर्म, संयम, ब्रह्मचर्य पर आश्रित है। सो तू ऐसे हवन कियों को नमस्कार, उनको मैं पुरुष-दम्य-सारथी (पुरुषों को नम्र बनाने के लिये सारथी-स्वरूप) कहता हूँ[1]'। ऐसे 'कुशल लोग', 'ऐसे हवन किए हुए' कौन हैं। निश्चय ही औपनिषद ऋषि जिन्होंने मार्ग पहले सिखाया। पशुहिंसामयी निकृष्ट तपस्या तो बुद्ध को ही नहीं सभी भारतीय हृदय के लिए घृणा की वस्तु है, किन्तु वास्तविक 'द्रव्य यज्ञ' को भगवान् बुरी वस्तु नहीं समझते थे और अधिकतर प्रवृत्ति तो उनकी यज्ञादिकों को नैतिक व्याख्या प्रदान करने की थी जैसी कि उपनिषदों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रदान करने की थी[2]। एक आदर्श द्रव्ययज्ञ का वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं 'ब्राह्मण! इस यज्ञ में गौएं नहीं मारी गईं,

---

(१) सुत्तनिपात ३।४ । मिलाइ।ये सुन्दरिका भारद्वाज सुत्त (संयुत्त० ७।१।९) भी; मिलाइये 'बहुत से जन यहां नहा रहे हैं, किन्तु पानी से शुद्धि नहीं होती। जिसमें सत्य और धर्म हैं, वही शुचि है, वही ब्राह्मण है' जटिलसुत्त, उदान १।९ तथा 'जो सत्य से दान्त, जितेन्द्रिय, वेद के अन्त को पहुँचा (वेदन्तगू) है तथा जिसने ब्रह्मचर्य समाप्त किया है, उसे यज्ञ-उपनीत कहो'। संयुत्त ७।१।९

(२) देखिएबौद्ध दृष्टिकोण के लिए कूटदन्त सुत्त (दीघ० १।५); सोलह परिष्कारोंवाली यज्ञ सम्पदा के लिए देखिए उपर्युक्त ही; देखिए सुत्त-निपात भी।

बकरे-भेड़ें नहीं मारे गए, मुर्ग सूअर नहीं मारे गए, न नाना प्रकार के प्राणी मारे गए। न यूप के लिए वृक्ष काटे गए। जो भी उसके दास, प्रेष्य, कर्मकर थे उन्होंने भी दंड तर्जित, भय तर्जित हो, अश्रुमुख रोते हुए सेवा नहीं की। जिन्होंने चाहा उन्होंने किया, जिन्होंने नहीं चाहा उन्होंने नहीं किया। जो चाहा सो किया, जो नहीं चाहा सो नहीं किया। घी-तेल, मक्खन, दही, मधु, गुड़ से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ[1]।' यज्ञों की विशद्धि करनेवाले बुद्ध को उनका निन्दक किसने बताया? उन वेद के अन्त को पहुंचे हुए' ('वेदन्तगू') महात्मा को वेद के विरुद्ध बताना किस दार्शनिक सर्वभौम की करतूत है? उस 'वेदगू' '(वेदज्ञ') के सामने बावरि जैसे मंत्र-निष्ठ, वेद-पारंगत ब्राह्मण और उनके शिष्य भी तो अपनी शंकाओं को मिटानेवाले हुए। यदि बहुत से विचारक ब्राह्मणों का बुद्ध के काल में ही यज्ञयागादिमय क्रिया-कलाप छूटा तो यह सब उनके ज्ञान के कारण ही तो हुआ। महान् अग्निहोत्री उरुवेल काश्यप की ही गवाही सुनिए। भगवान् उससे पूछते हैं 'क्या देखकर हे उरुवेल वासी! तपःकृशों के उपदेशक! तूने आग छोड़ी? काश्यप! तुमसे यह बात पूछता हूँ, तुम्हारा अग्निहोत्र कैसे छूटा?"। "शब्द और रस में, कामभोगों में, स्त्रियों में, कामेष्टि यज्ञ कहते हैं"। काश्यप ने उत्तर दिया "ये रागादि उपाधियां मल हैं, मैंने यह जान लिया, इसलिए मैं इष्ट और हुत से विरत हुआ। मुझे 'जो कुछ समुदय धर्म है, वह निरोध धर्म है', यह निर्मल धर्मचक्षु उत्पन्न हुआ,।" भगवान् ने फिर पूछा 'हे काश्यप! रूप, शब्द और रस में तेरा मन नहीं रमा, तो देव-मनुष्य-लोक में कहां तेरा मन रमा? हे काश्यप! इसे मुझे बता"। "काम मद में अविद्यमान, निर्लेप, शांत, रागादिरहित, निर्वाणपद को देखकर, निर्विकार, दूसरे की सहायता से न पार होनेवाले निर्वाण पद को देखकर मैं इष्ट और हुत विरत हुआ[2]।" विशुद्ध ज्ञान पर प्रतिष्ठित बुद्ध के विचार की वैदिक कर्मकांड के प्रति क्या प्रतिक्रिया हो सकती थी, इसकी एक झलक इस तरह हमने देखी। आचरण पर ही धर्म की बुनियाद माननेवाले वे भगवान् उससे

---

(१) कूटदन्तसुत्त (दीघ० १।५); वेद में प्राणिहिंसा मौलिक नहीं। किन्तु बाद में डाली गई है, इस दृष्टिकोण के लिए देखिए चंकिसुत्त-अट्ठकथा, बुद्धचर्या पृष्ठ २२४

(२) देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ३६; विनय पिटक—महावग्ग १ भी द्रष्टव्य।

विहीन तत्कालीन ब्राह्मणों की बढ़ बढ़ कर बनाई हुई बातों को क्या महत्व दे सकते थे ? 'ये त्रैविद्य ब्राह्मण जो ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं उनको छोड़कर पाँच काम-गुणों को भोग करते हुए, काम के बंधन में बंधे हुए, काया छोड़ने पर मरने के बाद ब्रह्मा की सलोकता को प्राप्त होंगे, यह संभव नहीं'।[१] ब्रह्मा की सलोकता का उपदेश तो स्वयं भगवान् बुद्ध ने दिया है । धन्य उनकी विशाल हृदयता ! महान् उनकी समन्वयात्मिका बुद्धि और ब्रह्मवाद की जीवन-व्याख्या ! 'त्रैविद्य ब्राह्मण बेरास्ते जा फँसे हैं, फंसकर विषाद को प्राप्त हैं। सूखे में मानो तैर रहे हैं। इसलिए त्रैविद्य ब्राह्मणों की विद्या वीरान भी कही जाती है, विपिन भी कही जाती है, व्यसन भी कही जाती है'। यह भी निर्भीक शास्ता ने कहा और यह किसी के प्रति निन्दा की आवाज नहीं थी, किन्तु सत्य की पुकार थी जो तथागत की अनुभूति पर प्रतिष्ठित थी। सम्यक् सम्बुद्ध के समय के ब्राह्मण जो कुछ भी उनके ग्रंथों में सर्वोत्तम तत्व था उसे अपने में मूर्तिमान् नहीं दिखा सकते थे, किन्तु बुद्ध और उनके भिक्षुओं में वही मूर्तिमान् देखने को वे विवश थे, अतः बुद्ध को हमें एक पूर्णता प्रदान करनेवाले के रूप में ही देखना चाहिए, विनाशक या निन्दक के रूप में कभी नहीं। जब वास्तविक जीवन ही हमारे पास नहीं तो समग्र भारतीय दर्शन की वाणी भी कहती है कि कोई भी धर्मग्रंथ अथवा बाह्य अध्ययन या कर्मकांड हमारा कुछ नहीं कर सकता। 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति'। यह वेद ने भी तो कहा है तो फिर सम्यक् सम्बुद्ध के ही इस

(१) तेविज्जसुत्त (दीघनिकाय १।१३)

(२) 'वाशिष्ठ ! मनसाकट में उत्पन्न और बढे हुए मनुष्य को मनसाकट का मार्ग पूछने पर देरी या जड़ता हो सकती है, किन्तु तथागत को या ब्रह्मलोक जानेवाला मार्ग पूछने पर देरी नहीं हो सकती। वाशिष्ठ ! मैं ब्रह्मा को जानता हूँ, ब्रह्मलोक को और ब्रह्मलोकगामिनी प्रतिपद् को भी और जैसे मार्गारूढ़ होने से ब्रह्म लोक में उत्पन्न होता है उसे भी जानता हूँ। जैसे वाशिष्ठ ! बलवान् शंखध्मा थोड़ी ही मिहनत से चारों दिशाओं को गुंजा देता है, वाशिष्ठ ! इसी प्रकार मित्र-भावना से भावित चित्त की विमुक्ति से जितने परिमाण से काम किया है वह यहीं अवशेष नहीं हो जाता। यह भी वाशिष्ठ ! ब्रह्मा की सलोकता का मार्ग है'। तेविज्ज सुत्त (दीघ०१।१३)।

कहने में क्या वेद-निन्दा है 'त्रैविद्य ब्राह्मण जो ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं उनको छोड़कर जो अ-ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं, उनसे युक्त होकर कहते हैं, हम इन्द्र को आह्वान करते हैं, हम ब्रह्मा को आह्वान करते हैं, महर्द्धि को आह्वान करते हैं, यम को आह्वान करते हैं, वाशिष्ठ! ये त्रैविद्य ब्राह्मण जो ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं, उनको छोड़कर आह्वान के कारण काया छोड़ने पर मरने के बाद ब्रह्मा की सलोकता को प्राप्त हो जायेंगे, यह संभव नहीं[१]।' 'ब्रह्मसम' होने का मार्ग तो विशुद्धतम जीवन की प्रतिष्ठा पर ही हो सकता है[२]। और उसी का प्रख्यापन भगवान बुद्ध का एक मात्र विषय है। वैदिक प्रज्ञान में श्रद्धा भगवान् के अनुसार सत्य की अनुरक्षा मात्र कर सकती है और फिर भी जबकि वह एकांश से 'यही सत्य है और सब झूठा' कहनेवाली न हो, किन्तु 'सत्य' का बहुकारी धर्म तो उनके अनुसार 'प्रधान' ही है। 'भारद्वाज! सत्य प्राप्ति का बहुकारी धर्म 'प्रधान' है। यदि प्रधान (प्रयत्न) न करे तो सत्य को भी प्राप्त न करे। चूंकि 'प्रधान' करता है, इसीलिए सत्य को पाता है, इसलिए सत्य-प्राप्ति के लिए बहुकारी धर्म प्रधान है[३]।" इस प्रकार बुद्ध के प्रज्ञान के साथ वैदिक कर्मकांड के संबंध को हमने देखा। अब वेद-प्रामाण्य के विषय में कुछ कहना अपेक्षित है। ब्राह्मण ग्रंथों ने वेद को अपौरुषेय और नित्य होने का महत्व दे दिया, यह हम पहले देख चुके हैं, किन्तु हमें इस विषय में यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं वैदिक साहित्य में ही इस स्थिति के विरुद्ध अनेक वचन भरे पड़े हैं, जिनको यदि साम्प्रदायिक दृष्टि से नहीं किन्तु निष्पक्ष तात्विक बुद्धि से हम देखें (उत्तरकालीन व्याख्याकारों की चतुरता से भरी हुई युक्तयों के द्वारा नहीं) तो हम इस निष्कर्ष पर आए बिना नहीं रह सकते कि कुछ ऋषि निश्चय ही वेदों को पूर्वज ऋषियों की कृतियां मानते थे और मानते थे कि उनमें मानवीय भावनाओं का प्रकाशन है।[४] इस विषय पर यहां अधिक

---

(१) तेविज्जसुत्त (दीघ० १।१३); जिन ऋचाओं की ओर यहां संकेत है उनके लिए देखिए ऋ० १।३५।१; यजु० ३४।३४-३५

(२) देखिए द्रोणसुत्त (अंगुत्तर० ५।४।५।२)

(३) चंकिसुत्त (मज्झिम० २।५।२), देखिए बुद्धचर्या पृष्ठ २२६

(४) देखिए ऋ० १।११७।२; २।३५।२; १०।६७।१; ६।४७।३ जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि अनेक वैदिक ऋषि ऋचाओं को ईश्वरकृत नहीं

कहने की जरूरत नहीं है। वेद या किसी भी ग्रंथ के स्वतः प्रमाण को मान लेने का सबसे अधिक और ग्राह्य हेतु यही हो सकता है कि वह सत्य की विनम्र गवेषणा का और अनुभव सम्पन्न महात्माओं की अनुभूतियों के नीचे ही अपनी बुद्धि को रखने का परिचायक हो सकता है, ताकि बुद्धि के द्वारा किए हुए विवेचन जो कभी कभी अवाञ्छनीय मार्गों में भी जा सकते हैं वहाँ से बचे रहें और अध्यात्य साधना विनष्ट न होजो कि भारतीय दर्शन की एक अन्यतम प्रवृत्ति है। इससे अतिरिक्त यदि और किसी हेतु से वेद या अन्य किसी ग्रंथ की स्वतः प्रामाण्य जैसी कोई बात कही जाती है तो निश्चय ही हम कह सकते हैं कि वह मानवीय बुद्धि की जड़ता की पहली निशानी है, जैसा कि हम आचार्य धर्मकीर्ति के वाक्य को पहले भी उद्धृत कर चुके हैं। भगवान् बुद्ध स्वयं अनुभव सम्पन्न महात्मा हैं, उन्होंने अपने अनुभव से सब कुछ पा लिया है, उन्हें वैदिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। साधना की चट्टान पर खड़े होकर जब उन्होंने स्वयं ही कह दिया

'ज्ञातव्य को जान लिया, भावनीय की भावना कर ली।
परित्याज्य को छोड़ दिया, अतः हे ब्राह्मण ! मैं 'बुद्ध' हूँ'[1]।

तो फिर उन्हें वेद या अन्य किसी ग्रंथ के प्रमाण की क्या आवश्यकता हीर, 'इतिह' 'इतिह,' कहकर आचार्यों के समान प्रमाण देने का क्या कारण रहा, स्वयं उनको तो वे सत्य की अपरोक्ष अनुभूति करानेवाले हुए। हेमक माणव (बावरि के सोलह शिष्यों में से एक) गिड़गिड़ाकर पूछता है 'पहलों ने मुझे बतलाया था 'ऐसा था' 'ऐसा होगा'। वह सब 'ऐसा' 'ऐसा' (इतिह इतिह) है और तर्क बढ़ानेवाला है। हे मुनि ! मेरा मन उसमें नहीं रमा, । हे मुनि ! तुम तृष्णा विनाशक धर्म मुझे बतलाओ जिसको जानकर, स्मरण कर, आचरण कर लोक में तृष्णा को पार होऊं'। भगवान् के समाधान किया 'हे हेमक ! यहां इष्ट, श्रुत, स्मृत और विज्ञात में छन्द (राग) का हटाना ही अच्युत निर्वाण पद है। इसे जानकर, स्मरण कर, इसी जन्म में निर्वाण प्राप्त उपशान्त होते हैं और लोक में तृष्णा को पार कर जाते हैं'[2]। फिर भगवान् का मन्तव्य तो अत्यन्त उदार भी है। जैसा कि

किन्तु अपने अथवा अपने पूर्वजों के द्वारा रचित मानते थे। देखिए राधाकृष्णन्: इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ १२९, पदसंकेत ५

(१) सेलसुत्त (मज्झिम० २।५।३)

(२) हेमक माणव पुच्छा—सुत्तनिपात ५।८

उन्होंने 'कालामों' को बताया कि जो कोई भी सिद्धांत या मार्ग उनको बुद्धि के अनुकूल जान पड़े और जिससे जीवन का परिष्कार हो वह ग्राह्य होने चाहिए फिर चाहे वह कहीं से भी क्यों न आए हों[१]। इस प्रकार यदि वेद मार्ग सही है तो उसके स्वीकार करने में भी बुद्ध को क्या आपत्ति हो सकती है? प्रजापती गौतमी से भी तो भगवान् ने कहा कि जिन धर्मों को तू अपने लिये उठाने वाले समझे अर्थात् जो धर्म विराग, निरोध और विमुक्ति के लिए हों उन्हें तू ग्रहण करना और जो इनसे विरुद्ध हों उनको छोड़ना[२]। तो फिर वेद मार्ग यदि शांति और मुक्ति के लिए ही हैं तो बुद्ध का उसमें क्या विवाद हो सकता है? निरुक्तियों के पीछे तथागत नहीं पड़ते, उनका उद्देश्य तो मनुष्य को अपने वास्तविक महत्व की अनुभूति और साक्षात्कार ही कराना है, विवाद उनका काम नहीं है। हे ब्राह्मण! यह सत्य है, यह किससे कहे', 'यह झूठ है' यह किससे विवाद करे! जिसमें सम विषम नहीं है वह किससे विवाद करे। जो काम से शून्य, अपने लिए भविष्य को न बनाने वाला है, वह मुनि लोक से विग्रह की कथा

---

(१) कालाम नामक क्षत्रियों से भगवान् ने कहा 'आओ कालामो! मत तुम अनुश्रव से, मत परम्परा से, मत 'ऐसा ही है' से, मत पिटक-सम्प्रदाय से, मत तर्क के कारण से, मत नय (न्याय) के हेतु से, मत वक्ता के आकार के विचार से, मत अपने चिर विचारित मत के अनुकूल होने से, मत वक्ता के भव्य रूप होने से, मत श्रमण हमारा गुरु (बड़ा) है, इस कारण से, विश्वास करो, किन्तु जब कालामो! तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म अकुशल, ये धर्म सदोष, ये धर्म विज्ञ-निन्दित हैं, ये ग्रहण किए जाने पर अहित के लिए, दुःख के लिए होते हैं, तब कालामो। तुम छोड़ देना'। केसपुत्तिय सुत्त (अंगुत्तर० ३।७।५) बुद्धचर्या, पृष्ठ ३४७

(२) 'गौतमी! जिन धर्मों को तू जाने कि ये सराग के लिए हैं, विराग के लिए नहीं,......इच्छाओं के बढ़ाने के लिए हैं, घटाने के लिए नहीं;..... अनुद्योगिता के लिए हैं, उद्योगिता के लिए नहीं......, तो तू गौतमी! सोलहों आने जानना कि, न वह धर्म है, न विनय है, न शास्ता का शासन है।' पजापती सुत्त (अंगुत्तर० ८।२।१।३) बुद्धचर्या, पृष्ठ ८१

नहीं कहता[१]।' 'न अपने धर्म की प्रशंसा करना, न परधर्म की निन्दा करना[२], यह तथागत का ही नहीं समग्र भारतीय विचार का ही उपक्रम है। तथागत की तो बात क्या, उनके मार्ग पर चलनेवाले अशोक और हर्ष जैसे सम्राटों ने भी इस प्रवृत्ति को कितना दिखलाया, इसका इतिहास साक्षी है। भगवान् के वे शब्द हिन्दु-धर्म के लिए चिरस्मरणीय हैं जिनमें उन्होंने 'यज्ञों में मुख्य अग्निहोत्र और छंदों में मुख्य सावित्री'[३] को बताया है। किन्तु तत्व के निरूपण में उन्होंने सम्यक् विचार और निष्पक्ष-चिन्तन को ही प्रधान बताया है और जिस प्रकार वैदिक प्रज्ञान उसी प्रकार बुद्ध के उपदेशों से भी इसी प्रकार सत्य को हमें निकालना है, यही तथागत का वाद है। 'यहां एक शास्ता आनुश्रविक (अनुश्रव, श्रुति) को सत्य माननेवाला होता है। श्रुति में ऐसा, स्मृति में ऐसा, परम्परा से, पिटक-सम्प्रदाय (ग्रंथ-प्रमाण) से वह धर्म का उपदेश करता है', इसके विषय में हम क्या मत लें, यह प्रश्न बुद्ध के काल की तरह आज भी किया जा सकता है और इसके लिए 'विभज्य-वादी' बुद्ध का यही स्पष्ट उत्तर है जो वैदिक प्रज्ञान के सम न अन्य किसी प्रज्ञान के लिए भी सुप्रयुक्त हो सकता है---सन्दक ! आनुश्रविक को सत्य मानने वाले शास्ता का अनुश्रव सु-श्रुत भी हो सकता है, दुःश्रुत भी, यथार्थ भी हो सकता है, अयथार्थ भी हो सकता है' अतः एकांश से किसी भी ग्रंथ में श्रद्धा कैसे की जाय कि यही 'सत्य है और सब झूठा'। फिर तर्क से भी तो ऐसा नहीं किया जा सकता। 'सन्दक ! तार्किक, विमर्शक (वीमंसक) शास्ता का विचार सु-तर्कित भी हो सकता है, दुष्ट रूप से तर्कित भी, यथार्थ भी हो सकता है, अयथार्थ भी[४]।' अतः सत्य के निर्णय में तथागत के अनुसार भी स्वानुभूति ही अंतिम प्रमाण ठहरती है, जिसके लिए ही अन्ततः वेदके प्रमाण का भी

(१) देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ११७। मिलाइये वेद की परम्परा में भी, 'विवदत्स्वेव निक्षिप्य विरोधोद्भव कारणम्। तैः संरक्षितसद्बुद्धिः सुखं निर्वाति वेदवित्' प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न ६ पर शांकर भाष्य में उद्धृत।

(२) सन्दकसुत्त (मज्झिम० २।३।६), बुद्धचर्या, पृष्ठ २६५

(३) सेलसुत्त (मज्झिम० २।५।३)

(४) सन्दकसुत्त (मज्झिम० २।३।६), बुद्धचर्या, पृष्ठ २६३-६४; तर्क या श्रुतके द्वारा ही केवल सत्य को निकालने की चेष्टा को भगवान् ने 'अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य' कहा है, इससे आश्वासन मिलने की आशा नहीं।

उपयोग है। अतः तथागत विनाशक न ठहर कर पूरक की ठहरते हैं। यह तो कर्मकांड और वेद के प्रमाण की बात रही। जब नैतिक क्षेत्र में हम आते हैं तब तो बुद्ध के विचार की एक अद्भुत विजय हम देखते हैं। यह कहना गलत है कि ब्राह्मण-ग्रंथों में सिवाय यज्ञयागादिमय विधानों के और कुछ है ही नहीं। परम ज्ञान का वर्णन वे भी करते हैं और 'आरण्यकों' में तो इसकी तरफ विशेष ही प्रवृत्ति है। ये प्रवृत्तियाँ निश्चय ही बुद्ध के विचार के अधिक अनुकूल हैं। 'सर्वमेध' जैसी वस्तु का जब क्षतपथ ब्राह्मण आध्यात्मिक वर्णन करता है[१], 'सत्य' के आचरण के द्वाराही जब वह देवताओं को प्रसन्न किया हुआ मानता है[२] और जब वह कहता है कि यज्ञों के द्वारा ही सत्य प्राप्तव्य नहीं किन्तु उसके लिए ज्ञान अवश्यक है[३] जिसके बिना यज्ञ करना भी मृत्यु के आवर्त में ही चक्कर लगाना है[४] और आत्मयज्ञ ही श्रेष्ठतम है, श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है[५]। तो हम कह सकते हैं कि वह उपनिषदों की भावना की तरफ जा रहा है जिसके ही बुद्ध निदर्शक और आगे बढ़ानेवाले हैं। जब कामनाओं की प्राप्ति से भी एक उच्चतम उद्देश्य स्वीकार कर लिया जाय[६] जब देवताओं का देवत्व भी तपस्या के कारण ही प्राप्तव्य में न लिया जाय[७] तो यह मनुष्यत्व की महिमा का ही विकास है[८]। और यही बुद्ध के विचार का भी अपर नाम है। कर्म के अनुरूप ही पुनर्जन्म की भावना भी बुद्ध-दर्शन के अनुकूल

---

(१) शतपथ ब्राह्मण १३।७।१।१

(२) देखिए शतपथ ब्राह्मण १।१।१।४; १।१।१।५; ३।३।२।२; ३।४।२।८; २।२।२।१९

(३) देखिए शतपथ ब्राह्मण १०।३।४।१५

(४) देखिए शतपथ ब्राह्मण १०।४।३।१०; १०।१।४।१४; १०।२।६।१९; १०।५।१४; ११।४।३।२०

(५) देखिए ऐतरेय ब्राह्मण ११।२।६; शतपथब्राह्मण १।७।१।५

(६) देखिए शतपथ ब्राह्मण १०।५।४।१५; इन सब भावनाओं के कारण पौरोहित्य की महिमा निश्चय ही घट गई, किन्तु फिर भी जातिवाद तो रहा ही, बुद्ध की 'चातुर्वर्णी शुद्धि' जिसके संस्कार के लिये प्रवृत्त हुई।

(७) देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।३

(८) देखिए शतपथ ब्राह्मण २।६; १२।९।११; कृतं लोकं पुरुषोऽभिधायते। मिलाइये 'प्राणी तो वहीं जाता है, जहां उसका कर्म जाता है' बुद्ध-वचन।

है। अतः इन बातों में विभेद नहीं है। अब हम उपनिषदों के साथ बुद्ध-दर्शन के सम्बन्ध के महत्वपूर्ण विषय पर आते हैं।

इस विषय पर आते ही सबसे पहले तो हमें यह कह देना चाहिए कि बुद्ध के समय में उपनिषदों की परम्परा एक जीवित परम्परा नहीं थी, किन्तु फिर भी बहुत से विज्ञ लोग उनमें से बहुत से परिचित थे और उनके विषय में भगवान् से प्रश्न भी करते थे, संलाप भी करते थे। एक व्यक्ति ने पूछा था 'हे गौतम ! मार्ग-अमार्ग के संबंध में ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण, छन्दावा ब्राह्मण, ब्रह्मचर्य ब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मण नाना मार्ग बतलाते हैं। तब भी वे वैसा करनेवाले को ब्रह्मा (ब्रह्म?)[१] की सलोकता को पहुंचाते हैं। जैसे हे गौतम ! ग्राम या निगम के अदूर में नाना मार्ग होते हैं, तो भी वे सभी ग्राम में ही जानेवाले होते हैं। ऐसे ही हे गौतम! '......'[२]। इसी प्रकार 'तैत्तिरीय ब्रह्मचर्य' का भी वर्णन आया है[३]। बुद्ध के काल में जिस प्रकार 'सोम को पीकर हम अमृत हो गए[४]' इस प्रकार गानेवाले लोग भी थे, उसी प्रकार 'प्लवा ह्येते अदृढ़ाः यज्ञरूपाः'[५] का निर्घोष करनेवाले कुछ स्वतन्त्रचेता ज्ञानी ब्राह्मण भी थे। इन दूसरे प्रकार के मनीषी विचाकों ने ही पुरा काल में औपनिषद ज्ञान का प्रादुर्भाव किया था और उन्हीं के दर्शन से अब हमें बुद्ध के मन्तव्य को मिलाना है।

इस विषय में सबसे पहले तो हमें यही देखना चाहिए कि 'उपनिषद्' शब्द से उस विद्या का तात्पर्य होता है जिसके द्वारा अविद्या आदि संसार के बीज का विशरण, हिंसन अर्थात् विनाश किया जाता है।[६] 'निचाय्य तं मृत्युमुखात्

---

(१) त्रिपिटक में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग न होकर 'ब्रह्मा' शब्द का ही प्रयोग हुआ है, हाँ सामासिक पदों में तो 'ब्रह्म' अवश्य ही हो गया है, यथा 'ब्रह्मसम' 'ब्रह्मप्राप्ति' आदि में। देखिए ('ब्रह्मसम' के लिए) द्रोणसुत्त (अंगुत्तर० ५।४।५।२)

(२) तेविज्ज सुत्त (दीघ० १।१३)

(३) चुल्लवग्ग ६।२; देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ७४

(४) ऋ० ८।४८।३

(५) मुण्डक० १।२।७।८

(६) ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यां उपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति

प्रमुच्यते[१]'। (उसे साक्षात् जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है)। 'ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः'[२]। ब्रह्म को प्राप्त हुआ पुरुष विरज और विमुक्त हो गया, ये उपनिषदों की ही वाणियां हैं। अतः दुःख निवृत्ति के उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त होने वाली उपनिषदें उन 'वेदगू' (वेदज्ञ) बुद्ध के मन्तव्य से विभिन्न प्रयोजन की प्रतिज्ञा लेकर प्रवृत्त नहीं होतीं। इन दोनों के पन्थाः में भी कोई विशेष भेद नहीं, यह हम अभी एक-एक क्षेत्र को लेकर देखेंगे। वृथा ही अभूत को तो भूत करके दिखाना नहीं होगा, और जहां विभिन्नताएं और विशेषताएं भी दृष्टिगोचर होंगीं (और वे अनेक स्थानों पर होंगीं) तो उनको भी निष्पक्ष भाव से दिखाया ही जायगा। सत्य भी जब वैसा ही होगा, तो फिर हम कौन होते हैं? 'तत्र के वयम्'। अस्तु, औपनिषद ज्ञान या तो अनेक ऋषियों की कृति होने के कारण याउसके अतीत रहस्यात्मक मन्तव्य होने के कारण या समझनेवालों की भिन्न रुचियों, प्रवृत्तियों और अधिकार होने के कारण अपने परमार्थ स्वरूप में कुछ अनिश्चित, अस्पष्ट और बहु-स्वरूप है। तथागत का मन्तव्य तो एक ही व्यक्ति का विचार होने पर भी प्रायः वैसा ही था। फिर जिस प्रकार एक ही तथागत का मन्तव्य बाद में चलकर भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्यात किया गया, उसी प्रकार औपनिषद दर्शन के भी उत्तरकालीन पञ्चमुखी विकास की गाथा है। इस विकास की परम्परा पर हम इसी प्रकरण में आगे स्वतंत्र रूप से विचार करेंगे ही। जिस प्रकार 'विरुद्धार्थ प्रतिपत्ति' का गलत रूप से आरोप आचार्य शंकर ने सुगत पर लगाया है[३], उसी प्रकार (अथवा यों कहिए कि उससे भी अधिक---उपनिषदों में तो अनेक ही 'विरुद्धार्थप्रतिपत्ति' वाले उपदेश सहज ही में मिल जाने से) वह उपनिषदों के दर्शन पर भी सुप्रयुक्त हो सकता है।

तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद् विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्या उपनिषदित्युच्यते। कठ० उप० पर शांकर भाष्य का प्रारम्भ। देखिए तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रारम्भ में भी शांकर भाष्य।

(१) कठ० १।३।१५

(२) कठ० २।३।१८

(३) सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्ध प्रलापित्वं...... विरुद्धार्थ प्रतिपत्त्या ....आदि ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।२।६।३२। इस विषय पर विशेष विवेचन के लिए देखिए आगे 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त'।

फिर समन्वय के प्रयत्न तो दोनों की ही परम्पराओं में विद्यमान हैं। शंकर, रामानुज और वल्लभ आदि के मन्तव्य यदि किसी एक ही औपनिषद सिद्धांत में विवेचित किए जा सकते हैं, तो क्या 'कथावत्थु'कार और 'मिलिन्दप्रश्न'कार ने ऐसा ही प्रयत्न बुद्ध के वास्तविक मत को जानने के लिए नहीं किया ? अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार 'विरुद्धार्थ प्रतिपत्ति' और समन्वय के प्रयत्न तो दोनों दर्शनों में ही विद्यमान हैं, ऐसा हमें जानना चाहिए। फिर विरुद्धार्थ-प्रतिपत्ति से समन्वय की दृष्टि दोनों ही जगह अधिक वीर्यवती है, ऐसा भी हमें भारतीय दर्शन का इतिहास बताता है। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'प्रतिपत्ति के भेद अथवा विनेय (शिष्यों) के भेद से', बुद्ध का एक दर्शन भी उत्तरकालीन परम्परा को लेकर 'बहुप्रकार' विवेचित किया जा सकता है,[1] उसी प्रकार औपनिषद दर्शन भी। मूल रूप में दोनों एक ही दर्शन हैं, अर्थात् एक ही बुद्ध-दर्शन और एक ही उपनिषद्-दर्शन और सभी आचार्यों और वादों को छोड़कर यहां केवल इन्हीं मूल दर्शनों के संबंध को विवेचित करना ही हमारा कार्य है। हां, एक बात अवश्य है और वह अप्रधान है, अर्थात् जब कि बुद्ध का दर्शन अपने प्रमाण के लिए केवल तथागत की अभिसंबोधि पर प्रतिष्ठित है, उपनिषद् के दर्शन की सच्चाई की गवाही याज्ञवल्क्य, उद्दालक, श्वेतकेतु, भारद्वाज, महीदास ऐतरेय, रैक्व, शांडिल्य, सत्यकाम जाबाल, जैवलि, गार्ग्यायिन, प्रतर्दन, बालाकि, अजातशत्रु, गार्गी, मैत्रेयी आदि अनेक साधक और साधिकाओं ने दी है। अर्थात् उन्होंने इसका आविर्भाव किया है। किन्तु यहां भी विभेद अल्प है। जिस प्रकार उपनिषदों के ऋषियों ने अपने नाम और रूप को छोड़, अपने कर्तृत्व के सभी अभिमान को छोड़, स्वयं अपने प्रज्ञानों में ही छिप जाना पसन्द किया है, उसी प्रकार तथागत ने भी अपने में कभी यह संकल्प नहीं आने दिया कि 'मैं' 'उपदेश दे रहा हूं।' दोनों ही एक उच्च अध्यात्म-लोक के निवासी हैं। तो फिर अब हम थूलताओं से सूक्ष्मताओं पर आते हैं।

(१) स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिभेदाद्विनेयभेदाद्वा। ब्रह्मसूत्र--शांकर भाष्य २।२।४।१८; मिलाइये इसी प्रसंग में 'सर्व दर्शनसंग्रह' का बौद्ध दर्शन सम्बन्धी विवेचनभी; मिलाइये 'देशना लोकनाथानां सत्वाशयवशानुगाः। भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः॥ गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभय लक्षणा। भिन्नापि देशनाभिन्ना शून्यताद्वय लक्षणा॥ नागार्जुन-कृत बोधिचित्तविवरण, भामती २।२।१८ में उद्धृत।

जो कोई भी दर्शन या विचार-पद्धति दुःख-निवृत्ति अथवा अमृतत्व की निष्पत्ति को अपना ध्येय बनाती है, मृत्यु के बंधनों को तोड़ अपार आनन्द की अनुभूति का यहीं उपदेश करना चाहती है, वह बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुखी ही हो सकती है। 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्व-मिच्छन्[१]।' इसी प्रकार 'भिक्षुओ! यह सामने वृक्षों की छाया है। ये एकान्त सूने स्थान हैं। भिक्षुओ! ध्यान लगाओ, प्रमाद मत करो[२]।' औपनिषद दर्शन और 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन दोनों ही समान रूप से अध्यात्मचित्ती हैं। समस्त ब्रह्मात्मविज्ञान और 'अभिधर्म' इसी पर अवस्थित है। इन दोनों की ही मंत्र और ब्राह्मणों के प्रति जो प्रतिक्रिया रही है उसे कुछ अब हम विवेचित करें जो इस प्रसंग में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमने देखा कि छन्दस् युग (ऋग्वेदीय युग के प्रथम स्तर) में ऋषियों ने ऋचाओं के द्वारा विभिन्न देवताओं की उपस्तुतियां कीं। फिर हमने देखा कि ब्राह्मण युग में इन्हीं ऋचाओं को लेकर कर्मकांड चल पड़ा जो प्रायः बाह्य स्वरूप का ही था। उपनिषत्कारों की इस परम्परा की ओर प्रवृत्ति क्या थी? जितना भी देवबहुत्व पाया गया उसका ब्रह्मात्मभाव के रूप में प्रख्यापन औपनिषद ऋषियों ने किया। केवल एक ही देव उन्होंने स्वीकार किया[३]। और उसे 'ब्रह्म' या 'तत्' रूप में पुकारा, स्त्रीलिंग या पुलिंग में नहीं। जब 'ब्रह्म' के ही सब अग्नि, वायु आदि देवता प्रस्फुरण हैं तो मनुष्य चाहे तो इनकी उपासना कर सकता है, और चाहे तो नहीं भी[४]। फिर मैं अन्य हूं और देवता अन्य है, ऐसी उपासना करना भी तो केवल देवों का पशु बन जाना है[५]! सब देव उसी के अधीन हैं, उसी को अर्पित हैं, जिसके भय से अग्नि जलती है और सूर्य चमकता है, मृत्यु जिसका उपसेचन है और जिससे अतीत कुछ भी नहीं[६]। इस

---

(१) कठ० २।१।१; तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ।

(२) अंगुत्तर-निकाय।

(३) बृहदारण्यक० ९।१

(४) देखिए बृहदारण्यक० १।४।६; १।४।७; १।४।१०; मैत्रायणी० ४।५-६; मुण्डक० १।१।१; तैत्तिरीय० १।५

(५) देखिए बृहदारण्यक० १।४।१०

(६) भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रस्य वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। कठ० २।३।३

प्रकार औपनिषद ऋषि संहिताओं की विभिन्न देवताओं की उपस्तुतियों को 'ब्रह्म' अथवा 'आत्मा' के एकीकरण में पर्यवसित कर देते हैं और यही उनकी महान् समन्वय-भावना भी है। सम्यक् सम्बुद्ध का दृष्टिकोण यहां कुछ अधिक तीव्र और मानवीय है। हम पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार संहिताओं का पाठ करने वाले और इन्द्र, ईशान आदि देवताओं का आह्वान करने वाले ब्राह्मणों को उन्होंने 'ब्राह्मण बनाने वाले धर्मों' में हीन होने के कारण फटकारा था और उनकी सभी विद्या को 'वीरान' विद्या, 'कान्तार' विद्या तक कहने का साहस किया था। यह ठीक है कि वेद ने भी आचरण और ज्ञान की प्रतिष्ठा रखने के लिए 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' ऐसा कह दिया हो, किन्तु केवल आचार तत्व अथवा विशुद्ध जीवन के हाथ ही समग्र बागडोर दे देना तो सम्यक् सम्बुद्ध का ही काम था। जब देवताओं के से धर्म ही मनुष्य में नहीं, तो 'ब्रह्मा की सलोकता' भी वह क्या प्राप्त करेगा और यही देवता के साथ सहधर्मता प्राप्त करना ही उपनिषद् की इस वाणी का कि 'जो देव अन्य है और मैं अन्य हूं, इस प्रकार की उपासना करता हैं वह देवों का पशु है' स्पष्ट तात्पर्य है। फिर देवताओं के अस्तित्व तक का भगवान् बुद्ध ने निराकरण नहीं किया किन्तु उसे स्वीकार ही किया। जिस प्रकार उपनिषदों ने देवत्व की आत्मा के क्षेत्र में ब्रह्मात्मभाव के प्रकाश में व्याख्या की उसी प्रकार हम कह सकते हैं कि बुद्ध ने उनकी नैतिक व्याख्या की। यह भी स्मरण रखना होगा कि कहीं-कहीं उनके नाम भी परिवर्तित कर दिये गये, किन्तु इतना ही क्या कम था कि बुद्ध के हाथों कम-से-कम उनका अस्तित्व ही रह गया! बुद्ध द्वारा मानवता की श्रेष्ठता के साक्ष्यस्वरूप यह क्या कम मिसाल है कि उन्होंने देवों का दर्जा मनुष्यों से ऊंचा नहीं रक्खा। किन्तु 'क्रीडाप्रदूषिक आदि देवों का अकुशल कर्म करने के कारण भव में पड़ जाना भी उन्होंने कहा[1],

---

(१) देखिए ब्रह्मजाल सुत्त (दीघ निकाय का प्रथम सुत्त) मिलाइये 'देवताओं में भी लोभ है। उनमें जो लोभ रहित हैं वे मनुष्य लोक में नहीं आते; जो लोभ सहित हैं वे मनुष्य लोक में आने वाले होते हैं। जो ब्रह्मा लोभ रहित है वह यहां नहीं आता, किन्तु जो लोभ सहित होता है, वह यहाँ आता है'। कण्णत्थलक सुत्त (मज्झिम० २।४।१०); महाब्रह्मा और और इन्द्र तक भी सारिपुत्र के परिनिर्वाण के समय उनकी सेवा के लिए

जबकि मनुष्य 'शांत' 'अत्यन्त' निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है! अब हम यज्ञ यागादि विधान की ओर दोनों की प्रवृत्तियों की तुलना पर आते हैं जो कि संभवतः इस प्रसंग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है। बुद्ध-मन्तव्य को तो हम इस प्रसंग में पहले प्रख्यापित कर ही आए हैं, इसलिए यहां विशेषतया उपनिषदों को ही लेंगे। याज्ञिक विधान में बुद्ध के समान ही औपनिषद ऋषियों का भी कोई विश्वास नहीं, किन्तु बुद्ध ने जब कि गंभीर वाणी से उनका प्रतिवाद किया है, औपनिषद ऋषियों ने अधिक समन्वयात्मक दृष्टिकोण लिया है, जिसका सर्वथाभाव, जैसा कि पीछे दिए हुए उस प्रसंग में उद्धरणों से स्पष्ट है, बुद्ध में भी नहीं है। औपनिषद ऋषि यागादि विधान को परमार्थ की प्राप्ति में आवश्यक उपाय नहीं मानते, हां, आश्रम और वर्णधर्मों की व्यवस्था स्वीकार कर संभवतः अधिकारिविभेद का विचार कर वे उसका पूर्णतः निराकरण भी नहीं करते। किन्तु यह सत्य है कि कहीं-कहीं पुरोहितों की खाने-पीने की प्रवृत्ति को लेकर उनको और उनके याज्ञिक क्रिया कलापों को एक घृणा की वस्तु बनाया गया है और एक स्थान पर तो उन्हें कुत्तों की एक पांत में जैसे खड़े भी दिखाया है, लोलुपता-पूर्वक कहते हुए 'ओमदा ओम् पिवा ओम देवो वरुणः' आदि (ॐ मुझे खाने दो, ॐ मुझे पीने दो, देव वरुण)[१]। यज्ञयागादि विधान हमें पितृलोक में भले ही पहुंचा दे, किन्तु अंतिम वस्तु तो उससे सिद्ध होती नहीं[२]। वास्तव में

उपस्थित हुए, देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१९; तथागत के महापरिनिर्वाण के समय देवों के दर्शनार्थ आने के लिए देखिए महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ २।३)। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी देवों की लोलुपता का बड़ा अच्छा वर्णन किया है! इन्द्र को श्‍वान' की उपमा देना कम-से-कम उस देव की वैदिक महिमा पर प्रतिष्ठित नहीं है।

(१) छान्दोग्य० १।१२।४-५; डायसन (फ़िलॉसफी आफ़ दि उपनिषद्स्, पृष्ठ ६२) और राधाकृष्णन् (इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ १४९) ने इस उपनिषद् की वाणी को इसी अर्थ में लिया है। कम-से-कम पूर्व रूप इसका यही रहा होगा, ऐसा विचार है। बाद के भाष्यकारों ने समन्वयात्मक भाव दिखाए हैं।

(२) देखिए छान्दोग्य० १।१।१०; मिलाइये बृहदारण्यक० १।५।१६; ६।२।१६; प्रश्न १।९; मुण्डक १।२।१०; छान्दोग्य ५।१०।३; छान्दोग्य, ६।७।२; ७।१

यज्ञादि की तरफ यदि सब उपनिषदों के दृष्टिकोण को हम संग्रहात्मक रूप से लें तो वह द्विविध ही दीखता है। एक तरफ तो उनके प्रति कुछ समझौते के भाव[1] और दूसरी तरफ उनकी निन्दा[2]। किन्तु वास्तव में जो प्रवृत्ति उपनिषदों की इस प्रसंग में प्रतिनिधि स्वरूप कही जा सकती है वह है उनके द्वारा यज्ञ को आध्यात्मिक रूप देना, उसके 'द्रव्यमय' स्वरूप को हटाकर अथवा उठाकर उसे एक 'ज्ञानमय' रूप में संनिविष्ट कर देना[3]। आरण्यकों ने इसी प्रवृत्ति की ओर पग बढ़ाए थे और उपनिषदों में तो इस प्रवृत्ति के अनेकउदात्त और काव्यमय वर्णन मिलते हैं। इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् मनुष्य को ही यज्ञ का रूप दे देती है और उसके समस्त क्रिया-कलापों को यज्ञ की ही विभिन्न क्रियाओं का रूप देती है[4]। इसी प्रकार अन्य अनेक उपनिषदों में यज्ञ को 'ज्ञानमय' स्वरूप प्रदान किया गया है, और समग्र जीवन को ही एक यज्ञ बनाने का आदेश दिया गया है[5]। ये स्थान इतने

---

(१) यथा कठ० १।१७; कठ० ३।२; श्वेताश्वतर० २।६-७ आदि।

(२) यथा बृहदारण्यक० १।४।१०; ३।९।६; ३।९।२१

(३) गीता में यही प्रवृत्ति परिपूर्णता प्राप्त कर लेती है। किन्तु प्रारम्भ तो इस प्रवृत्ति का ब्राह्मण-युग में ही हो गया था। शतपथ ब्राह्मण में हम स्थान-स्थान पर याज्ञिक प्रक्रिया की व्याख्या आध्यात्मिक अर्थों में देखते हैं, यथा दशपौर्णमास के विषय में 'ऐषा नु देवता दशपौर्णमासयोः सम्पत् अथाध्यात्मम्, आदि। मिलाइये यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शतपथ १।७।१।५; इसी प्रकार, एष वै महान्देवो यद्यज्ञः; यज्ञो वै बृहत् विपश्चित्; यज्ञो वै ब्रह्म; यज्ञो वै विष्णुः; यज्ञ उ देवानामात्मा; यज्ञ उ देवानामन्नम्, संवत्सरो वै यज्ञः; आत्मा वै यज्ञः; पुरुषो वै यज्ञः; रेतो वै यज्ञः; विराड् वै यज्ञः; आदि, आदि।

(४) देखिए समग्र तृतीय अध्याय ही 'अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा' इत्यादि।

(५) यथा देखिए बृहदारण्यक० ३।१।; छान्दोग्य० ४।१६; ऐतरेय-आरण्यक० ३।२।६; बृहदारण्यक० १।५।२३; छान्दोग्य० ५।११-२४; कौषीतकि० २।५ छान्दोग्य० ३।१६-१७; महानारायण० ६४; प्राणाग्नि० ३।४; बृहदारण्यक०४।।६ में पञ्च महायज्ञों को आत्मा के प्रति यज्ञ बताना, छान्दोग्य० ४।११-१४ में तीन अग्नियों को आत्मा के ही रूप बताना;

अधिक हैं कि पूर्णतया इनका उद्धरण कर इनकी प्रवृत्तियों को उनके मौलिक रूप में यहां नहीं दिखाया जा सकता। इस प्रकार उपनिषदों के चिन्तकों ने यज्ञ के बाह्य स्वरूप का निराकरण कर उन्हें एक आध्यात्मिक अर्थवत्ता प्रदान की थी। और यही कार्य क्या सम्यक् सम्बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा का यज्ञ के रूप में वर्णन कर नहीं किया, जब उन्होंने यह कहा कि 'ब्राह्मण ! यह तेरा अभिमान खरिया का भार (खरिभार) है, क्रोध धुवां है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है, हृदय ज्योति का स्थान है'। क्या वे अर्हत् सम्यक् संबुद्ध भी इस आर्य मार्ग से ही नहीं गए थे? औपनिषद परम्परा के ही वे प्रवर्तक नहीं हुए? जब उन्होंने यह कहा कि 'कुशल लोग उससे शुद्धि नहीं बतलाते जो बाहर से भीतर की शुद्धि है', तो क्या इसमें निर्दिष्ट 'कुशल' लोग औपनिषद मनीषी ही नहीं हो सकते? जब उरुवेल काश्यप ने यह साक्ष्य दिया कि 'काम-मद में अविद्यमान, निर्लेप, शांत, रागादिरहित, निर्वाण पद को देखकर, निर्विकार, दूसरे की सहायता से पार न होने वाले निर्वाण पद को स्वयं देखकर मैं इष्ट और हुत से विरत हुआ, तो क्या यही त ज्ञान के उपासक उपनिषदों के ऋषियों के विषय में भी ठीक नहीं कही जा सकती? जब तथागत ने यह कहा कि याज्ञिक जन 'यज्ञ के योग से भव के राग में लिप्त होकर जन्म जरा को पार नहीं हुए', तो इससे विरुद्ध आत्मज्ञानी औपनिषद चिन्तकों ने भी तो कुछ नहीं कहा, उल्टे उसका समर्थन ही तो किया, जैसा कि पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है। जो यज्ञादि करते हैं वे 'लाभ के लिए कामों को ही जपते हैं' ऐसी बुद्ध-वाणी की ध्वनि भी तो उपनिषदों में प्रतिध्वनित होती है। सारांश यह कि ज्ञान-यज्ञ करने वाले वे महात्मा, जो सत्य, धर्म और संयम से ही ब्रह्म-प्राप्ति संभव बताते हैं और जिनको उद्देश्य करके ही तथागत ने भारद्वाज ब्राह्मण से कहा था 'तू ऐसे हवन कियों को नमस्कार कर; उनको मैं पुरुष-दम्य-सारथी कहता हूं', वे ऐसे हवन किए हुए महात्मा, उपनिषदों के ऋषि ही संभवतः भली प्रकार हो सकते हैं जिन्होंने उपनिषदों में यज्ञ को ज्ञानमय स्वरूप प्रदान किया है और जिनकी

बृहदारण्यक० १।५।२३; तथा कौषीतकि २।५ में अग्निहोत्र को प्राणायाम में ही परिवर्तितकर देना, आदि कुछ इस प्रकार के उदाहरण हैं। तैत्तिरीय २।५ तो ज्ञान को ही यज्ञ और ज्ञान को ही कर्म भी बताती है—विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुते च।

कुछ-न-कुछ परम्परा बुद्ध के युग में रही ही होगी । उन्हीं के साथ अपने को मिलाते हुए संभवतः भगवान् के कहा था, 'भिक्षुओ। मैं यज्ञ करने वाला ब्राह्मण हूँ।' 'अहमस्मि भिक्खवे ब्राह्मणो याजंयोगो । अब हम यज्ञादि विधान को छोड़ वेद की ओर दोनों की प्रवृत्ति पर आते हैं। यद्यपि उपनिषदें वेद के ही भाग हैं और स्वयं 'श्रुति' कहलाती हैं, अतः जो चीज वे स्वयं हैं उसी के प्रति संबंध के निर्णय का सवाल यद्यपि उठता नहीं, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह विचार यहां आवश्यक है। यहां भी उपनिषदों की द्विविध प्रवृत्ति हम पाते हैं जिसको चाहें तो समन्वयात्मक भी कह सकते हैं और चाहें तो दार्शनिक दृष्टि कोण से एक निर्बल स्थिति की सूचक भी। एक स्थान पर यदि स्वयम्भू के निःश्वास से ही प्रादुर्भूत ऋक्, यजुः और साम को बताया गया है[1] तो दूसरी जगह उनके ज्ञान की अपर्याप्तता भी दिखाई है[2]। अपरा विद्या के रूप में उसे डालकर उसकी तुच्छता भी दिखाई है परम ज्ञान की अपेक्षा में[3] और इस प्रकार अनेक स्थलों में आंतरिक अनुभूति से वैदिक ज्ञान को नीचा ही दिखाया है और केवल उससे मुक्ति की आशा नहीं मानी है[4]। बुद्ध ने तो ग्रंथ-प्रमाण के रूप में किसी भी वस्तु को फिर चाहे वह वेद ही क्यों न हो, स्वीकार किया ही नहीं और अनुभूति को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण और 'प्रधान' को ही सर्वश्रेष्ठ साधन माना। इस अनुभूति को भगवान् बुद्ध के तत्कालीन ब्राह्मणों में नहीं पाया इसलिये उनकी परम्परा को उन्होंने अंधे लोगों की पंक्ति कहा। अस्तु, शास्त्रीय दृष्टि से प्रमाण-चिंतन बुद्ध और उपनिषदें दोनों के विचार की बाहर की वस्तु है और दोनों ने ही अपने अपने दर्शनों की प्रतिष्ठा में स्वानुभूति को ही प्रधान माना है और यही तथ्य हमारे लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी होना चाहिए। हां, इस प्रसंग को समाप्त करने से पहले हमें

---

(१) देखिए बृहदारण्यक० २।४।१०

(२) देखिए छान्दोग्य० ६।७।२; तैत्तिरीय ०२।३

(३) देखिए 'तत्रापरा ऋग्वेदो........अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'। मुण्डक० १।१।५; मिलाइये कठ० २।२३; तैत्तिरीय० २।४

(४) देखिए छान्दोग्य० ५।३।१०; बृहदारण्यक० ३।५।१; ४।४।२१; कौषीतकि० १; तैत्तिरीय० २।४; कठ० २।२३; मिलाइए राधाकृष्णन्: इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ १४९

दो बातों पर और ध्यान देना चाहिए। एक तो यह कि जब कि पालि त्रिपिटक में 'त्रयी विद्या' के रूप में ही तीनों वेदों को स्मरण किया गया है और उसके ज्ञाताओं को त्रैविद्य (तेविज्ज) कहा गया है, उपनिषदों में हम प्रथम बार चार वेदों का वर्णन पाते हैं। ब्राह्मण-युग में हमने देखा कि तीन ही वेदों का व्यवहार था। वृहदारण्यक २।४।१० में भी तीन ही वेदों का वर्णन आया है, किन्तु विद्वानों का मत है कि बृहदारण्यक ५।१३ में संभवतः सर्व प्रथम चार वेदों का प्रख्यापन हुआ है[१] और अथर्ववेद का वेद के रूप में प्रथम बार वर्णन हमें छान्दोग्य० ७।१।२ और मुण्डक० १।१।५ में उपलब्ध होता है। दूसरी बात महत्वपूर्ण यह है कि वे ऋग्वेदीय ऋषि जो सर्वथ 'मधु' को ही नदियों में क्षप्ति और दिशाओं में विकीर्ण देखते थे, सदा पशु, वित्त आदिकी कामना में देवताओं की स्तुति करते थे, वे ब्राह्मणकालीन याज्ञिक ऋषि जो कामनाओं के लिए ही नाना प्रकार के यज्ञ करते थे और बहुत सी दक्षिणाएं देते थे, उन्हीं के पुत्र अब औपनिषद युग में कुछ अधिक चिन्तक हो गए हैं, अब उन्हें बाह्य बातों में अधिक आकर्षण नहीं दीखता, नचिकेतस् के समान वे स्वर्गादि के राज्य को भी नहीं चाहते, पुत्र-पौत्रादिकों को भी नहीं चाहते, मैत्रेयी के समान वे सम्पत्ति का विभाजन भी नहीं चाहते। कर्मकांड उन्हें शांति नहीं देता। 'नैतावता विदितं भवति'[२] ऐसा वे निर्घोष कर चुके हैं। 'नेदं यदिदमुपासते'[३] ऐसा वे कह चुके हैं। अब वे नारद की तरह कहने लगे हैं। 'सो ऽहं भगवः शोचामि। तन्मां शोकस्य पारं तारयतु'[४]। संसार या भव की एक गहरी वेदना ने उन्हें व्यथित कर दिया है और इसी की निवृत्ति के लिए कभी हम नचिकेतस् को यम के पास, प्रतर्दन को इन्द्र के पास, जानश्रुति को रैक्व के पास, उपकोसल को सत्यकाम के पास, आरुणि को प्रवाहण के पास, इन्द्र और वैरोचन को प्रजापति के पास, जनक को याज्ञवल्क्य के पास और बृहद्रथ को सत्यकाम के पास, जाते हुए देखते हैं। जिस प्रकार के 'किंकुसल गवेसी' 'दीप्तशिरा जलराशिमिव' (वेदान्त सार) शाक्यकुमार कभी आलार कालाम के पास और कभी उद्दक रामपुत्त के पास

(१) देखिए डायसन : फ़िलॉसफ़ी ऑफ दि उपनिषद्स्, पृष्ठ ५५
(२) बृहदारण्यक० २।१
(३) केन० १।४
(४) छान्दोग्य० ७।१

भागते हुए, ढूंढ़ते हुए कि 'परम तत्व कहां है ? परमशांति कहां हैं ? इस प्रकार वैराग्य और दुःख की गहरी अनुभूतियाँ जो बुद्ध के विचार में इतनी मुख्यता ग्रहण करती हैं—उपनिषदों के चिन्तन में भी अपना प्रतिरूप पा सकती हैं, क्योंकि उपनिषदों के ऋषि भी उसी भावना से उद्वेलित हैं जिससे कि शाक्यमुनि थे। 'किमहं तेन कुर्यां येनाहं नामृता स्याम्'[1]। यह व्यथा बुद्ध के समान उपनिषदों के ऋषियों को भी लगी हुई है।

अब हम उपनिषदों के तत्वदर्शन और उनकी मूल समस्याओं पर आते हैं। उपनिषदों ने तत्व की गवेषणा की है, सत्, चित् और आनन्द के स्वरूप को जानने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यह भली प्रकार अनुभव किया है कि मानवीय उपकरणों से यह लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता। ब्रह्म की अविज्ञेयता के विषय में श्रुतियों का यदि संग्रह किया जाय[2] तो किसी भारतीय दर्शन के विद्यार्थी को यह भान हो सकता है कि यह तो तथागत की अव्याकृत की हुई बातों से भी गणना अधिक पहुँच जाती है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। मन, बुद्धि आदि से परम तत्व यदि ग्राह्य नहीं है तो उपनिषदों के ऋषियों ने उसे अपने ज्ञान के प्रकाश में देखा है[3], दिवीव चक्षुराततम्[4]। और इसी में उनके ज्ञान की सारवत्ता भी है। उपनिषदों की मूल समस्या है परम सत्य का साक्षात्कार करना औरइसके लिए औपनिषद ऋषि बाहरी जगत् में भी, जिसे बौद्ध पारिभाषिक शब्दों में 'रूप' कह सकते हैं, खूब फिरे हैं, और आंतरिक जगत् की भी जिसे बौद्ध अर्थों में 'नाम', कह सकते हैं, उन्होंने इसी तत्व के खोजने के के लिए महान् साधना की है। परिणामस्वरूप बाह्य जगत् में से तो

उपनिषदों के ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान और तथागत-प्रवेदित अनात्मवाद के स्वरूप और लक्ष्य में पारस्परिक समता और विषमता

(१) बृहदारण्यक उपनिषद्।

(२) कुछ इस प्रकार, केन०० २।३; कठ० १।२।१४; तैत्तिरीय० ३।९; मुण्डक०, १।१।६; बृहदारण्यक०, २।४।१४; ३।९।२६; ३।४।२; २।७।२३; ३।८।११; ४।१५।१५; ३।६।१; ३।८।७; ४।२।४; ४।४।१५; ४।१६।१७; कठ० १।३।१०; २।१४; छान्दोग्य० ३।१४।३; ८।२४।७; तैत्तिरीय० २।४ आदि।

(३) अन्तर्ज्ञान से आत्मा ज्ञेय है, देखिएछान्दोग्य० ६।१३; बृहदारण्यक० २।४।५

(४) यदा पश्यन्ति सूरयः तद्विष्णोः परमं पदम्। दिवीव चक्षुराततम्। ऋग्वेद।

जांच-पड़ताल कर वे जिस मूल तत्व पर पहुंचे हैं उसको उन्होंने 'ब्रह्म' नाम से पुकारा है और आंतरिक व्यापारों का सूक्ष्म अन्वेषण और विश्लेषण कर जिस स्थायी सत्य की झांकी उन्होंने की है उसे उन मनीषियों ने 'आत्मा' कह कर पुकारा है। आत्मा ही उनके लिए श्रेष्ठ पदार्थ, और अंतिम गवेषणीय तत्व है और उसका साक्षात्कार मानवीय साधना का उच्चतम फल है। फिर यह आंतरिक में अथवा मनोमय जगत् में सबका स्थापक और ज्ञापक तत्व जिसे उन्होंने आत्मा पुकारा है उस तत्व से अलग नहीं है जो सब बाह्य सृष्टि में व्याप्त है अर्थात् 'ब्रह्म' से। दोनों अलग-अलग पदार्थ नहीं किन्तु एक ही सत्य को देखने की दो दृष्टियां हैं। द्रष्टा और दृश्य भी जो है, विषयी और विषय भी जो है, वह एक ही सत्य का रूप है। यही 'ब्रह्म' और 'आत्मा' की एकता का विज्ञान है और इसके पीछे एक गहन तत्व-दर्शन विद्यमान है जिसके कारण ही उपनिषदों को संभवतः गुह्य आदेश भी कहा गया है। किस प्रकार गवेषणाएं कर, कितने संप्रश्न कर, कितनी साधना कर, औपनिषद ऋषि उपर्युक्त सत्य पर पहुंचे इसका कुछ निदर्शन उपनिषदों के ही उद्धरण देकर यदि हम प्रस्तुत करें तो संभवतः हम उपनिषदों के तत्व ज्ञान की दिशा को अधिक ठीक समझ पायें, किन्तु यहां तो हमें अपनी सीमाओं का खयाल कर औपनिषद ऋषियों के अंतिम परिणामों को ही जानकर संतोष कर लेना चाहिए और जिस मार्ग का गमन कर वे इस पर पहुंचे उसके विषय में तो अभी मौन ही रहना चाहिए। औपनिषद ऋषि अपनी गवेषणाओं के परिणाम स्वरूप जिस ज्ञान के उच्चतम शिखर तक पहुंचे वह 'ब्रह्म' और 'आत्मा' की एकता संबंधी ज्ञान ही है। ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान स्वरूप यह ज्ञान मानवीय जिज्ञासा का चरम अनुसंधेय विषय है। ज्ञान का यह चरम निष्कर्ष है जिससे आगे मनुष्य संभवतः कभी नहीं झांक सकेगा[1]। यद्यपि कुछ साम्प्र-

---

(१) **डायसन का कहना है, आत्मैकत्व-विज्ञान** "will be found to possess a significance far beyond the upanishads, their time and country, nay, we claim for it an inestimable value for the whole race of mankind. We are unable to look into the future, we do not know what revelations and discoveries are in store

दायिक आचार्य इस दृष्टिकोण के विरुद्ध भी हों तो भी एक तात्विक दृष्टि का विद्यार्थी जो किसी भाष्य विशेष का द स नहीं बनेगा संभवत एकात्मवाद को ही उपनिषदों के मन्तव्य के रूप में स्वीकार करेगा। अनेक मार्मिक विद्वानों ने इस बात की गवाही दी है, जिनमें अनेक विदेशी विचारक भी सम्मिलित हैं। इस आत्मैकत्व विज्ञान को ऋषियों ने किस प्रकार प्रख्यापित किया है, इसे हमें कुछ उनके ही शब्दों में जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मतत्व के विषय में ऋषि कहते हैं कि 'यहां सब एक होते हैं'[1] उनके अनुसार 'भूमा' रूप 'ब्रह्म' ही सुख है और अल्प (सांत जगत्) में सुख नहीं है[2]। 'भूमा ही अमृत है'[3]। 'यह आत्मा ब्रह्म है'[4]। 'मैं ब्रह्म हूं'[5]। 'वह तुम हो'[6]। 'यह जो पुरुष में है और यह जो सूर्य में है, वह एक है'[7]। 'यह सारा जगत् कर्म, तप और पुरुष ही है। वह पर और अमृत रूप ब्रह्म है। उसे जो संपूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित जानता है, वह हे सौम्य! इस लोक में अविद्या की ग्रंथि को छेदन कर देता है'[8]। 'बिना चक्षुओं के वह देखता है' बिना कानों के वह

---

for the restlessly inquiring human spirit but one thing we may assert with confidence—this principle will remain unshaken and from this no deviation can possibly take place'. फ़िलॉसफ़ी ऑफ दि उपनिषद्स्, पृष्ठ ३९-४०

(१) अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। बृहदारण्यक० १।४।७; मिलाइये, परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति।० मुण्डक ३।२।७

(२-३) यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। छान्दोग्य० ७।२४।१; यत्र नान्यत्पश्यति नान्यत् श्रणोति नान्यद् विजानाति स भूमा। यत्रान्यत् पश्यति अन्यत् श्रणोति अन्यद्विजानाति तदल्पं। छान्दोग्य०, ७।२४।१; मिलाइये वहीं 'यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यं'।

(४) अयमात्मा ब्रह्म। बृहदारण्यक० २।५।१९; य आत्मापहतपाप्मा। छान्दोग्य० ८।७।१

(५) अहं ब्रह्मास्मि। बृहदारण्यक० १४।१०

(६) तत्वमसि। छन्दोग्य० ६।८।७

(७) यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। तैत्तिरीय० २।८

(८) पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सो ऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य। मुण्डक० २।१।१०

सुनता है'[1]। 'यहां यह पुरुष स्वयं ज्योति है'[2]। 'सब का शासक'[3]। सब का ईश्वर, और सबका अधिपति, 'एक ही देव, 'निष्कल, निष्क्रिय, शांत, निरवद्य और निरञ्जन[4]। न यह उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है न स्वतःही। यह नित्य, शाश्वत और पुरातन है और शरीर के मारे जाने पर स्वयं नहीं मरता'[5]। 'यही एक हैं सौम्य! आगे था'[6]। 'एक ही है ब्रह्म'[7]। 'आत्मा ही एक पहले था'[8]। यही एक ब्रह्म है अपूर्व, अद्वितीय, अनन्तर और अबाह्य'[9]। 'फिर किस को किस से देखे'[10]। 'यह आत्मा

---

(१) पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः। श्वेताश्वतर० ३।१९; यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽनन्तरो यमयति ....आत्माऽन्तर्यास्यमृतः। बृहदारण्यक० ३।७।२०; मिलाइये केन०, १।५-८ ('सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्' आदि गीता भी)

(२) अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः। बृहदारण्यक० ४।३।९; तदेव ज्योतिषां ज्योतिः बृहदारण्यक०, ४।४।१६; तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ० ५।१५; अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नान्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः। छान्दोग्य०, ३।१३।७; (ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः—गीता)। आत्मैवास्य ज्योतिः। बृहदारण्यक० ४।३।६

(३) सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। बृहदारण्यक०, ४।४।२२

(४) निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। श्वेताश्वतर०, ६।१९

(५) मिलाइये 'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ कठ० १।२।१८-१९; मिलाइये गीता, २।१९-२०

(६) सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य०, ६।२।१

(७) एकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य०, ६।२।१

(८) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। ऐतरेय०, २।१।१।१

(९) तदेतत् ब्रह्म अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्। बृहदारण्यक०, २।५।१९

(१०) तत्केन कंपश्येत्। बृहदारण्यक०, २।४।१३; न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। बृहदारण्यक, ३।४।२; विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। बृहदारण्यक, २।४।१४; स वेत्ति वेद्यं न तस्यास्ति वेत्ता। श्वेताश्वतर, ३।१९

ब्रह्म है, सबको अनुभव करने वाला है[1]। 'ब्रह्म ही यह अमृत है'[2]। 'आत्मा को देखना चाहिए,[3]। ''उसको खोजना चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए,[4]। 'आत्मा है, इस प्रकार उपासना करनी चाहिए'[5]। 'आत्मा ही लोक है, इस प्रकार उपासना करनी चाहिए[6]। ब्रह्म को जो जानता है, वह ब्रह्म ही होता है,[7]। 'उसको सुनना चाहिए, उस पर मनन करना चाहिए, उस पर निदिध्यासन करना चाहिए'[8]। 'जो अशरीर हुआ है उसे ही प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते[9]'। 'अशरीरों में वह शरीर और अस्थिरों में स्थिर है, ऐसे महान् और विभु आत्मा को जानकर धीर शोक नहीं करता[10]'। 'अन्यत्र है वह धर्म से, अन्यत्र है अधर्म से, अन्यत् कृत से और अन्यत् अकृत से, भूत से अन्यत् और अन्यत् अभूत से'[11]। 'उस ब्रह्म के देखने पर इसके कर्म नष्ट होते हैं'[12]। 'आनन्द ब्रह्म है' 'इस प्रकार जानता हुआ वह किसी से भय नहीं करता'[13]।

---

(१) अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः। बृहदारण्यक० २।५।१९

(२) ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्। मुण्डक० २।२।११

(३) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः। बृहदारण्यक० २।४।५

(४) सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। छान्दोग्य० ८।७।१

(५) आत्मेत्येवोपासीत्। बृहदारण्यक० १।४।७

(६) आत्मानमेव लोकम् उपासीत। बृहदारण्यक० १।४।१५; सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। छान्दोग्य० ३।१४।१

(७) ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। मुण्डक०, ३।२।९; ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। बृहदारण्यक० ४।४।६

(८) श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृहदारण्यक० २।४।५

(९) अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। छान्दोग्य० ८।१२।१

(१०) अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। कठ० १।२।२१

(११) अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च। कठ० २।१४

(१२) क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। मुण्डक, २।२।८; तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते। छान्दोग्य० ५।२४।३

(१३) आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन। तैत्तिरीय० ८।९; आनन्दो

'हे जनक' ! 'तुम अभय को प्राप्त हो'[१] । 'न करता है, न लिप्त होता है[२]' । 'वहां क्या मोह है ? क्या शोक ? जो एकता को देखता है'[३] । "एक ही देव सब प्राणियों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी और सर्व भूतान्तरात्मा'[४] । 'यही आनन्द की मीमांसा है[५]' । 'वह रसरूप है और इसी को पाकर मनुष्य आनन्दी होता है'[६] । 'इस आत्मा को इस जगत् में जानना ही परम लाभ है और इसे बिना जाने इस लोक से चले जाना विनाश है[७]' । 'आत्मा के लिए ही सब कुछ प्रिय होता है[८]' । 'जहां न अन्यत्र देखता है, न अन्यत्र सुनता है, न अन्यत्र जानता है, वही भूमा है । जो भूमा है वही अमृत है[९]' । 'इसके बिना दूसरा द्रष्टा नहीं है[१०]' । 'वह नित्य विभु,

ब्रह्मेति व्यजानात् । तैत्तिरीय० ६।६; विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । बृहदारण्यक० ३।९।२८; आनन्दरूपममृतं यद्विभाति । मुण्डक०२।२।७; को हि एवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । तैत्तिरीय० २।७।१

(१) अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि । बृहदारण्यक० ४।२।४

(२) मिलाइये, न करोति न लिप्यते । गीता० १३।३१

(३) तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः । ईश० ७; मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति । कठ, १।२।१६; स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा । वहीं १।२।१३; न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः । छान्दोग्य०, ७।२२।२; ज्ञा त्वा तं मृत्युमत्येति । कैवल्य० ९

(४) एको देवः सर्वभूतेषु रूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च । श्वेताश्वतर० ६।११; स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । ईश० ८

(५) सैषानन्दस्य मीमांसा भवति । तैत्तिरीय० २।७

(६) रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । तैत्तिरीय, २।७ मिलाइये अकामो धीरोऽमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः । अथर्व० १०।८।४४

(७) इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति । केन० २।५

(८) आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । बृहदारण्यक उपनिषद् ।

(९) यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् श्रृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा यो वै भूमा तदमृतम् । छान्दोग्य० ७।२४।१

(१०) न चान्यतोऽस्ति द्रष्टा । बृहदारण्यक० ३।७।२३

सर्वगत और सुसूक्ष्म है'[1]। 'जिसे न पाकर वाणियां लौट आती हैं, मन के साथ'[2]। 'विना चक्षु, विना श्रोत्र और विना पाद के[3]। 'सत्य है वह आत्मा[4]। सय 'ज्ञान, अनन्त, ब्रह्म'[5]। 'वह आत्मा सबके भीतर है'[6]। 'प्रज्ञानघन है और आनन्द मय'। 'मैं चिन्मात्र हूं'। सदा शिव', 'साक्षी है वह चित्स्वरूप। केवल और निर्गुण' 'संपूर्ण प्रज्ञान घन भी'[7]। 'अनन्त है यह आत्मा, विश्वरूप और अकर्ता[8]। 'अस्थूल, अनणु अ ह्रस्व, अदीर्घ'[9]। 'जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं[10]। 'आत्मा को जानो और सब बातें छोड़ दो'[11]।

---

(१) नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं। मुण्डक० १।१।६

(२) यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैत्तिरीय० २।४।१; नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। कठ० ७।१२; न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा। मुण्डक० ३।१।८

(३) अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। मुण्डक० १।१।६ अशब्दमस्पर्शरूपम् कठ०, ३।१५; सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव, इत्यादि। एष स आत्मा सर्वान्तरः। बृहदारण्यक० ३।४।१

(४) प्रज्ञानघन एवानन्दमयः। कैवल्य० १८

(५) चिन्मात्रो सदाशिवः। कैवल्य० १८; न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम् कैवल्य० १८

(६) साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। श्वेताश्वतर० ६।११

(७) कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव। बृहदारण्यक० ४।५।१३

(८) अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता। श्वेताश्वतर० १।९

(९) अस्थूलमनण्व ह्रस्वमदीर्घम्। बृहदारण्यक० ३।८।८

(१०) य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। कठ, २।३।९; न जरा न मृत्युर्न शोकः छान्दोग्य० ४८।८।१; न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगम्। छान्दोग्य० ७।२६।२; जरामृत्युमत्येति। बृहदारण्यक० ३।५।१; न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः। श्वेताश्वतर० २।१८;... मृत्युर्धावति पञ्चमः। तैत्तिरीय० २।२।९; ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। छान्दोग्य० २।२३।१; तरति शोकमात्मवित्। छान्दोग्य० ७।१।३; विमुक्तश्च विमुच्यते। कठ० ५।१; विजरो विमृत्युः। छान्दोग्य० ८।७।१; न जरा न मृत्युर्न शोको छान्दोग्य० ८।४।१; आत्मरतिरात्मक्रीडः। छान्दोग्य उपनिषद्।

(११) तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ। उपनिषद्।

'आत्मा ही यह सब है'[१] । 'भगवन् ! शोक से मुझे पार कीजिए'[२] । 'तुम्हें मृत्यु व्यथा न दे'[३] ।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर हम भली प्रकार देख सकते सकते हैं कि आत्मदर्शन ही उपनिषदों का अंतिम उपदेश है। आत्मा की गवेषणा को छोड़ उनके लिए कोई सवाल ही महत्वपूर्ण नहीं है। इस आत्मा के दर्शन को वे अत्यन्त कठिन किन्तु साथ ही पवित्र जीवन के द्वारा लभ्य भी मानते हैं, यह भी हमने उपर्युक्त उद्धरणों के द्वारा देखा है । औपनिषद ऋषि अमृतत्व की इच्छा को एक सत्य आत्मा की अनुभूति से ही पूरा हुआ मानते हैं, यह भी हमने ऊपर देखा है । किन्तु सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे जीवन की अनेकता में एकता देखने के पक्षपाती हैं। 'मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति' यह उनकी अनेक वाणियों का सार है। निश्चय ही यह उनका विश्व के लिए सब समय के लिए, सम्भवतः आज तक का सबसे बड़ा दान है। मनुष्य की बुद्धि या अनूभूति इससे आगे झांक नहीं सकती। 'अथात आदेशो नेति नेति' ऐसा उसके विषय में आज भी कहा जा सकता है। किन्तु इस ज्ञान की सर्वोत्तम प्रतिष्ठा पर औपनिषद ऋषि किसी तर्क परम्परा के द्वारा अथवा किसी निश्चित या व्यवस्थित दर्शन-प्रणाली के द्वारा नहीं पहुंचे थे। हां, उत्तरकालीन आचार्यों ने तो उनके प्रज्ञानों को पण्डितवाद की दिशा में आगे बढ़ाया है और अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार उनकी व्याख्याएं

(१) आत्मैवेदं सर्वम् । छान्दोग्य० ७।२५।२; इदं सर्वं यदयमात्मा ।बृहदारण्यक० २।४।६; ब्रह्मैवेदं सर्वम् । मुण्डक० २।२।११; सर्वं खल्विदं ब्रह्म । छान्दोग्य० ३।१४।१; ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् । मुण्डक० २।२।११; आत्मत एवेदं सर्वम्। छान्दोग्य० ७।२६।१; अस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरि क्षमोतम् । मुण्डक० २।२।५; मृत्योः स मृत्यु माप्नोति य इह नानेव पश्यति। बृहदारण्यक० ४।४।१९ अन्योऽसावन्योऽहस्मीति न स वेद यथा पशुः बृहदारण्यक० १।४।१०; यदा हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति कठ० २।४।१३; नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा। बृहदारण्यक० ३।७।२३; ३।८।११

(२) तन्मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु । छान्दोग्य० ७।१।३; तस्मै मृदित-कषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः । छान्दोग्य० ७।२६।२

(३) मा वो मृत्युः परिव्यगा । उपनिषद् ।

भी की हैं। किन्तु औपनिषद ऋषियों ने तो उस ज्ञान को हृदय के प्रकाश में ही देखा था। अतः उस ज्ञान में कहीं कहीं अस्पष्टता भी दिखाई दे सकती है, कहीं कहीं अव्यवस्था और कहीं कहीं परस्पर विरुद्धता भी। किन्तु ये सब बातें उसकी परिपूर्णता को ही दिखाने वाली हैं। जिस ब्रह्म और आत्मा की एकता को इन ऋषियों ने देखा है, वह हमारे ज्ञान की एक अपूर्व निधि है। उपनिषदों का जितना भी तत्वदर्शन है उस सबका केवल यही मात्र प्रयोजन है कि सत्य को अपने अन्दर देखना चाहिए और जैसे अपने अन्दर देखते हैं वैसे ही बाहर देखना चाहिये क्योंकि सृष्टि के व्यापक तत्व में विभिन्नता नहीं है। इससे व्यावहारिक जीवन के लिए क्या उपदेश हो सकता है। जो अपने को सर्वत्र और सब में अपने को देखता है, वह क्या किसी से द्वेष कर सकता है, क्या लोभ और मोह उसके पस फटक सकते हैं, क्या वह इन्द्रियाराम हो सकता है, क्या प्रमाद का जीवन उसके द्वारा शक्य है? आत्मज्ञानी होने के यत्न में ही यह सब छोड़ना पड़ता है, फिर उसे प्राप्त करने के बाद की तो बात ही क्या? आत्मज्ञान का उपदेश इसीलिए दिया जाता है कि मनुष्य अपनी देह से, इन्द्रियों से, सूक्ष्म अहंकार से, प्राण वर्ग से, भूतवर्ग से, आसक्ति न करे, इनमें राग न बढ़ाए, इनमें 'अहं', और ममत्व बुद्धि न करे, किन्तु जो 'आत्मा' इन सब की प्रतिष्ठा है, जिसमें ही इन सब के उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं और जो ही समग्र अनुभव का अधिष्ठान है, उस आत्मा को मनुष्य अपना ही स्वरूप समझ कर, उसके साथ तादात्म्य अनुभव कर, उपर्युक्त जो अनात्म पदार्थ कहे गए हैं (यथा शरीर, मन आदि) उनसे निर्वेद और वैराग्य प्राप्त करे, आत्मा को ही अपना देखे, आत्मा को ही अपना समझे, जो सत्, चित् और आनन्द है। इस प्रकार उपनिषदों के आत्मज्ञान की दो दिशाएं हैं, एक तो अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि न करना (मैत्रेयी और नचिकेतस् के समान) और दूसरे परमार्थ-रूप अनुभवतीत निन्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव आत्मतत्व की तादात्म्य से अनुभूति करना। पहला पक्ष साधन पक्ष है और दूसरा साध्य पक्ष। पहले का संबंध अनुभव जगत् से है और दूसरे का इन्द्रियातीत से। यहां हमें बुद्ध का मन्तव्य समझना चाहिए। जहां तक अनुभव जगत् अर्थात् साधना पक्ष से संबंध है वहां तक बुद्ध और उपनिषदों के ऋषि एक हैं। बुद्ध ने यह बड़ी मार्मिकता पूर्वक सिखाया है कि यह 'रूप' तुम्हारा नहीं है, ये वेदनाएं तुम्हारी नहीं हैं, ये संज्ञाएं

तुम्हारी नहीं हैं, ये संस्कार तुम्हारे नहीं हैं, ये विज्ञान तुम्हारे नहीं हैं। इनमें फंसते हो तो चकनाचूर हो जाओगे। इनमें आत्म बुद्धि करोगे तो तो कहीं के न रहोगे। ये सब तो एक क्षण में उत्पन्न होते हैं, दूसरे क्षण में विनष्ट होते हैं। सभी दुःख रूप हैं। इनको 'मैं ' या 'मेरा' समझते हो, इन पर अपना प्रेम लटकाते हो तो लोहे का जलता गोला अपनी गर्दन में बांधते हो। 'भिक्षुओ! मत प्रमाद करो! मत इस लोहे के जलते गोले को निगलो, यह तु म्हारी अंतड़ियां तोड़ देगा और तुम हाय! हाय! कहते फिरोगे'! यह लोहे का गोला क्या है? यही जो रूप को आत्मा समझना, वेदना को आत्मा समझना,संज्ञा को आत्मा समझना, संस्कार को अपना समझना, विज्ञान को अपना समझना! इनमें तुम्हारा कुछ नहीं है। इस प्रकार भगवान् तथागत ने आत्मा और अनात्मा के रूप का वर्णन दृश्य जगत् को लेकर किया है और वह उपनिषदों के अनुसार इस प्रयोजन के लिए हीकि मनुष्य को निर्वेद प्राप्त हो, निर्वेद प्राप्त होने से उसे स्थिरता प्राप्त हो, स्थिरता प्राप्त होने से उसे शांति प्राप्ति हो और शंति प्राप्ति होने से उसे विमुक्ति प्राप्त हो। यह विमुक्ति या निर्वाण की अवस्था ही वह अतीत अवस्था है, जिसे हम उपनिषद् की भाषा में 'ब्राह्मी' स्थिति कह सकते हैं। तथागत 'ब्रह्मभूत' थे, ऐसा औपनिषद अर्थ को लेकर भी कहा जा सकता है। तथागत ने इस ब्राह्मी स्थिति को निर्वाण के रूप में स्वीकार किया और यही उनके समग्र नैतिक आदर्शवाद का लक्ष्य भी रहा क्यों कि उन्होंने स्वयं ही कहा कि मूल वस्तु (दुःख निरोध रूपी कृतकृत्यता) जब प्राप्त हो जाय तो और का तो कहना क्या मनुष्य स्वयं उनके धर्म को भी छोड़दे क्यों कि जिस भव को उससे उसे पार करना करना था वह तो कर ही लिया गया, अतः उसके उपयोग की शेषता नहीं रही।[1] अतः तथागत सदा

---

(१) मिलाइये 'भिक्षुओ! मेरे द्वारा उपदेश किए हुए धर्म को कुल्ल (बेड़े) के समान समझना, यह पार होने के लिए है, पकड़ रखने के लिए नहीं।' महातण्हासंखय सुत्त (मज्झिम निकाय) 'ऐसे ही भिक्षुओ! मैंने बेड़े की भांति निस्तरण के लिए तुम्हें धर्म को उपदेशा है, पकड़ रखने के लिए नहीं। धर्म को बेड़े के समान उपदेशा जानकर तुम धर्म को भी छोड़दो, अधर्म की तो बात ही क्या?' अलगद्दूपमसुत्त (मज्झिम निकाय)

ही उस 'अजात, अभूत' तत्व की स्मृति तो रखते हैं (यद्यपि 'आत्मा' शब्द के रूप में नहीं) जो पञ्चस्कन्धों के क्षेत्र से बाहर है और इसलिए स्वतः उनसे विपरीत है अर्थात् अ-दुःख, अ-अनित्य और अ-अनात्म है। किन्तु इस अनुभवातीत तत्व की व्याख्या में भगवान् युक्त नहीं होते जैसा कि हम 'निर्वाण के स्वरूप का विवेचन करते समय देख चुके हैं।फिर यदि हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि भगवान् बुद्ध ने सिवाय चिर परिवर्तनश ल पञ्चस्कंधों के और किसी की स्थिति ही नहीं मानी है तो फिर उनके 'निब्बाण' की ही क्या संगति है? वह भी तो फिर अनित्य, अनात्म और दुःख ही ठहरा! फिर उसे दुःख का अशेष निरोध क्यों कहा जाता है? यदि प्रतीत्यसमुत्पन्न पञ्चस्कन्ध दुःख हैं तो जो अ-दुःख है वह उससे विपरीत होना ही चाहिए और उससे विपरीत होने का स्वरूप इससे अतिरिक्त क्या हो सकता है कि वह अ-अनित्य (अर्थात् नित्य) और अ-अनात्म (अर्थात्, 'आत्मा') हो। इस प्रकार अर्थापत्ति से भगवान् तथागत भी उपनिषद् के ऋषियों के पास ही दीखते हैं। इससे अतिरिक्त न उनके तत्वज्ञान की, न आचार तत्व की और न सम्यक् संबोधि की ही कोई संगति है, किंतु जैसा कि हम 'अनात्मवाद' के विवेचन में पहले कह चुके हैं, शाश्वतवादी आत्मवाद का उपदेश करना तथागत का काम नहीं था। जैसा कि मालुंक्यपुत्र से उन्होंने कहा, ऐसा करने से वे झट उस समय में प्रचलित शाश्वतवादी सिद्धान्तों की कोटि में आ जाते और फिर वे एक सद्धर्म के संस्थापक न होकर केवल उस समय में प्रचलित एकांगी सिद्धांत (शाश्वतवाद जिसके विपरीत अशाश्वतवाद की कोटि भी प्रचलित थी) के ही प्रचारक होते। इसीलिए 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्[१]।' औपनिषद 'आत्मा' के विषय में बुद्ध-मौन की व्याख्याएं हम 'अनात्मवाद' के विवेचन में कर चुके हैं। बुद्ध तथागत ने केवल मौन से ही उपदेश दिया और उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने जो यह कहा है कि बुद्ध के द्वारा आत्मवाद और अनात्मवाद दोनों का ही उपदेश दिया गया है[२], वह बहुत कुछ अंश में ठीक है। वाचस्पति मिश्र का यह तर्क कि पञ्चस्कंधों में आत्मा न मानने का विचार ही आत्मा की स्थिति की ओर संकेत करता है, विचार से खाली नहीं है क्योंकि कोई भी प्राणी यह तो अनुभव नहीं

---

(१) देखिए आगे 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन' का विवेचन।
(२) देखिए पीछे चतुर्थ प्रकरण में 'अनात्मवाद' का विवेचन।

करता कि 'मैं नहीं हूं'[१] । हां, पञ्चस्कंध मैं नहीं हूं या पञ्चस्कंध मेरे नहीं हैं, यह कहना तो बिलकुल दूसरी बात है। तथागत ने परमार्थ रूप से आत्मा का निषेध नहीं किया, किन्तु जिस 'काम' या अहंकार के नाश का विधान औपनिषद ऋषि अनुभवावसान आत्मा के दर्शन द्वारा करते हैं[२] उसी का तथागत ने अनात्म पदार्थों से विरत रखकर किया है। इतना ही दोनों में विभेद है। 'मैं यह हूँ' और 'मैं यह नहीं हूँ' यदि इन दोनों बातों के समाधान में एक पूर्ण दर्शन की उपलब्धि नम मानें तो बौद्ध दर्शन उपनिषद्-दर्शन की अपेक्षा अपूर्ण लगेगा, क्योंकि वह दूसरी बात ही कहता है, जब कि उपनिषदें दोनों बातें कहती हैं। उपनिषदें ज्ञान स्वरूप हैं, अतः वे सिक्के के दोनों पक्षों को खोल कर दिखाती हैं, तथागत ज्ञान के शास्ता हैं इसलिए वे साधना के केवल एक ही पर्दे को दिखाते हैं क्योंकि 'मार्ग' उनके उपदेश का रहस्य है, 'मार्गणीय' की विशेषताएं बता-बता कर मनुष्यों के चित्त में अभिनिवेश उत्पन्न कराना उनका लक्ष्य नहीं था। उनके मौन में हमें प्रयोजन को देखना चाहिये। साधन उनका मुख्य ध्येय था, साध्य नहीं। यदि कामनाएं नष्ट हो जायंगीं, हृदय की ग्रंथि का छेदन हो जायगा, तो भव ठंडा पड़ जायगा, ब्रह्मचर्य पूरा हो जायगा, जो कुछ करना है वह कर लिया हुआ हो जायगा और इससे अधिक आत्मोपदेश का ही क्या ध्येय है? केवल आत्मवाद के विषय में बात करने से तो आत्मवादी भी आत्मा की प्राप्ति संभव नहीं मानते, तो क्या फिर तथागत का समग्र नैतिक आदर्श भी बिना किसी प्रयोजन के हो जायगा? क्या अभाव

---

(१) मिलाइये, सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्व प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोकः नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य १।१।१

(२) मिलाइए, इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥गीता ३।४२
एवं बुद्धेः परं बुध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥३।४३

यह एक व्यवस्थित वर्णन है, उपनिषदों में देखिए, छान्दोग्य० ४।३।३ कठ० ३।१०।१३; ६।७-११ आदि। देखिए अभी आगे औपनिषद मनोविज्ञान का विवरण भी।

में पर्यवसान करने के लिए ही उनका समग्र उद्यम है, उनके वीर्य के आरंभ का अंतिम परिणाम है? यह सब नहीं हो सकता। जब तथागत ब्रह्माओं के लोक की सलोकता का उपदेश करते हैं, जब वे त्रैविद्य होने का दावा करते हैं, जब वे जीवन में एक नियम मानते हैं जब 'धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः' : (चतुःशतक) और जब वे औपनिषद ऋषियों की परम्परा में ही 'उपशांत' होकर परम तत्व का निर्देश करते हैं, तब हम यह कैसे कहें कि उनका अनात्मवाद भी, जो तृष्णा के निवेशणों को उच्छिन्न करने का एकायन मार्ग है और जो इस प्रकार सत्वों की शांति के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए और निर्वाण के लिए एकमात्र उपाय है, वह औपनिषद मन्तव्य के समान अभिप्राय वाला, समान फल वाला और जहां तक अनुभव जगत् से संबंध है समान ही रूप वाला नहीं है? अनुभवातीत को भगवान् ने निःशब्द ही छोड़ दिया है और जिन्होंने उसके विषय में शब्द भी कहे हैं उन्होंने भी उनकी अपर्याप्तता ही स्वीकार की है। चतुर्थ प्रकरण में जो कुछ 'अनात्मवाद' के प्रसंग में एवं 'निर्वाण' के प्रसंग में हम कह चुके हैं उसकी पुनरावृत्ति की यहां आवश्यकता नहीं। ऊपर आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में जो उद्धरण दिये हैं उनमें तीन चौथाई निषेधात्मक भाषा का ही आश्रय लेते हैं। चरम अद्वैत निषेधात्मक भाषा में ही व्यक्त किया जा सकता है और उसी का प्रवर्तन बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद में हुआ है, यह हम अनात्मवाद के विवेचन में दिखा चुके हैं। बुद्ध का मतन्व्य अस्ति और नास्ति, नित्यता और अनित्यता की सब कोटियों से अतीत था और सिवाय मौन के उसके स्पष्टीकरण का और कोई उपाय ही नहीं है[1]। यदि औपनिषद 'आत्मा' के प्रति बुद्ध के मन्तव्य को प्रख्यापित करने के लिए लेखक की मीमांसा के एक सूत्र (तस्य ज्ञानमुपदेश: १।१।५) की नकल पर एक सूत्रात्मक वाक्यांश गढ़ने की धृष्टता क्षम्य हो तो वह विनम्रता पूर्वक कह सकता है

'तस्य मौनमुपदेश' : । 'एतेन सर्वे व्याख्याताः'

अब हम औपनिषद मनोविज्ञान पर आते हैं। उपनिषदों में व्यवस्थित मनोविज्ञान उपलब्ध नहीं होता जैसा कि बौद्ध दर्शन या सांख्य दर्शन में

(१) 'शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च। पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवतां गतिः'। महाभारत, शान्ति० २३।९।२४; मिलाइये, वट्टं तेसं नत्थि पञ्ञापनाय। उदान ६।८

औपनिषद मनोविज्ञान

होता है। उपनिषदों की ही मनोवैज्ञानिक चिन्ताओं को लेकर सांख्य दर्शन ने एक स्वतंत्र मनोविज्ञान का उद्भावन किया है जिसका प्रयोग प्रायः सभी 'आस्तिक' दर्शन करते हैं और जिसके ही आधार पर योग अपने चित्तवृत्तिनिरोधात्मक साधन-मार्ग का उपदेश करता है। अतः बौद्ध मनोविज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन सांख्य दर्शन में निहित मनोविज्ञान के साथ करते समय स्वतः ही औपनिषद मनोविज्ञान भी व्याख्यात हो जायगा। यहां केवल साधारण रूप से कुछ कहना अपेक्षित है। उपनिषदों का लक्ष्य आत्म-दर्शन मनुष्य को कराना है जिसके आधार पर ही उसके मनोविज्ञान का निर्माण हुआ है, उसी प्रकार जैसे कि नैतिक आदर्शवाद पर अपने व्यवहार-पक्ष में और अनात्मवाद पर अपने तात्विक पक्ष में प्रतिष्ठित 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन का उद्भावन चित्त और चेतसिकों एवं 'कुशल' और 'अकुशल' कर्म आदि के रूप में हुआ है। जैसा जिस दर्शन का तत्वदर्शन, वैसा ही उसका मनस्तत्व-विवेचन। उपनिषदों के ऋषियों के लिए सबसे बड़ी वस्तु आत्मा है जिसके साक्षात्कार में कृतकृत्यता निहित है, किन्तु आत्मा तो गंभीर अध्यात्म योग से ही देखा जा सकता है, अतः मनस्तत्वों के गवेषण की आवश्यकता है। 'मनो पुब्बंगमा धम्मा' जिस प्रकार 'मौलिक्य' बौद्ध मनोविज्ञान की सर्व प्रथम वाणी है, उसी प्रकार उपनिषदों के लिए भी प्रधान, इन्द्रिय मन ही है। 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति'[१]। 'मन से ही देखता और मन से ही सुनता है'। इतना ही नहीं, काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति आदि सब मन ही है[२]। आत्मा ही वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय है। बृहदारणयक उपनिषद तो अपनी रहस्यात्मक वाणी में आकाश को ही मन का शरीर और ज्योति को ही रूप बताती है। प्रश्नोपनिषद् दस इन्द्रियों का बड़ा ही विशद वर्णन उपस्थित करती है। पिप्पलाद मुनि से सूर्य के पौत्र गार्ग्य ने पूछा है 'भगवन्! इस पुरुष में कौन सोती है? कौन इसमें जागती है? कौन देव स्वप्नों को देखता है? किसे यह सुख अनुभव होता है? किसमें ये सब प्रतिष्ठित हैं? इस अत्यन्त

---

(१) बृहदारण्यक० १।५।३

(२) कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव। बृहदारण्यक० १।५।३

गंभीर और विस्तृत प्रश्न के उत्तर स्वरूप इन्द्रियों के लय-स्थान आत्मा को बताते हुए भगवान् पिप्पलाद सौर्यायणी (सूर्य के पौत्र) गार्ग्य से कहते हैं। तस्मै स होवाच 'यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमंडल एकी भवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वीपतीत्याचक्षते[1]।' अर्थात् जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर संपूर्ण किरणें उस तेजोमंडल में एकत्र हो जाती हैं और उसका उदय होने पर वे फिर फैल जाती हैं, उसी प्रकार वे सब (इन्द्रियां) परम देव मन में एकीभाव को प्राप्त हो जाती हैं। इससे तब वह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न चखता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न मलोत्सर्ग करता है और (न कोई चेष्टा करता है। तब उसे 'सोता है' ऐसा कहते हैं। यही उपनिषद् मनस्तत्वों का कुछ अन्योक्ति के साथ वर्णन करती हुई स्वप्न दर्शन के विषय में कहती है: 'इस स्वप्नावस्था में यह देव अपनी विभूति का अनुभव करता है। इसके द्वारा जो देखा हुआ होता है उस देखे हुए को ही यह देखता है, सुनी बातों को ही सुनता है तथा दिशा विदिशाओं में अनुभव किए हुए को ही पुनः पुनः अनुभव करता है। यह देखे, बिना देखे, सुने, बिना सुने, अनुभव किए, बिना अनुभव किए, तथा सत् और असत् सभी प्रकार के पदार्थों को देखता है और स्वयं भी सर्वरूप होकर देखता है[2]।' यहां विभूति को अनुभव करने से तात्पर्य, भगवान् शंकराचार्य के मतानुसार, विषय-विषयी रूप अनेकात्मत्व को प्राप्त करने से है[3]। क्षेत्रज्ञ की स्वतंत्रता मन की उपाधि के कारण है, वास्तव में क्षेत्रज्ञ तो स्वयं न सोता है और न जागता है। उसका जागना

---

(१) प्रश्न० ४।२

(२) अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति। श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देश दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति। प्रश्न० ४।५

(३) महिमानं विभूतिं विषयविषयीलक्षणमनेकात्मभावगमनम्। अनुभवति प्रतिपद्यते। उपर्युक्त पर शांकर भाष्य।

और सोना तो मन रूप उपाधि के ही कारण है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ऐसा ही कहा गया है 'वह बुद्धि से तादात्म्य प्राप्त कर स्वप्न रूप होता है और मानो ध्यान करता तथा चेष्टा करता है'[१]। स्वप्नावस्था में आत्मा स्वयं ज्योति रहता है,[२] यह उपनिषदों का एक मौलिक सिद्धांत है और इसका तात्पर्य यह है कि 'इन्द्रियों के मन में लीन हो जाने पर तथा मन के लीन न होने पर आत्मा मन-रूप होकर स्वप्न देखा करता है'[३]। वैसे उपनिषदों में इस आत्मा के वास के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'यह जो हृदय के भीतर आकाश है उसमें यह आत्मा शयन करता है,[४]' और कहीं-कहीं तो ऐसा भी कहा है कि वह 'पुरीतत् नाड़ी में शयन करता है[५]।' शंकर, जिनको श्रुतियों की एकता ही इष्ट है, इन सबका बड़ा अच्छा समन्वय-समाधान करते हैं[६]। जब यह आत्मदेव स्वप्न नहीं देखता तो उस समय शरीर में यह सुख (ब्रह्मानन्द) होता है और यही सुषुप्ति की अवस्था होती है[७]। 'यहां अर्थात् इस समय यह मन नाम वाला देव स्वप्नों को नहीं देखता, क्योंकि उन्हें देखने का द्वार तेज से रुक जाता है। तदनन्तर इस शरीर में यह सुख होता है अर्थात् जो निराबाध और सामान्य रूप से संपूर्ण शरीर में व्याप्त विज्ञान है, वह प्रसन्न हो जाता है[८]।' अन्त में

---

(१) स धीः स्वप्नो भूत्वा ध्यायतीव लेलायतीव। बृहदारण्यक० ४।३।७; कहीं-कहीं 'ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वा' ऐसा भी पाठ है। शंकर ने पहले ही पाठ को अपने भाष्य में उद्धृत किया है।

(२) अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः। बृहदारण्यक. ४।३।१४

(३) मनसि प्रलीनेषु करणेषु अप्रलीने च मनसि मनोमयः स्वप्नान् पश्यति। शांकर भाष्य, प्रश्न० ४।५ पर।

(४) य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते। बृहदारण्यक० २।१।१७; मिलाइये बृहदारण्यक...५।६; छान्दोग्य-..८।३।३; ५।१।६; कठ...२।२०; ३।१; ४।६; ६।१८; श्वेताश्वतर... ३।११।२०।

(५) पुरीतति शेते। बृहदारण्यक...२।१।१९

(६) अर्थैकत्वस्य इष्टत्वात्। देखिए शांकर भाष्य प्रश्न० ४।५ पर।

(७) मिलाइए, स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः। स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिन् शरीर एतत्सुखं भवति। प्रश्न. ..४।६

(८) अत्रैतस्मिन्काल एष मन आख्यो देवः स्वप्नान्न पश्यति दर्शनद्वारस्य

'हे सोम्य! जिस प्रकार पक्षी अपने बसेरे के वृक्ष पर जाकर बैठ जाते हैं उसी प्रकार यह सब (कार्यकारण संघात) सबसे उत्कृष्ट आत्मा में जाकर स्थित हो जाता है[1]'। यही औपनिषद दर्शन की अंतिम विजय है न केवल बौद्ध मनोविज्ञान पर ही किन्तु आज के बहुमुखी मानस-शास्त्र पर भी। सर्वातीत आत्मा-अक्षर में जाकर सभी मानसिक व्यापारों का मिल जाना या लीन हो जाना उपनिषदों के मनोविज्ञान का प्राणस्वरूप सिद्धांत है। इसके तीन स्वरूप उपनिषदों में प्रकाशित हुए हैं । किस प्रकार समग्र मानसिक और भौतिक व्यापार क्रमशः एक के बाद एक में प्रवेश कर अन्त में आत्मा में लीन हो जाते है, इसकी तीन अवस्थाएं हैं(१) सुषुप्ति की अवस्था में (२) योग की अवस्था में एवं (३) मृत्यु होने पर ! नामरूपात्मक समग्र कार्यकारण-संघात जिस प्रकार सुषुप्ति की अवस्था में आत्मा में लीन होता है, उसका क्रम श्रुति यों वर्णन करती है । पृथिवी और पृथिवीमात्रा (गंधतन्मात्रा), जल और रस तन्मात्रा, तेज और रूप तन्मात्रा, वायु और स्पर्श तन्मात्रा, आकाश और शब्द तन्मात्रा, नेत्र और द्रष्टव्य (रूप), श्रोत्र और श्रोतव्य (शब्द), घ्राण और घ्रातव्य (गंध), रसना और रसयितव्य (रस), त्वचा और स्पर्श योग्य पदार्थ, हाथ और ग्रहण करने योग्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य, वायु और विसर्जनीय, पाद और गन्तव्य स्थान, मन और मनन करने योग्य, बुद्धि और बोद्धव्य, अहंकार और अहंकार का विषय, चित्त और चेतनीय, तेज और प्रकाश्य पदार्थ तथा प्राण और धारण करने योग्य वस्तु, ये सभी आत्मा में लीन हो जाते हैं।[2] इससे परे जो आत्म स्वरूप जल में प्रतिविम्बित सूर्य

निरुद्धत्वात् तेजसा। अथ तदैतस्मिन् शरीर एतत्सुखं भवति यद्विज्ञानं निराबाधमविशेषेण शरीरव्यापकं प्रसन्नं भवतीत्यर्थः। प्रश्न० ४।६ पर शांकर भाष्य ।

(१) स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते। प्रश्न० ४।७

(२) पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्कश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं

के समान इस शरीर में कर्ता-भोक्ता रूप से अनुप्रविष्ट है 'वही द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, (मनन करने वाला) बोद्धा और कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है और वह पर अक्षर आत्मा में सम्यक् प्रकार से स्थिर हो जाता है'[1]। यह तो जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में मानसिक व्यापार आत्मा में लीन होते हैं उसका निदर्शन हुआ। अब जिस क्रम से वे योग की दशा में आत्मा में लीन होते हैं, वह इस प्रकार है। 'इन्द्रियों से मन पर (उत्कृष्ट) है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से महत्तत्व बढ़कर है तथा महत्तत्व से अव्यक्त उत्तम है, अव्यक्त से भी पुरुष श्रेष्ठ है और वह व्यापक तथा अलिंग है जिसे जानकर मनुष्य मुक्त होता है और अमरत्व को प्राप्त हो जाता है...जिस समय पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन के सहित आत्मा में स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परम गति कहते हैं...................इस स्थिर इन्द्रियधारणा को ही योग कहते हैं।'[2] यही योग की अवस्था में मानसिक व्यापारों का आत्मा में लीन हो जाना है। इसी का एक दूसरा वर्णन भी उपलब्ध है। 'इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से भी महान् आत्मा (महत्तत्व) श्रेष्ठ है। महत्तत्व से अव्यक्त (मूल प्रकृति) पर है और अव्यत्त से भी पुरुष पर है। पुरुष से पर और कुछ नहीं है। वही परा काष्ठा है, वही परागति है.............प्राज्ञ पुरुष वाक् इन्द्रिय का मन में उपसंहार करे, उसका प्रकाश स्वरूप बुद्धि में लय करे, बुद्धि को महत्तत्व में लीन करे और महत्तत्व को शांत आत्मा में लीन करे'[3]। इस प्रकार हमने

चाहंकारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च। प्रश्न...४।८

(१) एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते। प्रश्न...४।९

(२) इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम्। सत्वादधि महानात्मा महतोऽ-व्यक्तमुत्तमम्॥ अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च। यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृत्वं च गच्छति॥ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। कठ० २।३।७,८,१०,११

(३) इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा

यह भी देख लिया की योग की अवस्था में किस प्रकार इन्द्रियों आदि का आत्मा में लय किया जाता है। अब यह लय मृत्यु में कैसे होता है, यह हमें और देखना है। मृत्यु सब काम बहुत संक्षेप में कर देती है। 'पुरुषस्य प्रयतो वाङ्‌मनसि सम्पद्यते मन: प्राणे प्राणस्तेजसि तेज: परस्यां देवतायाम्'[1]। अर्थात् मरते हुए पुरुष की वाणी मन में प्रवेश कर जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परम देवता में। इस प्रकार सत्यद्रष्टा ऋषियों ने ज्ञान को हमारे लिए प्रकाशित किया है। इन्द्रियों आदि के आत्मा में लय होने के उपर्युक्त त्रिविध क्रम को यहां इस तालिका द्वारा दिखाना कदाचित् विषय को अधिक बोधगम्य बनायेगा :

(१) सुषुप्ति की अवस्था में	(२) योग की अवस्था में	(३) मृत्यु होने पर
प्रश्न० ४।८	कठ० २।३।७–११ कठ० १।३।१०–१३	छान्दोग्य० ६।८।६
आत्मा	पुरुष	परा देवता
प्राण	अव्यक्त	प्राण
तेजस्	महान्‌आत्मा	मन
चित्त	बुद्धि	वाक्
अहंकार	मनः	
बुद्धि	इन्द्रियां	
मन		
तन्मात्राएं, भूत, इन्द्रियां		

अब तक जितनी भूमि हम चल चुके हैं, उसी को कुछ बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में देखने का प्रयत्न करें। हम जानते हैं कि भगवान् बुद्ध योग के अभ्यासी थे और ध्यान (झान) का उपदेश वे दिया करते थे। चित्त की वृत्तियों का निरोध तो उनका अनन्यसाधारण ही था[2]। इन सब बातों पर हम यहां

महान्परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥ यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ कठ० १।३।१०, ११,१३

(१) छान्दोग्य, ६।८।६

(२) देखिए महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३) में ध्यानी बुद्ध का एक चित्र।

विचार नहीं कर सकते। यहां तो हमें केवल यही देखना चाहिए कि क्या बौद्ध मनोविज्ञान का भी भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट समाधि से कोई संबंध है जिस प्रकार औपनिषद मनोविज्ञान का एकतम मन्तव्य और प्रयोजन आत्मा में इन्द्रियादि को लय करना है? इसका उत्तर हां में ही है। भगवान् ने उस उच्चतम समाधि का उपदेश दिया है जिसको उन्होंने 'संज्ञावेदयितनिरोध' कहा है (जिसको ही, जैसा हम आगे वेदान्त दर्शन के प्रसंग में देखेंगे, भगवान् गौडपादाचार्य ने अस्पर्शयोग कहा है) 'भिक्षुओ ! भिक्षु एक दिशा, दूसरी दिशा, तीसरी दिशा, चौथी दिशा, ऊपर, नीचे, तिरछे, हर जगह, हर प्रकार से, सारे लोक के प्रति, विपुल, महान्, प्रमाणरहित निर्वैर, निष्क्रोध, मैत्री-चित्त वाला और उपेक्षा युक्त चित्त वाला हो विहरता है। वह सब रूप संज्ञाओं को पार कर, प्रतिघ संज्ञाओं को अस्त कर नानात्व संज्ञा को मन से बाहर निकाल 'आकाश अनन्त है,' ऐसा विचार करके 'आकाशानन्त्यायतन' को प्राप्त हो विचरता है। आकाशानन्त्यायन को पार कर 'विज्ञान अनन्त है' विचार करके 'विज्ञानानन्त्यायन' को प्राप्त हो विहरता है। विज्ञानानन्त्यायतन को पार कर 'कुछ नहीं है' विचार करके' आकिञ्चन्यायतन को प्राप्त हो विहरता है.........सभी आकिञ्चन्यायतनों को पार कर 'नैव-संज्ञानासंज्ञायतन' को प्राप्त हो विहरता है। सभी नैव-संज्ञानासंज्ञायतन को पार कर 'संज्ञा वेदियत-निरोध' (संज्ञा की अनुभूति के निरोध) को प्राप्त विहरता है[१]।' यही निरोध समापत्ति बौद्ध मनोविज्ञान का अंतिम फल है। समाधि की इस अवस्था में काय-संस्कार, वचन-संस्कार और चित्त-संस्कार तो निरुद्ध हो जाते हैं, परन्तु उष्मा शान्त नहीं होती, आयु-संस्कार क्षीण नहीं होते। यही इसका मृत्यु से विभेद है।

जिस प्रकार आत्मा में सभी मानसिक प्रवृत्तियों के लय होने पर 'तरति शोकमात्मवित्' ऐसा उपनिषदों का निर्घोष होता है, उसी प्रकार 'संज्ञा-वेदयितनिरोध' की अवस्था प्राप्त कर साधक को अनुभव होता है, 'जन्म-मरण जाता रहा, ब्रह्मचर्यवास पूरा हो गया, जो करना था सो कर लिया, अब यहां के लिए कुछ शेष नहीं रहा।' कृतकृत्यता दोनों ही जगह समान है। और दोनों ही अपने-अपने मार्ग से चलकर किसी एक समान अवस्था पर

---

(१) अंगुत्तर ९

पहुंचते है जहां अशेष दुःख-निरोध होता है, ऐसा हमें जानना चाहिए। ऊपर के विवरण से स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं का तो स्वरूप स्पष्ट हो चुका है, किंतु संक्षेप से आत्मा की चार अवस्थाओं का अर्थात् जाग्रत,स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं का कुछ और निर्देश मांडूक्य उपनिषद् के अनुसार कर दें। माण्डूक्य उपनिषद् ने आत्मा को 'चतुष्पात्'[1] कहा है जिसका संक्षेप विभाग हम ऐसे कर सकते हैं (१) जागरित स्थान बहिःप्रज्ञ, स्थूल भुक्, वैश्वानर आत्मा (२) स्वप्न स्थान, अन्तः प्राज्ञ, प्रविविक्त भुक्, तैजस आत्मा (३) सुषप्त[2] स्थान एकीभूत प्रज्ञानघन आनन्दमय आनन्द भुक् चेतो-मुख, प्राज्ञ (४) न अन्तःप्रज्ञ न बहिःप्रज्ञः, न अभयतःप्रज्ञः,न प्रज्ञाघन, न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ; किन्तु अदृश्य, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शांत, शिव, अद्वैत आत्मा। यही आत्मा की चार अवस्थाएं हैं, जिन पर उपनिषदों के विचार किया है और अंतिम अवस्था ही वह अनुभवातीत अवस्था है जिसके विषय में 'तत्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्सत्यम्' 'स आत्मा', 'यत्साक्षादपरोक्षात्ब्रह्म' 'स ह्यभ्यन्तरो ह्यजः', आत्मैवेदं', 'ओमित्येवोपासीत' आदि वाणियाँ कही गई हैं। इसके विषय में हम चतुर्थ प्रकरण में देख ही चुके हैं कि बुद्ध का तो है मौन (उपदेश) और उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों का निषेध। इस प्रकार औपनिषद मनोविज्ञान की कुछ झलक हमने देखी और विशेषतः सभी प्रत्यक्षादि ज्ञानों के वास्तविक अधिष्ठान पुरुष को भी देखा। अब हम औपनिषद मोक्ष, साधन-पथ और कर्म और पुनर्जन्म संबंधी सिद्धांतों पर आकर संक्षेप में एतद्विषयक बुद्ध के विचारों के साथ उनके तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं।

उपनिषदों के मोक्ष-संबंधी विचार की बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण से एक विचित्र तुलना है, यद्यपि यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न तात्विक

---

(१) सोऽयमात्मा ओङ्काराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात् कार्षापणवन्न गौरिव। त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः। तुरीयस्तु पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः। माण्डूक्य कारिका-शांकर भाष्य।

(२) यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्।

औपनिषद मोक्ष, साधन पथ, कर्म और पुनर्जन्म सम्बंधी सिद्धांतों की एतद्विषयक बुद्ध के विचारों से तुलना

परिस्थितियों से ही वे इस पर पहुंचे हैं। 'जिस प्रकार निरन्तर वहती हुई नदियां अपने नाम-रूप को छोड़ कर समुद्र में अस्त हो जाती हैं। उसी प्रकार विद्वान् नामरूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है[1]।' ऐसा उपनिषदों ने कहा है। यह नाम-रूप (औपनिषद प्रयोग)[2] से विमुक्त हो जाना क्या है ? शंकर के साक्ष्य पर 'अस्तम् अदर्शनम् अविशेषात्मभावं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति नाम च रूपं च नामरूपे विहाय हित्वा।'[3] यह सब चतुर्थ प्रकरण में निर्दिष्ट निर्वाण से मिलाने योग्य है, यदि निश्चय ही हम उसकी अभावात्मक व्याख्या पर तुले नहीं हुए हैं। जिस चीज को हम अपना व्यक्तित्व कह कर पुकारते हैं, 'अहं' की ध्वनियों से जिसे विष पिला पिला कर बढ़ाते हैं, उसका तो निःशेष परमावस्था में बुद्ध और उपनिषदों के अनुसार भी होना ठहरा। सूक्ष्म विभेद केवल शब्दों का इतना ही कहा जा सकता है। जब कि तथागत केवल 'अस्तंगमन' ही कहते हैं, उपनिषदें उसे 'ब्रह्मभाव' कह कर भी पुकारती हैं। किन्तु यदि एक ओर निर्वाण के 'शांत' प्रणीत' पद की ओर ध्यान दिया जाय और दूसरी ओर बुद्ध के 'ब्रह्मभूत' विशेषण को 'ब्रह्मभाव' समझा जाय तब तो कोई विभेद शेष नहीं रह जाता। बुद्ध ने भी तो 'ब्रह्म-प्राप्ति' का मार्ग बताया है फिर चाहे उनका मन्तव्य ब्राह्मणों के ब्रह्मलोक से अतीत ही क्यों न हो। मुक्तावस्था में तो बुद्ध और उपनिषदें दोनों मिलते हैं। उपनिषदें निरन्तर ही पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी चिल्लाती है 'विद्ययाऽमृतमश्नुते,' (ईश० ११) 'ब्रह्मप्राप्तो विरजो ऽभूद्विमृत्युः (कठ० २।३।१८ 'तदेव विदित्वा मृत्युमत्येति' (श्वेताश्वतर.३।८।६।१५) 'अथ मत्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्मसमश्नुते', 'अत्रैव समवनीयन्ते' (बृहदारण्यक०३।२।११) 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षेयऽथ सम्पत्स्ये' (छान्दोग्य०६।१४।२) 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृहदारण्यक—४।४।६०) 'बृह्मैव सन् ब्रह्माप्येति (बृहदार-

(१) मुण्डक० ३।२।८; देखिए प्रश्न० ६।५ भी।

(२) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का विवेचन।

(३) शांकर भाष्य मुण्डक० ३।२।८पर

रण्यक ०४।४।६; देखिए वहीं १।४।१५ भी) 'विमुक्तोऽमृतो भवति' (मृण्डक-३।२।९) 'विमुक्तश्च विमुच्यते' कठ–५।१) आदि आदि। ये भावनाएं जीते जी निर्वाण की भावना से कितनी समान हैं, इसे कौन नहीं जान सकता? इसी प्रकार जहां 'न स पुनरावर्तते' (छान्दोग्य–८।१५।१')'न तेषामिह पुनरावृतिः (बृहदारण्यक-६।२।१५) 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' (छान्दोग्यः–८।१५।[1]) जैसी अवस्थाओं का संबंध है, वहां तो बुद्ध ने भी पुनर्जन्म का निरोध होना दिखाया है। चाहे जिस किसी भी दृष्टिकोण से हम देखें विभेद पर हम नहीं पहुंच सकते। उपनिषदों ने अत्यन्त निश्चित शब्दों में परमावस्था के 'आनन्द' का वर्णन किया है, आतमा और ब्रह्म के ऐक्य को दिखाया है, 'अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति' ऐसा कहा है और 'सर्वमेवा-विशन्ति' ऐसा भी कहा है और यह सब 'निब्बाणं परमं सुखं' की भावना से दूर नहीं है। सच बात तो यह है कि बुद्ध निर्वाण की अनिरुक्त अवस्था पर अधिक जोर देते थे और इसीलिए उन्होंने उसे वास्तव में कथन मार्ग का विषय बनाया ही नहीं था और इसी बात पर उपनिषदों के ऋषियों के भी ज्ञान की प्रतिष्ठा है। ब्रह्मज्ञान और मोक्ष में औपनिषद ऋषियों ने कोई विभेद ही नहीं रक्खा है। मोक्ष कोई उत्पन्न होने वाली चीज नहीं है। यदि उत्पन्न होने वाली होती तो विनाश होने वाली भी होती– इस व्याख्या में आते ही हम निश्चय ही 'मिलिन्द प्रश्नकार' और शंकर पर आजाते हैं, जो हमारा इस समय प्रयोजन नहीं है। मोक्ष तो ज्ञान का ही, आत्म-साक्षात्कार का ही अपर नाम है। जो ज्ञान होना है, वही मुक्त हो जाना है। अतः जिस प्रकार बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट मोक्ष की व्याख्या करता हुआ कोई स्थविरवादी भदन्त 'निब्बानं हि महाराज अकम्मजं, अहेतुजं' (मिलिन्दपञ्हो) आदि कह सकता है तो औपनिषद मोक्ष का कोई उत्तरकालीन व्याख्याकार भी, 'तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः' (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १।१।४)जैसे कह सकता हैं। तत्वतः भेद कहां ठहरता है? भगवान् याज्ञवल्क्य ने अपने अपरिमित वीर्यवान् शब्द कह कर इसके लिए कोई संभावना ही नहीं छोड़ी है। 'मैत्रेयी! जहां दो का भाव है, वहीं तो एक दूसरे को देख सकता है, सूंघ सकता है, बोल सकता है, सुन सकता है, सोच सकता है, किन्तु

---

(१) मिलाइए बृहदारण्यक० ३।५।१; छान्दोग्य० २।४।१; ईश० १; कठ० १।२।१२-१३; छान्दोग्य० ४।१५।६ भी।

जहां सब ही आत्मा में परिणत हो गया तब किसको किसके द्वारा वह देखे सुने, सोचे समझे'[१] । हमारा जितना ज्ञान है, वह तो ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत पर ही निर्भर है, किन्तु जहां 'अविशेष' है वहां क्या कहा जाय ? वहां मौन के सिवाय और क्या उत्तर हो सकता है ? सिवाय निषेधात्मक विवरण के और विधानात्मक अर्थ की वहां क्या अर्थवत्ता हो सकती है ? गौडपादाचार्य ने भी तो कारणवाद के समाप्त होने पर ऐसी ही अवस्था दिखाई है और क्या स्वयं कुमारिल ने भी नहीं कहा कि यदि मोक्ष को शाश्वत होना है तो उसे निषेधात्मक होना ही चाहिए ?[२] हमारी सभी शंकाएं और सभी विवाद व्यक्तित्व के स्वरूप को न समझने के कारण ही होते हैं और यदि हम उसके स्वरूप को बुद्ध के और उपनिषदों के मन्तव्यों के अनुसार समझ पावें तो हमारे लिए विधानात्मक और निषेधात्मक जैसे शब्द ही व्यर्थ हो जाते हैं और अपने को विनाश करना या सत्ता का अभाव होना जिससे हम बहुत ही डरते हैं, ये बातें बिलकुल व्यर्थ ही हो जाती हैं। यदि उपनिषदों और बुद्ध के मन्तव्यों के अनुसार परमावस्था का कुछ चित्र हमें ग्रहण करना होगा तब तो हमें निश्चय ही 'नाम' और 'रूप'। (औपनिषद और बौद्ध दोनों ही प्रयोगों में, क्योंकि जितना भी 'नाम' है और जितना भी 'रूप' है चाहे भूत का चाहे भविष्यत् का चाहे वर्तमान का,.....वह न मेरा है, न वह मैं हूं, ऐसा भगवान् बुद्ध ने तो कहा ही है, शंकर के मतानुसार उपनिषदों के मन्तव्य में भी 'नामरूपे च न आत्मधर्मो.....ते च पुनर्नामरूपे सवितरि अहोरात्रे इव आत्मनि कल्पिते, न परमार्थतो विद्यमाने-तैत्तिरीय भाष्य—२।८) उनके प्रति विमोह छोड़ना ही होगा। किन्तु यदि इतनी शक्ति अभी हम में नहीं है, आत्माभिनिवेश से अभी हम इतने चिपटे हुए हैं कि उसके बिना भयान्वित हो उठते हैं, तो हमारे आश्वासन के लिए भक्तों और वैष्णवों की सुविस्तृत परम्परा उपस्थित है जो मोक्ष के विधानात्मक स्वरूप पर ही जोर देती है और जिसने अपने उपास्य देव के साथ भी 'नाम रूप दोउ ईस उपाधी' कह कर उन्हें ईश्वर के साथ चिपटा रक्खा है, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि जब भक्त भी 'जहां न नाम न रूप' की अनिरुक्त अवस्था में रहस्यात्मक रूप से जाने लगेंगे तब तो आत्माभिनिवेशी जन के लिए कोई आश्रय ही नहीं रहेगा ! भारतीय दर्शन में मुक्ति के स्वरूप को समझने के लिए और

(१) उद्धरण के लिए देखिए पीछे उपनिषदों के एकात्मवाद का विवेचन ।
(२) देखिए आगे वेदान्त और पूर्वमीमांसा दर्शनों के विवेचन ।

उसमें एकवाक्यता लाने के लिए (यदि वह संभव हो) हमें व्यक्तित्व के संप्रश्न पर ही पहले निश्चित हो जाना चाहिए और चूंकि उसका विवेचन हम आत्म- वाद और अनात्मवाद के रूप में पहले कर ही चुके हैं, इसलिए इस विषय में यहां कुछ अधिक कहने को शेष नहीं रह जाता। साधन-पक्ष के विषय में हम यह तो कह ही आए हैं कि यज्ञादि के प्रश्न को लेकर बुद्ध और उपनिषदों के विचार में पारस्परिक क्या संबंध है। यहां यही कहना शेष है कि सत्य (मुण्डक० ३।१।६) और श्रद्धा (तैत्तिरीय० १।११) पर उपनिषदें अत्यन्त जोर देती ही हैं और इन्द्रिय निग्रह पर भी उनका विशेष आग्रह है (देखिए कठ-उपनिषद्)। फिर तपस् का जो स्वरूप उनमें निहित है उसके विषय में हम प्रथम प्रकरण में ही बहुत कुछ कह आए हैं, अतः यहां कहने की विशेष आवश्यकता नहीं दिखाई पड़ती। केवल कुछ श्रुतियों की ओर संकेत मात्र कर सकते है[1], जिनको देखकर पाठक स्वयं ही बुद्ध के मन्तव्यों से उनकी अद्‌भुत समानता का अनुमापन कर सकेंगे। फिर औपनिषद मनीषियों ने बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट मध्यम मार्ग की भी अनुभूति पहले से न करली हो, ऐसा भी हम नहीं कह सकते। सत्यवह भारद्वाज को हम बुद्ध के मध्यम मार्ग के लिए पूर्व भूमि तैयार करते देखते हैं[2]। बहुत तो हम यहां इस विषय में

(१) द्रष्टव्य छान्दोग्य० ३।१७।४; बृहदारण्यक... १।२।६; ३।८।१०; तैत्तिरीय० १।९।१।३; २।१।३; ३।१; तैत्तिरीय ब्राह्मण० २।२।३।३; मिलाइए दासगुप्त : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ २२६

(२) मिलाइये "सत्यवह भारद्वाज was one of the pioneers among those thinkers who bravely faced the problem, upheld transcendentalism against both asceticism as largely practised by the Vedic ascetics and wordly life as regulated with puritanic strictness by the Brahmin priests and jurists. He thus prepared the way for the rationalism of Buddha who enunciated the Middle path and sought for a via media in thought, conduct and intellect. ual training." डा० वेणीमाधव वाडुआ : प्री बुद्धिस्टिक इण्डियन फलासफी, पृष्ठ २४४

नहीं कह सकते (क्यों कि बहुत कुछ प्रथम प्रकरण में ही कह चुके हैं) किन्तु केवल संकेत रूप से ही निवेदन करते हैं कि औपनिषद ऋषि जब आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की शर्तें रखते हैं और जब 'न अतपस्कस्य आत्मज्ञाने ऽधिगमः कर्मसिद्धिर्वा' ऐसा कहते हैं तो वे बुद्ध के अभिप्राय के सम्मिलित स्वर में ही बोलते हैं। पुनः इन्द्र को जो प्रजापति के पास से आत्मोपदेश पाने के लिए पवित्र जीवन बिताते हुए १०० वर्ष तक ठहरना पड़ा (छान्दोग्य० ८।११।३); स्वयं इन्द्र ने फिर प्रतर्दन से वही आत्मज्ञान के मूल स्वरूप तपस्या का जो प्रस्ताव किया (कौषीतकि–३।१), यम ने नचिकेतस् को जितना तंग किया (कठ० १।२०), रैक्व ने जानश्रुति को छान्दोग्य...४।१), सत्यकाम ने उपकोशल को (४।१०।२), प्रवाहण ने आरुणि को (छान्दोग्य० ५।३।७, वृहदारण्यक० ६।२।६), प्रजापति ने इन्द्र और वैरोचन को (छान्दोग्य० ८।८।४), याज्ञवल्क्य ने जनक को (वृहदारण्यक० ४।३।१) और सत्यकाम ने बृहद्रथ को जो तपस्या की प्राथमिक शर्त के लिए, पवित्र जीवन की प्रथम प्रतिष्ठा के लिए, इतना उत्साहित किया तो निश्चय ही विशुद्ध नैतिकवाद की ही वह विजय थी जिसके बिना सभी अध्यात्म-विद्या की वार्ता निश्चय ही धूल में मिल जाती है। अतः यहां भी बुद्ध-मन्तव्य और औपनिषद मन्तव्य समान ही हैं। बुद्ध ने सदाचार की जो प्रतिष्ठा कायम की है उसी पर किसी भी ज्ञान की बुनियाद रक्खी जा सकती है, अतः हम कह सकते हैं कि चित्त-शुद्धि पर ज़ोर देकर बुद्ध ने उपनिषदों के मन्तव्यों को ही पूरा किया है और फिर उपनिषदें तो ज्ञान की पर्याय हैं। जिस प्रकार हम एक मंजिल की प्रतिष्ठा और उसके ऊपरी रूप में कोई विभेद नहीं कर सकते, क्योंकि एक के टूटने पर ही दूसरा गिरता या व्यर्थ होता है, उसी प्रकार हमें आचारतत्त्व और तत्वज्ञान दोनों के संग को मानना चाहिए और इस दृष्टि से हम उपनिषदों और बुद्ध के मन्तव्यों में विभेद नहीं कर सकते। उपनिषदों के ऋषियों ने आत्मज्ञान के अनधिकारी व्यक्तियों की जो लंबी सूची बनाई है'[1] उसी से हमें समझ लेना चाहिए कि जीवन की पवित्रता को वे कितना परम उच्च स्थान देते थे और इस दृष्टि से भी औपनिषद मनीषी और उन्हीं की परम्परा में आने वाले भगवान् बुद्ध एक ही हैं। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत उपनिषदों में बड़ी दार्शनिक गहनता के साथ मिलाए गए हैं। इस प्रकार छांदोग्य उपनिषद् कहती

(१) देखिए ऐतरेय आरण्यक० ३।२।६।९; छान्दोग्य० ३।११।५; बृहदारण्यक० ६।३।१२; श्वेताश्वतर० ६।२२; मुण्डक० ३।२।११;

है 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेत प्रेत्य भवति।'[1] इस एक छोटे से वाक्य में कर्म का मनोवैज्ञानिक रूप भी रक्खा हुआ है और मनुष्य के जीवन में उसका व्यापक महत्व भी। 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः'[2] अर्थात् 'मनुष्य खेती की तरह पकता और खेती की तरह फिर उत्पन्न होता है' इसमें पुनर्जन्मवाद का सत्य अच्छी तरह से दिखाया गया है। इसी प्रकार छांदोग्य० ५।३।१० (वेत्थ यदितो ऽधि. . .प्रजा प्रयन्तीति) तथा बृहदारण्यक ६।२ (वेत्थ यथेमाः प्रजाः . .इत्यादि) पुनर्जन्म के सत्य को बड़ी अच्छी तरह से सिखाती हैं। फिर यहां तो उनका यह सरलतम उपदेश ही पर्याप्त है कि 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन[3]' अथवा 'यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते'[4]। यह सब बौद्ध दृष्टि कोण के अनुकूल ही है, इसे हमें विस्तार से दिखाने की यहां आवश्यकता नहीं। उपनिषदें मनुष्य की चेतना को पूर्ण स्वतन्त्रता देती हैं और बुद्ध भी। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि इस विषय में दोनों में तनिक भी भेद नहीं है। कर्म करने से ही दोनों के उपदेशों का पालन हो सकता है[5] और ज्ञान की महत्ता में दोनों का ही समान विश्वास है।

इस प्रकार दर्शन के अनेक विवेचनीय विषयों को लेकर हमने बुद्ध के विचार और उपनिषदों के विचार का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक मार्ग को भी हमने अपना आश्रय बनाया है।

सम्यक् सम्बुद्ध औपनिषद विचार-परम्परा से विरहित नहीं हुए, बल्कि वही उनके समग्र आचारतत्व और तत्वज्ञान की प्रतिष्ठा है और इसके बिना उसका समझा जाना ही अशक्य है

बिना पुनरुक्ति किए हम ऐतिहासिक रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्यक् सम्बुद्ध औपनिषद विचार-परम्परा से विरहित नहीं हुए, किन्तु वही उनके समग्र आचारतत्व और तत्वज्ञान की प्रतिष्ठा है और उसके बिना उसका समझना ही अशक्य है। तत्व दर्शन में केवल 'अन्' लग जाने से ही कोई विपरीत दर्शन नहीं हो जाता। उसके समग्र

(१) ३।१४।१; द्रष्टव्य बृहदारण्यक० ४।४।५ भी।
(२) कठ० १।१।६
(३,४) बृहदारण्यक० ४।४।५
(५) क्योंकि, कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। ईश० २; आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः। मुण्डक० ३।१।४

रूप, क्षेत्र, उद्देश्य और जीवन के साथ सम्बन्ध की विवेचना करनी पड़ती है और इस तरह से हमने देखा है कि बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद (उत्तरकालीन बौद्ध नैरात्म्यवाद नहीं) औपनिषद आत्मवाद का विपरीत सिद्धान्त नहीं है। बुद्ध केवल निरुक्त, दृष्ट, भूत, व्यक्त और पराक् का आश्रय लेकर और औपनिषद ऋषि अनिरुक्त, अदृष्ट, अभूत, अव्यक्त और अतीत का आभास देकर उपदेश देते हैं। दोनों में ही इसके विभिन्न प्रवृत्तियां भी न हों, ऐसा भी नहीं है, यह सब हम पहले देख ही चुके हैं। दोनों एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हैं और मनुष्य-जीवन के लिए एक ही सन्देश देते हैं। अतः हम कहते हैं कि बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद औपनिषद ऋषियों के द्वारा ही किए हुए आत्मा के निषेधात्मक व्याख्यानों का स्वाभाविक प्रवर्तन और आगे बढ़ाना है[1], जो ब्रह्मवाद से ऊपर की स्थिति को प्रकट करता है। बुद्ध को ऐसा कोई ब्रह्मवादी नहीं मिला जो अधिकार पूर्वक कह सकता 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'। यदि ऐसा होता, तो बुद्ध-धर्म का आविर्भाव ही नहीं होता। बुद्ध-धर्म वह ब्रह्मवाद है जो अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित है, अन्धवेणु परम्परा नहीं है। इस लिये भगवान बुद्ध अपने को ब्रह्मा की सलोकता के मार्ग को जानने वाला मानते थे। बुद्ध ने किसी नवीन धर्मनगर का निर्माण नहीं किया, बल्कि केवल प्राचीन ध्वंसावशेष नगर का उद्धार ही किया है[2]। इसीलिए तो तथागत ऋषि थे, वेदज्ञ थे, वेदान्तज्ञ थे, यज्ञ करने वाले ब्राह्मण (याजयोगो ब्राह्मणो) थे और इन सबके साथ ही साथ, 'उत्तम भिषक्' भी थे।

बहुजन वेदान्त (जबकि वेदान्त से तात्पर्य यहां प्राचीन उपनिषदों या ज्ञान के चरम निष्कष से है) के रूप में बुद्ध-शासन को देखना ही वास्तव में औपनिषद मन्तव्य के साथ मूल बुद्ध-दर्शन के सम्बन्ध का ठीक अनुमापन करना है,

इतना समझ लेने पर हमारे लिए यह भी समझना कठिन नहीं रह जाता कि बुद्ध के धर्म को 'बहुजन' वेदान्त कहना उपनिषदों के साथ उसके सम्बन्ध को समझने के लिए ठीक ही अभिधान हो सकता है। उपनिषदें उस पुरातन काल में भी सर्वसाधारण के लिए रहस्यात्मक पुस्तकें ही थीं। 'गुह्यादेश' जिसको छान्दोग्य० ३।२।५ में कहा गया, 'परमं गह्यम्' जिसको कठ०

---

(१) देखिए दासगुप्तः हिस्ट्री आफ इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४४-४५

(२) देखिए, 'नगर सुत्त' (संयुत्त-निकाय)

३।१७ एवं श्वेताश्वतर ६।२२ में कहा गया, जिसके विषय में 'वेद गुह्य उपनिषत्सु गूढम्' श्वेताश्वतर ५।६ में कहा गया, वह औपनिषद ज्ञान साधारण जनों को अपना लक्ष्य बनाने वाला कभी नहीं रहा होगा, ऐसा आसानी से कहा जा सकता है। किन्तु इसको उनमें प्रसारित करने की आवश्यकता तो थी ही। यह कार्य अनायास रूप से ही बुद्ध के द्वारा सम्पादित हुआ, ऐसा हम कह सकते हैं। निश्चय ही यहां औपनिषद तत्त्वज्ञान द्रवीभूत होकर अनेक प्राणियों के कल्याणार्थ माता के स्तन्य दुग्ध की तरह, अथवा भगवती भागीरथी की तरह, प्रवाहित होने लगा है जिसे दिशा दिखाने वाला भी 'आश्चर्य वक्ता' बुद्ध जैसा मिला जिसकी वाणी का सा ओज और मुख का सा ब्रह्मवर्चस, विश्व में आजतक किसी का नहीं देखा गया। अन्य जो कारण बुद्ध के धर्म को 'बहुजन वेदान्त' के नाम से पुकारने के हो सकते हैं, उन्हें हम पांचवें प्रकरण के आरम्भ में प्रकट कर चुके हैं। यहां इतना ही कहकर हम विराम लेते हैं कि उपनिषदों के स्वाध्याय को प्रारम्भ करने के प्रथम क्षण में ही 'य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु' की आवृत्ति करते समय यदि हम बोधिपक्षीय धर्मों की कुछ अनुस्मृति कर लें तो हमने जो कुछ कहा है उससे असहमत होने का कोई विशेष कारण नहीं दिखाई पड़ेगा। वैसे बौद्धिक विचारों और मत-भेदों का अन्त ही नहीं है। किन्तु जीवन के प्रति जो सन्देश है वह तो अविवाद और अविरुद्ध है और वही सम्यक् आर्यमार्ग भी है—'एष वै पन्थाः सुकृतस्य लोके'।

आ—बौद्ध दर्शन और गीता

गीता-दर्शन का समग्र और अविरोधी स्वरूप

गीता एक समग्र दर्शन है। सम्पूर्ण अविरोधी सत्य को दिखाने का वहां प्रयत्न किया गया है। इसलिये स्वभावतः अनेक तात्त्विक चिन्ताओं का समाधान उसके अन्दर हुआ है। गीता वस्तुतः कामधेनु है। जैसा सन्त ज्ञानेश्वर ने कहा है "यह गीता रूपी माता कभी ज्ञानी और अज्ञानी सन्तान में कोई भेद नहीं करती"[१]। भगवान् कृष्ण की यह वाङमयी मूर्ति है। यदि बौद्ध परिभाषा का प्रयोग करें तो गीता को हम भगवान् कृष्ण का 'धर्मकाय' कहेंगे। गीता का प्रत्येक अक्षर ब्रह्म-रस से सुगन्धित है, जिस प्रकार प्रत्येक बुद्ध-वचन विमुक्ति-रस से आर्द्र है।

(१) ज्ञानेश्वरी (रामचन्द्र वर्मा-कृत हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ६९५

समस्त ज्ञान और दर्शन का मन्थन करके व्यासदेव की बुद्धि ने गीता को उत्पन्न किया है। गीता किसी को 'न' नहीं कहती। चाहे कोई उसका केवल श्रवण करे (श्रणुयादपि यो नरः), चाहे कोई पाठ करे, और अर्थ-ग्रहण करने वाले की तो कोई बात ही नहीं, मोक्ष-रूपी प्रसाद वह सबको बराबर-बराबर ही बांटती है। ज्ञानेश्वर महाराज के उदात्त शब्दों में "मोक्ष से कम तो वह कभी किसी को देती ही नहीं और सब को एक सिरे से ही मोक्ष देती है"[१]।

गीता-तत्त्व का आकलन प्रमाण-प्रमेय-विषय बुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं है। तथागत-प्रवेदित धर्म के समान वह भी 'अतर्कावचर' है। गीता-तत्त्व अज्ञेय और अपरिमेय है। पर अनुभव के सामने वह अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। बुद्धत्व-ज्ञान के समान वह अनुभवगम्य है, दृष्ट धर्म है, इसी शरीर में संवेद्य है। गीताकार ने स्वयं कहा है, 'यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव में आने योग्य, अभ्यास करने में सुगम और अविनाशी है'[२]। समत्व में पूर्णता-प्राप्त मनुष्य काल आने पर स्वयं अपने अन्दर इस ज्ञान का दर्शन करता है[३]। गीता-दर्शन बुद्ध-दर्शन की भांति प्रत्येक शरीर में वेदनीय (पच्चन्त वेदनीयो) धर्म है। विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु की परम्परा से प्राप्त (विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्––एवं परम्पराप्राप्तं) यह ज्ञान नित्य नवीन है। इसका प्रभाव अतीन्द्रिय है और वह शब्दों की पकड़ में नहीं आता। ज्ञानियों के स्वामी, विलक्षण महाराष्ट्र-सन्त ने कहा है "यह कथा वास्तव में बिना शब्दों की सहायता के ही कही जाती है, इन्द्रियों का बिना पता लगे ही इसका अनुभव होता है और कानों तक शब्दों के पहुँचने के पहले ही इसके तत्त्व-सिद्धान्तों का आकलन किया जाता है"[४]। यह बात अक्षरशः सत्य है।

गीता में उपनिषदों का सार-संकलन हुआ है, यह प्राचीन मान्यता है। कृष्ण रूपी गोप ने अर्जुन रूपी बछड़े को लगाकर उपनिषदों रूपी गायों से गीता-

---

(१) ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ ७०७

(२) प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्। गीता ९।२

(३) तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति। गीता ४।३८; मिलाइये "मागन्दिय! जब तू सद्धर्म के अनुसार आचरण करेगा तो स्वयं ही जानेगा, स्वयं ही देखेगा......" मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५)

(४) ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ ४

गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है

मृत को दुहा है[१]। गीता में वस्तुतः उपनिषदों के ज्ञान का ही गायन हुआ है और उसका अन्तिम मन्तव्य उनसे भिन्न नहीं है। आचार्य शंकर ने गीता-दर्शन को इसी दृष्टि से देखा है। उनका कहना है कि इस गीता-शास्त्र का प्रयोजन संक्षेपतः परम निःश्रेयस की प्राप्ति ही है और परम निःश्रेयस का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है कि वह इस सहेतुक संसार की आत्यन्तिक उपशान्ति ही है[२]। परम निःश्रेयस की प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि यह सर्वकर्म-संन्यास पूर्वक आत्मज्ञान-निष्ठा रूपी धर्म से ही सम्भव है[३]। इस प्रकार उन्होंने सर्व-कर्म-संन्यास के द्वारा आत्म-ज्ञान की प्राप्ति को ही परम निःश्रेयस के रूप में गीता का प्रतिपाद्य विषय माना है। सीधे-सादे शब्दों में, आचार्य शंकर के मतानुसार, गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है। जहां तक बौद्ध दर्शन के साथ गीता-दर्शन के सम्बन्ध का प्रश्न है, हम इसी भूमिका को लेकर चलेंगे। बौद्ध दर्शन मुख्यतया बोध-मार्ग है और बोध के द्वारा ही वह दुःख-विमुक्ति को सिखलाता है। गीता में भी ज्ञान की महिमा चरम मानवीय पुरुषार्थ के रूप में सुरक्षित है। महात्मा गान्धी ने गीता को 'श्रीकृष्ण का अर्जुन को दिया हुआ बोध' कहा है[४]। अतः स्थूल श्रेणी-विभाग की दृष्टि से हम बौद्ध दर्शन और गीता दोनों को बोध-मार्ग या ज्ञान-मार्ग के विषय मान सकते हैं।

परन्तु गीता के ज्ञान में कर्म और भक्ति का भी समन्वय है। युग-धर्म के अनुसार, तिलक और गांधी जैसे आधुनिक विचारकों ने गीता के कर्म-योग को कुछ

ज्ञान और कर्म का समन्वय

अधिक महत्व दे दिया है, जो उसका मौलिक एवं चरम मन्तव्य नहीं जान पड़ता। इसमें संदेह नहीं कि गीता का सर्व-कर्म-संन्यास वास्तव में सर्व-कर्म-फल-संन्यास ही है और वहां कर्म करने पर जोर दिया गया है। सांख्य (ज्ञानयोग)

---

(१) सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

(२) अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयस सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। गीता-भाष्य का उपोद्घात।

(३) तत् च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठारूपात् धर्मात् भवति। गीता-भाष्य का उपोद्घात।

(४) गीता-बोध, पृष्ठ ४

और कर्म (कर्म-योग) में गीता कोई भेद नही देखती। "सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पंडिता[1] :।" गीता के अनुसार तो "सांख्य और योग को जो एक देखता है, वही वस्तुत: देखता है[2]।" अर्जुन के कर्म-विहीन, नैराश्यमय 'प्रज्ञावाद' की वहां भर्त्सना की गई है (प्रज्ञावादांश्च भाषसे) और उससे कहा गया है कि 'तू कर्म कर' (कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्)[3]। स्थितप्रज्ञ के लक्षण (अध्याय २) सुनकर अर्जुन ज्ञान-योग की ओर प्रवण हो जाता है और वह द्विविधा में पड़ जाता है कि यदि ज्ञान ही कर्म से श्रेष्ठ है तो फिर उसे घोर कर्म में क्यों लगाया जा रहा है। 'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव'[4]। तदन्तर भगवान् कृष्ण ने उससे जो कुछ कहा है, उसका सारांश यही है कि बिना कर्म के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। 'कर्म में ही तेरा अधिकार है[5]।' इसलिए 'योगस्थ होकर तू कर्म कर'[6]। 'कर्मों के अनारंभ से ही मनुष्य नैष्कर्म्य का अनुभव नहीं कर सकता और न केवल संन्यास से ही वह सिद्धि प्राप्त करता है[7]।' फिर 'बिना कर्म किये कोई क्षण भर भी नहीं रह सकता[8]।' 'इसलिये निश्चय ही तू कर्म कर ।'[9] 'बिना कर्म किये तो तेरी शरीर-यात्रा भी न चलेगी'[10]। 'इसलिये तू रागरहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर, क्योंकि यज्ञार्थ कर्म से व्यतिरिक्त कर्म इस लोक में बंधन का कारण है[11]।' 'अत: अनासक्त होकर तू सतत करणीय कर्म को कर'[12]।

(१) ५।४
(२) एकं साख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति। ५।५
(३) ४।१५
(४) ३।१
(५) कर्मण्येवाधिकारस्ते। २।४७
(६) योगस्थ: कुरु कर्माणि। २।४८
(७) न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥३।४
(८) न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।३।५; मिलाइये १८।११ भी
(९) नियतं कुरु कर्म त्वं।३।८
(१०) शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण:।३।८
(११) यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग: समाचर ॥ ३।९
(१२) तस्मादसक्त: सततं कार्यं कर्म समाचर।३।१९

'देख, जनकादि ऋषियों ने भी तो कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की और लोक-संग्रह की दृष्ठि से भी तुझे कर्म करना चाहिये[1]।' 'लोक-संग्रह की इच्छा से विद्वान् पुरुष को सदा असक्त होकर कर्म करना चाहिए[2]।' ज्ञान पूर्वक पूर्वकाल में मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया है, इसलिये पूर्वजों का अनुसरण करतू कर्म कर[3]।' 'करणीय कर्म को जो आसक्ति छोड़कर करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है, न कि अग्नि और क्रिया को छोड़ने वाला[4]।' इसलिये 'जिसे संन्यास कहा जाता है उसे तू योग समझ[5]।' 'यज्ञ, दान, तप आदि कर्म छोड़ने योग्य नहीं हैं[6]।' 'इन्हें तू आसक्ति और फल की कामना छोड़कर कर, यह मेरा निश्चित मत है[7]।' कर्म-फल का त्यागी ही वास्तव में त्यागी है,[8] और काम्य कर्मों का त्याग ही संन्यास कहा जाता है[9]। 'इसलिये तू कर्म कर।' कर्म पर इतनी पुनरुक्तियों के साथ जोर देने से यह आभास होने लगता है कि गीता प्रवृत्ति-लक्षण धर्म का प्रचारक ग्रंथ है, ज्ञान-परायण निवृत्ति-मार्ग का नहीं। परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। गीता निवृत्ति और प्रवृत्ति में कोई भेद नहीं करती। उसका कर्म-योग वास्तव में ज्ञान को जीवन से एकाकार करने का साधन है। जिस किसी ज्ञान-मार्ग का विकास भारत में हुआ है उसमें सदा यह आशंका रही है कि उसे गलती से अक्रियावाद न समझ लिया जाय। हम जानते हैं कि भगवान् बुद्ध के समय में

---

(१) कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ ३।२०

(२) कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ ३।२५

(३) एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ ४।१५

(४) अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ६।१

(५) यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव। ६।२

(६) यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। १८।५

(७) एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ १८।६

(८) यस्तु कर्म फल त्यागी स त्यागीत्यभिधीयते। १८।११

(९) काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। १८।२

उनके विषय में कितना प्रवाद फैला हुआ था कि वे अक्रियावादी हैं, जिसका उन्हें काफी प्रतिवाद करना पड़ा था। चूंकि गीता ज्ञान में संपूर्ण कर्म की परिसमाप्ति मानती है,[१] ज्ञानाग्नि के द्वारा वह सब कर्मों का भस्मीभूत होना स्वीकार करती है,[२] ज्ञान के सदृश पवित्र यहां वह कुछ नहीं देखती,[३] ज्ञानी को भगवान् की आत्मा ही बतलाती है,[४] ज्ञान रूपी नाव के द्वारा संपूर्ण पापों से पार होना सिखलाती है[५]। और ज्ञान के द्वारा ही वह भगवद्भाव रूपी परम शांति की प्राप्ति भी संभव मानती है,[६] इसलिए यह मानना पड़ेगा कि उसका चरम लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति ही है और कर्म पर उसका आग्रह उसकी इस चिन्ता को अभिव्यक्त करता है कि कहीं ज्ञान अक्रियावादी न हो जाय, जिसके विषय में, जैसा हम पीछे देख चुके हैं, स्वयं भगवान् तथागत भी अत्यन्त सावधान थे[७]। कुछ विद्वानों का विचार है कि संपूर्ण गीता-दर्शन 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'[८] (इस लोक में कर्म करते हुए ही) इस श्रुति का विस्तार है। परन्तु इस श्रुति के भाष्य की प्रस्तावना में आचार्य शंकर कहते हैं "जो आत्मत्व का ग्रहण करने में असमर्थ अनात्मज्ञ पुरुष है उसके लिये यह मंत्र उपदेश करता है[९]।" यदि हम गीता को प्रवृत्ति-परक कर्म-योग-शास्त्र मानें, जैसा लोकमान्य तिलक ने प्रस्ताव किया है, तो आचार्य शंकर की यही दृष्टि उसके संबंध में भी होगी जैसा उन्होंने स्वयं गीता-

---

(१) सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। ४।३३

(२) ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। ४।३७
मिलाइये, ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः। ४।१९

(३) नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। ४।३८

(४) ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। ७।१८

(५) सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि। ४।३६

(६) बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः। ४।१०
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। ४।३९
मिलाइये, गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ५।१७

(७) देखिये पृष्ठ ५२६

(८) ईश २

(९) अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय अशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः। ईश १ पर शांकर भाष्य।

भाष्य के उपोद्घात में भी व्यक्त कर दिया है। और फिर गीता को उपनिषदों का सार भी कैसे कहा जायगा? अतः गीता का साध्य तो परम निःश्रेयस रूप ज्ञान ही मानना पड़ेगा और उसका साधन कर्म। 'न्यास एवात्यरेचयत्'[1] (संन्यास ही उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ) इस श्रुति से गीता इन्कार नहीं करती, केवल 'न्यास' का अर्थ वह कर्म-फल-न्यास करती है, कर्म-न्यास नहीं। यही एक मात्र मार्ग है जिससे हम उपनिषद् के 'संन्यास ही उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ', इस वचन और इसके ठीक विपरीत दिखाई देने वाले गीता के वचन 'कर्म-संन्यास और कर्मयोग, इन दोनों में कर्मयोग ही श्रेष्ठतर है[2]' की वास्तविक अविरोध स्थिति को समझ सकते हैं। ज्ञान की जीवन के साथ एकनिष्ठता स्थापित करने की गीता की जितनी व्यग्रता और चिन्ता दिखाई पड़ती है, वह उसकी एक प्रमुख विशेषता है और तथागत इस संबंध में उसके साथ हैं। हां, कुछ गहराई से पैठने पर यह अवश्य ज्ञात होगा कि कर्म-प्रवृत्ति पर गीता में आपेक्षिक रूप से कुछ अधिक जोर है जब कि प्रज्ञा पर बौद्ध धर्म में। इसलिए 'कर्म-कौशल' को ही योग मानने वाले गीता के साधक को निर्लिप्त अनासक्त स्थिति प्राप्त करने में विशेष कष्ट उठाना पड़ेगा जैसा कि ध्यान को ही श्रेष्ठतम कर्म मानने वाले प्रज्ञापरायण बौद्ध साधक को साक्षात् कर्मयोग से संपर्क स्थापित करने में, पर जहां दोनों का मिलन-बिन्दु होगा वहीं बौद्ध और गीता दर्शन एक दूसरे का आलिंगन करते दिखाई पड़ेंगे और वहीं पूर्ण मानवत्व का विकास भी होगा।

मध्यम-मार्ग गीता में भी प्रशंसित

बौद्ध धर्म का प्राण मध्यम मार्ग है। और वह गीता में भी प्रशंसित है। भोगवाद और आत्मा-पीड़ा की अतियां जिस प्रकार बौद्ध साधना को पसन्द नहीं, उसी प्रकार गीता में भी उन्हें श्रेय का मार्ग नहीं माना गया है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है :—

"यह समत्व रूप योग न तो अधिक खाने वालों को प्राप्त होता है और न निरे उपवास करने वालों को। उसी तरह बहुत सोने या बहुत जागने वालों को भी यह नहीं मिलता।

जो मनुष्य आहार-विहार में, दूसरे कार्यों में, सोने जागने में, समानता

(१) तैत्तिरीय उपनिषद्, ईश २ पर शांकर-भाष्य में उद्धृत।
(२) तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते। गीता ५।२

रखता है, उसका योग दुःखनाशक सिद्ध होता है[1]।" भगवान् बुद्ध के प्रथम प्रवचन का, जो उन्होंने वाराणसी के समीप ऋषिपतन मृगदाव में दिया था, वस्तुतः सार यही है।

यदि हम यह कहें, जैसा कि बहुतों को कहने का प्रलोभन होगा, कि मध्यम मार्ग रूपी बौद्ध धर्म इन दो श्लोकों का विस्तार ही है, तो यह कहना ठीक न होगा। पहले तो गीता निश्चयात्मक रूप से पूर्व-बुद्धयुगीन नहीं है और फिर आहार-विहार का स्थूल समत्व ही मध्यम मार्ग नहीं है। हम केवल यही कहेंगे कि साधना के एक सामान्य मार्ग के रूप में मध्यम-मार्ग गीता में भी प्रशंसित है और इससे हमारी यह श्रद्धा बलवती ही होती है कि तथागत के द्वारा अभिज्ञात मध्यमा प्रतिपदा निश्चयतः चक्षु देने वाली, ज्ञान पैदा करने वाली और शांति, ज्ञान बोध और निर्वाण को प्राप्त कराने वाली है। 'मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय संबोधाय निब्बाणाय संवत्तति[2]।' मार्ग-दर्शन के संबंध में भगवान् कृष्ण और बुद्ध का यह समान अभिप्राय जीवन-शोधकों के लिये परम संतोष और आश्वासन की बात है।

गीता का भक्ति-योग और बौद्ध साधना

गीता का भक्ति-योग उसके दर्शन का मुख्य आश्वासन कहा जा सकता है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है कि गीता के मध्य में स्थित यह श्लोक धुरी की तरह उसके दर्शन को सन्तुलित कर देता है :

"जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं, उन सदा मुझ में रत रहने वालों के योग-क्षेम का भार मैं उठाता हूं[3]।" भगवान् की अनन्य भक्ति और भगवान् के द्वारा भक्त के योग-क्षेम के भार को उठाने की प्रतिज्ञा, गीता-दर्शन के ये दो बड़े आश्वासन हैं। भक्ति कर्म और ज्ञान के बीच मध्यस्थता करती है। कर्म-नियम की कठोरता गीता को मान्य है, कर्म

(१) नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ ६।१६।-१७

(२) धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त (संयुत्त-निकाय)

(३) ९।२२

की कुशलता भी योगी का अनिवार्य लक्षण है। परन्तु जो दुराचारी है, जिसके कर्म बुरे हैं, जिसमें पुरुषार्थ सहसा नहीं जगाया जा सकता, उसके लिये आश्वासन अनन्य भक्ति में ही मिल सकता है। गीता में भगवान् का कहना है "बड़े से बड़ा दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मेरा भजन करता है. तो यह जानो कि वह साधु ही बन चुका है, क्यों कि अब उसका संकल्प शुभ है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा बनकर शांति पाता है। हे कौन्तेय! तू निश्चय ही समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता[१]।" अनन्य भक्ति दुराचार को नष्ट कर देती है, भगवद्भक्त का कभी विनाश नहीं होता, ये आश्वासन निर्बल मानवता के लिये बड़े महत्व के हैं। यह बात नहीं है कि गीता कर्म और पुरुषार्थ पर भगवान्, बुद्ध के समान जोर नहीं देती है। 'आत्मदीप' और 'आत्मशरण' होने का उपदेश देने वाले भगवान् बुद्ध के समान उसकी भी मान्यता है कि "मनुष्य आत्मा द्वारा आत्मा का उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। उसी का आत्मा बन्धु है, जिसने अपने बल से मन को जीता है। जिसने आत्मा को नहीं जीता, वह अपने प्रति ही शत्रु का व्यवहार करता है।"[२] 'कर्म प्रतिशरण बनो', 'कर्म ही तुम्हारा अपना है' ये बुद्ध वचन गीता कोपूरी तरह मान्य होंगे, यह हम उसके पूर्व विवेचित कर्मयोग से भली प्रकार समझ सकते हैं। परन्तु जो प्रयत्न में मन्द हैं, जिसका मन योग से विचलित रहता है (योगाच्चलित मानसः), जो दैवी संपत्ति को लेकर नहीं जन्मा है, कर्म की जिसे प्रेरणा नहीं होती, ज्ञान-मार्ग को समझने की जिसके पास बुद्धि नहीं है, वह क्या करे? क्या वह नष्ट हो जायगा? क्या ऊर्ध्व संचरण का मार्ग उसके लिए अवरुद्ध है? गीता कहती है कि नहीं। भक्ति मार्ग उसके लिए खुला है। भक्ति का आश्वासन अनन्त है। जहां कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग असफल होते हैं, योग और चिंतन जहां अपने आश्वासन को समाप्त कर देते हैं, वहां भक्ति माता के समान साधक को अपनी गोद में ले लेती है। 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' यह आध्यात्मिक जीवन का एक बड़ा आश्वासन है। परन्तु इस आश्वासन का आधार है भागवती कृपा। भक्त का अवलम्ब भगवत्कृपा ही है। कछुई के अंडों की तरह भक्त केवल भगवत्कृपा के सहारे ही जीवित

---

(१) ९।३०-३१
(२) ६।५-६

रहते हैं। उन्हें अपने पुरुषार्थ या ज्ञान का नहीं, बल्कि भगवत्कृपा का ही सहारा रहता है। यद्यपि यह भक्ति अपनी निर्बलता और असमर्थता की भावना से उत्पन्न होती है, परन्तु इसकी साधना कर्म और ज्ञान-मार्ग से कुछ कम कठिन नहीं है। "जिन पुण्यकर्मा व्यक्तियों का पाप नष्ट हो गया है, वे ही द्वन्द्वविमुक्त दृढ़वती पुरुष मेरा भजन करते हैं[१]।" मूढ़, आसुरी भाव सम्पन्न व्यक्ति जिनके कर्म बुरे हैं और माया के कारण जिनका ज्ञान अपहरण कर लिया गया है, कभी भगवान् की ओर अभिमुख नहीं होते[२]। वस्तुतः सात्विक वृत्ति-सम्पन्न महात्मा लोग ही भगवान् का भजन कर सकते हैं[३]। भक्त के लिए ये बड़े आश्वासन हैं। कर्म और ज्ञान के साथ भक्ति को मिलाने का भरसक प्रयत्न गीता में किया गया है। 'सब काल में मुझे स्मरण कर और युद्ध कर[४]' इसी कर्मयोगमयी भक्ति का उपदेश है। कर्म-योगियों में भक्त को श्रेष्ठ बताया गया है[५]। अनन्यचेता भक्त नित्य युक्त योगी है और उसके लिए भगवान् सुलभ है। श्रद्धावान् भक्त सब योगियों में श्रेष्ठ योगी हैं[६]। इसी प्रकार ज्ञान के साथ भक्ति की एकनिष्ठता स्थापित की गई है। ज्ञानी भगवान् का श्रेष्ठतम भक्त है[७]। ज्ञान-यज्ञ के द्वारा उपासना की बात कही गई है[८]। अव्यभिचारी भक्ति के द्वारा मनुष्य ब्रह्मभूत महात्मा हो जाता है।[९] वस्तुतः भक्त के लिए जितना आश्वासन भगवान् ने दिया है, उसका शतांश भी योगी (कर्मयोगी) या ज्ञानी के लिए नहीं दिया है। 'अनन्य भक्ति से जो मेरा ध्यान करते हैं, उन्हें मैं मृत्यु संसार-सागर से पार कर देता हूं।[१०] इस आश्वासन में भगवान् की भक्त के प्रति आत्मीयता प्रकट होती है।

---

(१) ७।२८
(२) ७।१५
(३) ९।१३
(४) तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। ८।७
(५) ८।१४
(६) ६।४७
(७) ७।१६
(८) ९।१५
(९) १४।२६
(१०) देखिये १२।६-७

श्रद्धावान् परम भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं,[1] ऐसा भगवान् ने भक्तों के विषय में कहा है। गीता में कर्मयोग की प्रशंसा तो है और ज्ञान के प्रकरण में स्थितप्रज्ञ और गुणातीत पुरुषों के लक्षण भी गिनाए हैं, परन्तु कर्मयोगियों और ज्ञानियों के संबंध में कहीं 'प्रिय' होने की बात नहीं कही गयी है। ज्ञानी को भगवान् ने अवश्य अपना अत्यन्त प्रिय कहा है, यहां तक कि उसे के स्वयं अपना आत्मा कहा है,[2] किन्तु केवल इस प्रसंग में जबकि ज्ञानी स्वयं नित्य युक्त , एकनिष्ठ भक्त है[3]। गीता के अठारहवें अध्याय में, जहां कि उसके सम्पूर्ण ज्ञान का उपसंहार किया गया है, भगवान् ने गुह्य से गुह्य (गुह्याद् गुह्तरं) ज्ञान यही बताया है कि मनुष्य संपूर्ण भाव से हृदय-स्थित ईश्वर की शरण में जाय। इसी से उसे परम शान्ति मिलेगी[4]। इतना कह चुकने के बाद फिर भी संतोष प्राप्त न करते हुए गीताकार ने आगे के श्लोक में फिर दुहराया है "सबसे अधिक गुह्य मेरे परम वचन को तू फिर सुन। तू मुझे बहुत प्यारा है, अतः मैं तुझे तेरे हित की बात कहूंगा। मुझमें मन लगा। मेरा भक्त बन। मेरे लिए यज्ञ कर। मुझे नमस्कार कर। तू मुझे ही पावेगा। मेरी यह सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है"।[5] गीता-दर्शन का यह उपसंहार है, ऐसा आसानी से कहा जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर गीता ऐकान्तिक भक्ति का ग्रंथ जान पड़ेगा, जिसमें कर्म और ज्ञान की उचित स्वीकृति है। वस्तुतः गीता का अधिकांश भाग भक्ति से ही संबंधित है और दूसरे अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक से ग्यारहवें अध्याय के पचासवें श्लोक तक और पूरे बारहवें अध्याय को हम 'भक्ति उपनिषद्' ही कह सकते हैं। परन्तु गीता के इस भक्ति-दर्शन का बौद्ध दर्शन से संबंध क्या है ?

हम पहले देख चुके हैं कि भगवान् बुद्ध की साधना में भक्ति को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। उन्होंने किसी ईश्वर (इस्सर) या ब्रह्मा के प्रति आत्मसमर्पण किया हो, या ज्ञान-प्राप्ति में भगवत्कृपा जैसी किसी वस्तु ने

---

(१) १२।२०, देखिये १२।२ भी
(२) देखिये ७।१७-१८
(३) तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते। ७।१७
(४) १८।६२-६३
(५) १८।६४-६५; मिलाइये ९।३४ एवं १२।८ भी। इस प्रकार 'मन्मना भव मदभक्तो' की तीन बार आवृत्ति गीता में हुई है।

उनकी सहायता की हो, ऐसी कोई बात तथागत ने हमें नहीं बताई है। उनका मार्ग तो विशद्ध ज्ञान का था, जो अभ्यास पर आधारित था। हां, भगवान् बुद्ध के समय में उनके शिष्यों ने जिस धर्म का अभ्यास किया उसमें बुद्ध के प्रति जो उनकी अपूर्व निष्ठा की भावना थी, उसमें भक्ति के बीज हम अवश्य देखते हैं। त्रिरत्न की शरण में जाना भक्ति के कुछ तत्त्व अवश्य लिए हुए था। 'बुद्धं सरणं गच्छामि' में शरणागति तो किसी-न-किसी प्रकार है ही, जो स्वयं बुद्ध की साधना में हमें नहीं मिलती। बुद्ध और साधारण मनुष्यों की साधना में इतना भेद तो होगा ही, यह स्वाभाविक है। हम जानते हैं कि धर्मसेनापति सारिपुत्र की अपने गुरु अश्वजित् (अस्सजि) भिक्षु के प्रति, जिनके मुख से प्रथम बार उन्होंने 'ये धम्मा हेतुप्पभवा' आदि सूत्रात्मक बुद्ध-मन्तव्य को सुना था, कितनी गहरी श्रद्धा-भक्ति थी। प्रतिदिन संध्या समय, जिस दिशा में सारिपुत्र जानते थे कि भिक्षु अश्वजित् विहर रहे हैं, उसी दिशा की ओर सिर कर सोते थे। भगवान् बुद्ध से बिदा लेते समय कोई उनका शिष्य जब तक कि भगवान् अदृश्य न हो जायं भगवान् की ओर पीठ करके न चलता था। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने अपने शास्ता से जो अन्तिम विदाई ली और अपने शास्ता के चरणों की अन्तिम वन्दना की, उससे अधिक उदात्त गुरुभक्ति आज तक किसी वैष्णव ने नहीं की है। अतः शास्ता के प्रति गौरव के रूप में भक्ति के बीज आदिम बौद्ध साधना में विद्यमान थे, ऐसा हमें मानना पड़ेगा। श्रद्धा के तत्त्व की किस प्रकार स्वीकृति स्थविरवादी बौद्ध धर्म में हुई है, यह भी हम पहले देख चुके हैं। भक्ति का इतना ही विकास हमें बौद्ध धर्म के प्रारंभिक रूप में मिलता है। भक्ति का प्रकृत विकास वस्तुतः बौद्ध धर्म के महायान रूप में हुआ। इसके संबंध में हम काफी पहले कह चुके हैं। यहां गीता के सम्बन्ध को लेकर यही कहा जा सकता है कि उसका रचना-काल द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर प्रायः द्वितीय शताब्दी ईसवी तक माना जाता है। अतः महायान के भक्ति-धर्म ओर गीता के भक्ति-तत्त्व में काफी घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में पारस्परिक आदान-प्रदान भी हुआ है, जिसका विस्तृत विवेचन हम महायान-धर्म के विवरण के प्रसंग में कर चुके हैं। उसकी पुनरुक्ति करना यहां आवश्यक न होगा।

गीता के दर्शन का बुद्ध के दर्शन के साथ मिलान करने पर सबसे पहले जो बात ध्यान में आती है वह है इन दोनों की वेद के प्रति प्रवृत्ति।

वैदिक प्रज्ञान की ओर दोनों की प्रवृत्तियों की तुलना

गीता एक समन्वयात्मक दर्शन है, कर्म, उपासना और ज्ञान के मार्ग तीनों ही उसमें घनिष्ठ रूप से मिले हुए हैं। बुद्ध-दर्शन की ओर उसका कहीं संकेत मालूम नहीं पड़ता, किन्तु यह निश्चित है कि जिन विचार की क्रान्तियों का वह कहीं कहीं निदर्शन करती है और जिनका समन्वयात्मक विधान ही उसका प्रधान लक्ष्य है, उन्हीं के समान विचार की क्रान्तियों का सामना बुद्ध को भी करना पड़ा था जिनके समाधान-स्वरूप ही उन्होंने मध्यमा प्रतिपद् का मार्ग ग्रहण किया था और पवित्र जीवन के अभ्यास में ही धर्म के सर्वोच्च स्वरूप के दर्शन किये थे। अतः इसका एक परिणाम यह बड़ा हुआ है कि मानवत्व के आदर्श स्वरूप का जो चित्रण गीता में उपलब्ध होता है वही बिलकुल मूल बुद्ध के उपदेशों में भी है। अर्हत् के लक्षण तत्वतः गीता के भक्त, स्थितप्रज्ञ और गुणातीत के लक्षण हैं[1]। किन्तु गीताकार जबकि तात्विक समस्याओं के भीतर से भी एक सर्वनिष्ठ तत्व को निकाल कर अद्वितीय भाषा में रखने में समर्थ हुए हैं, बुद्ध ने उसके विषय में मौन ही रक्खा है। अतः गीताकार ने अतीत के प्रति कुछ अधिक समन्वय किया है अपेक्षाकृत बुद्ध के। बुद्ध-मन्तव्य के समान गीता-दर्शन क्रान्तिकारी नहीं है। यह प्रवृत्ति दोनों की वेद के प्रति भावना से भली प्रकार स्पष्ट होती है। गीताकार वेदों के प्रमाण को उड़ा नहीं देते। 'सर्वैश्च वेदैरहमेव वेद्यो' ऐसी उनकी उन्मुक्त घोषणा है। किन्तु 'वेदवादरत' होना उन्हें पसन्द नहीं, 'एतावदिति निश्चिता' होना ठीक नहीं, क्योंकि आखिर वेद 'त्रैगुण्य' के विषय ही तो हैं और अनुभव सम्पन्न महात्मा को वह सब अपने महान् अनुभव में से ही तो मिल जाता है जो कुछ भी वेदों में है। फिर अकेले वैदिक ज्ञान से भी तो कुछ बनता नहीं, उसके साथ भक्ति भी तो चाहिए, इसीलिए 'नाहं वेदैर्न तपसा' कह कर भगवान् ने उसकी अपर्याप्ता भी दिखाई है। किन्तु मनुष्य उच्छृंखल न हो जाय, अनुभूति को छोड़ स्वेच्छाचारी न हो जाय, इसलिए कुछ-न-कुछ उस पर अंकुश तो चाहिए ही। इसीलिए भगवान् ने कहा है 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्'। इतना

---

(१) देखिए गीता २।५५-७२; ४।१६-२३; ५।१८-२८; १२।१३-१६; इन्हें मिलाइये अर्हत् के वर्णनों के साथ जो हम चतुर्थ परिच्छेद के उत्तरार्द्ध में दे चुके हैं।

कह कर भी यह कहा 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'। क्यों न हो 'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति' वह भी तो वही है जिसे साधक को खोजना है, तो फिर उनका साहाय्य लेना क्या बुरा है? किन्तु इसकी सीमा होनी चाहिए। आत्मसाक्षात्कार तो अन्त में ज्ञान से ही होना ठहरा और उस समय वेद की पुष्पित वाणी में भटकने की जरूरत नहीं। यही हाल वैदिक कर्मकाण्ड का भी है। यज्ञ, दान, तप आदि सभी करणीय ही हैं त्याज्य नहीं, किन्तु उनको अन्तिम तो कौन मूढ़धी मानेगा? ज्ञानाग्नि को अन्त में सब कर्मों को भस्म करना ही ठहरा, यज्ञों में 'जपयज्ञ' को सर्वश्रेष्ठ होना ही ठहरा यदि 'त्रैविद्य होकर सोम को पीकर, यज्ञों को करके स्वर्ग को प्राप्त कर भी लिया, तो क्या इस प्रकार 'त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना' होकर भी क्या केवल 'कामकामा' होना ही नहीं पड़ेगा? क्या इस प्रकार 'गतागत' का चक्कर ही नहीं रहेगा? क्या फिर मर्त्यलोक में ही प्रवेश करना नहीं होगा? क्या 'कामकामा' होकर फिर 'नरकेऽशुचौ' में ही प्रत्यावर्तन नहीं होगा? तो क्या फिर इन्हें छोड़ देना होगा? नहीं, भगवान् का उत्तर है नहीं। आशा और कामना को छोड़ कर करने से इनके विषदन्त टूट जाते हैं और वे परमार्थ की प्राप्ति में सहायक ही होते हैं,बाधक नहीं, 'एतान्यदि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय। कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्'। यहीं भगवान् तथागत का भगवान् कृष्ण से विभेद है। भगवान् बुद्ध का तो नैतिक आदर्शवाद इतना स्वतंत्र व्यापक, स्वतः परिपूर्ण और सर्वानिपेक्ष है कि वह केवल मनुष्य के 'प्रधान' पर ही प्रतिष्ठित है और उसकी प्रभा केवल मनुष्य के कर्म में ही प्रस्फुटित होती है, किन्तु भगवान् गीताकार सभी को साथ लेकर चलने के पक्षपातीदिखाई पड़ते हैं, अथवा दार्शनिक भाषा में यों भी कह सकते है कि वे मानव के समग्र व्यक्तित्व को लेकर, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियां, भिन्न-भिन्न आदर्श, भिन्न-भिन्न अधिकार और अवस्थाएँ स्वतः ही समा जाएँ, चलते हैं और परिणामतः बहुत सी बातों का निराकरण न कर वे उनकी केवल सीमा मात्र बांध देते हैं ताकि 'कर्मसंगी' अज्ञानियों में भेद-बुद्धि उत्पन्न न हो जाय। भगवान् तथागत के द्वारा इस दृष्टि से भेद-बुद्धि अवश्य जनित की गई और इसीलिए वेद-निन्दक तक उन्हें बनना पड़ा। यह भारतीय दर्शन में एक अत्यन्त विचारणीय विषय है कि यद्यपि गीताकार, कुछ उपनिषदें और 'मौलिक्य' सांख्य दर्शन अपने अनेक सिद्धान्तों में वेदों के विरुद्ध चले गए हैं, किन्तु उनके विचार इतनी प्रतिक्रिया के साथ ग्रहण नहीं किए गएजितने कि बुद्ध के। इसका रहस्य यही जान पड़ता

है कि उपर्युक्त अन्य दर्शनकारों ने ऊपर निर्दिष्ट प्रवृत्तियों के ही कारण वेदों के प्रमाण को स्वीकार कर लिया है, सम्यक् सम्बुद्ध ने केवल वेदों की अपर्याप्तता को ही दिखाया है। सम्भवतः भगवान्कृष्ण अर्जुन को 'उरुवेल काश्यप' नहीं बना सकते थे और न सम्यक् सम्बुद्ध कर सकते थे उसके प्रति 'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धं' का उपदेश। इस विषय में दोनों की विभिन्नता है किन्तु इस पर तो हम बाद में आयेंगे। अतः निष्कर्ष चाहे जो कुछ निकाला जाय तथ्य यह है कि भगवान् बुद्ध अपने नैतिक आदर्शवाद के लिए किसी भी ग्रन्थ के स्वतः प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते, निर्भीक होकर उन्होंने सत्य को ही प्रख्यापित किया है जैसा कि उन्होंने स्वयं अपरोक्षानुभूति के द्वारा देखा है, फिर चाहे वह वेद के अनुकूल हो या प्रतिकूल, उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य का उनके लिए कोई प्रश्न ही नहीं है, जबकि गीताकार ने वैदिक ज्ञान और कर्मकाण्ड को भी साधना का एक प्राथमिक किन्तु आवश्यक अंग माना है और अन्त में उसी दृष्टिकोण को लिया है, जिसका साम्य बुद्ध के दृष्टिकोण से किया जा सकता है। इन सब बातों का वर्णन हमने वैदिक दर्शन के प्रसंग में भी किया है और कुछ तृतीय प्रकरण में 'आस्तिक' और 'नास्तिक' दर्शनों के विषय में विवेचन करते समय भी। अतः यहां इतना ही पर्याप्त है।

गीता दर्शन की धारा संसार में भगवान् कृष्ण रूपी स्रोत से बही है और बौद्ध दर्शन की तथागत से। दोनों के व्यक्तित्व कितने उदात्त और हिन्दू-हृदय को कितने आकृष्ट करने वाले हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं। किन्तु जबकि तथागत को हम कुछ समझ भी सकते हैं, भगवान् योगिराज कृष्ण हमारे इस प्रकार के सभी प्रयत्नों पर स्मित सा करते हैं। भगवान् कृष्ण के जीवन का ऐतिहासिक स्वरूप इतना स्पष्ट और विशद नहीं है जितना भगवान् तथागत का। कृष्ण गोपों और गोपिकाओं के प्यारे सखा भी हैं, एक कुशल राजनीतिज्ञ भी, प्रसिद्ध योद्धा भी और गीता के ज्ञान को देनेवाले महान् ज्ञानी और योगी भी, जिन्हें विदुर और भीष्म जैसे ज्ञानी साक्षात् नारायण का अवतार मानते थे। जहां तक कृष्ण और बुद्ध के मानवीय व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, दोनों आकाश के दो विपरीत छोरों पर हैं—एक के हाथ में बांसुरी है तो दूसरे के हाथ में है भिक्षा पात्र। एक आह्लादिनी शक्ति को साथ में लिये हुए है तो दूसरे के साथ है प्रज्ञा पारमिता। एक मोर मुकुट पहने हुए है

बुद्ध और कृष्ण

तो दूसरे ने अपनी तलवार से अपने केशों को काटकर श्रमण भाव प्राप्त किया है। दोनों राजकुमार हैं, किन्तु कितना अन्तर? कृष्ण पीताम्बर धारण करते हैं, किन्तु तथागत ने काशी के दुशालों को छोड़ कर पांशुकूल (फटे-पुराने चिथड़ों से निर्मित चीवर) को अपनाया है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में कृष्ण अर्जुन के सारथी बनकर निकलते हैं, तथागत युद्ध के लिये प्रस्तुत शाक्य और कोलियों के बीच जाकर खड़े हो जाते हैं और उन्हें युद्ध विरत करने में सफल होते हैं। कृष्ण कर्मयोग के साथ सौन्दर्य का भी उपभोग करते हैं, योगमें के साथ भोग भी उन्हें ग्राह्य है, जीवन में आनन्द की स्वीकृति के साथ वह एक राजयोगी हैं, दूसरी ओर बुद्ध को आनन्द और सौन्दर्य की स्वीकृति तो होगी कहां से उनकी विरति को तो आत्मा के उस सुख की भी ग्राह्यता इष्ट नहीं है जिसमें उपनिषदों के ऋषियों ने आनन्द के चरम दर्शन किये थे। अस्पर्शयोगी (बुद्ध) ने उसे भी त्यागकर उससे ऊपर अपना स्थान बनाया है जिसका दूसरा नाम 'अनात्मवाद' है। तथागत ने उस सूक्ष्मतम आत्मा के सुख को भी छोड़ा था। उनका सत्य-दर्शन उन्हें तथोक्त सौन्दर्य में अशुभ के ही दर्शन कराता है और वे सब आसक्तियों से परे चले गये हैं। विश्व की व्यवस्था में दुःख के गम्भीर दर्शन कर उनकी प्रज्ञा जीवन के सम्पूर्ण अंगों को स्पर्श करती हुई दुःख-निरोध के प्रयत्न में गहरी चली गई है, जिसने जीवन में स्वादनीय कुछ नहीं देखा। भगवान् कृष्ण ने इसके विपरीत प्रत्यक्ष जीवन के क्रिया-कलापों में भाग लिया और उसके अनेक उपभोगों को ग्राह्य माना। परन्तु दूसरी ओर यह तथ्य कुछ कम करुणाजनक नहीं है कि जबकि तथागत का परिनिर्वाण उनके और विश्व के लिए एक सुखद और मंगलमय अवसर था, देव और मनुष्यों के लिये एक महोत्सव था, जिन परिस्थितियों में भगवान् कृष्ण की मृत्यु हुई वे उनके कर्मवाद और सौन्दर्यवादी जीवन दोनों पर बुरी तरह व्यंग्य करने वाली हैं। भगवान् कृष्ण के जीवन के अन्त की परिस्थितियां अत्यन्त निराशामय और दुःखमय हैं, जबकि महापरिनिर्वाण में प्रवेश करते हुए तथागत अपने जीवन-कार्य की सफलता देख रहे थे, कृतकृत्यता अनुभव कर रहे थे।

भगवान् कृष्ण का विशेष आकर्षण भारतीय हृदय पर उनके 'गीताकार' होने के नाते ही नहीं है, यद्यपि विश्व में वही उनकी ख्याति का एक मात्र कारण है, बल्कि उनके 'स्वयं भगवान्' होने के नाते ही है, जिसका विशेषतः प्रचार मध्ययुग में हमारे देश में हुआ। सूर, चण्डीदास और चैतन्य के प्रभाव

स्वरूप कृष्ण हमारे लिये इतने समीप हो गये हैं कि इतिहासकारों का प्रयत्नपूर्वक यह दिखाना कि बालकृष्ण की कथा आभीर जाति ने सिरिया से लाकर भारत में प्रचलित की[1], 'हास्यास्पद सा लगता है। परन्तु गीता के कृष्ण गोपाल कृष्ण नहीं हैं। गोपाल कृष्ण तो विशेषतः हरिवंश पुराण और वायु पुराण के हैं और अंशतः भागवत पुराण के भी। सूर और अन्य व्रजभाषा के भक्त कवियों के कृष्ण भी प्रायः गोपाल कृष्ण हैं। गोप-गोपिकाओं के साथ केलि-क्रीड़ाएँ करनेवाले और रास रचानेवाले कृष्ण के जीवन के साथ गीता के दर्शन का कोई सामंजस्य नहीं है, फिर भले ही ऐसे कृष्ण की उद्भावना सम्पूर्ण ज्ञान से संतोष न पाकर स्वयं वेदान्तपारंगत भागवतकार ने ही की हो। गीता के कृष्ण को तो हम केवल वासुदेव कृष्ण कहना ही अधिक अच्छा समझेंगे। महाभारत के कृष्ण भी यही हैं। ऐतिहासिक महापुरुष होते हुए भी उनका दैवीकरण किया गया है, जिसमें वैदिक और ब्राह्मण युग के देवता विष्णु और नारायण मिलकर एक हो गये हैं। विष्णु, नारायण और कृष्ण एक हैं। कृष्ण वासुदेव अपने मौलिक ऐतिहासिक रूप में बुद्ध के पूर्ववर्ती थे, यह इससे प्रकट होता है कि घट जातक में बुद्ध का अपने एक पूर्वजन्म में वासुदेव होना दिखाया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् २–१७–१ में कृष्ण देवकीपुत्र का उल्लेख है जो घोर अंगिरस से शिक्षा ग्रहण करते दिखाये गये हैं। कौषीतकि ३०–६ में क्षत्रिय महातमा घोर अंगिरस का वर्णन है। यह अत्यन्त सम्भव है कि गीता के कृष्ण वही व्यक्ति हैं जिन्हें कौषीतकि ३०–९ में कृष्ण आंगिरस कह कर पुकारा गया है। 'आंगिरस' नाम उन्होंने अपने गुरु अंगिरस के शिष्य होने के कारण प्राप्त किया था। अतः यह प्रायः निश्चित ही समझना चाहिये कि हमारे कृष्ण छान्दोग्य उपनिषद् और कौषीतकि ब्राह्मण के 'कृष्ण देवकीपुत्र' या 'कृष्ण आंगिरस' ही हैं। इसका अर्थ यह है कि कृष्ण का समय छठी या सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व होना चाहिये, अर्थात् बुद्ध से पहले। जैसा हम पहले देख चुके हैं, पाणिनि के समय (चतुर्थ शताब्दी ईसवी पूर्व) तक तो वासुदेव की पूजा चल पड़ी थी और उनका विष्णु के साथ पूर्ण दैवीकरण हो चुका था[2]।

---

(१) जैसा डा० आर० जी० भाण्डारकर ने दिखाने का प्रयत्न किया है, देखिये उनका वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृष्ठ ३८-३९

(२) देखिये पीछे पृष्ठ ५८९

जिस प्रकार प्रारंभिक बौद्ध धर्म में बुद्ध को धर्म और सत्य से एकाकार दिखाया गया था और बाद में इसी आधार पर महायान बौद्ध धर्म में उनका पूरा दैवीकरण कर दिया गया था, वही बात कृष्ण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। गीता के कृष्ण ब्रह्म के साथ एकाकार दिखाये गये हैं[1]। वे सब प्राणियों के अन्दर रहने वाले आत्मा हैं[2]। वे जगत् को धारण करने वाले आत्म स्वरूप हैं[3]। ऋषियों और देवताओं के आदि हैं[4]। भगवान् कृष्ण विश्वरूपमय हैं, यह पूरे दसवें काव्यमय अध्याय का सार है। भगवान् कृष्ण वस्तुतः एक आत्मज्ञानी महात्मा थे, जो सत्य के साथ एकाकार हो गये थे जिस प्रकार भगवान् तथागत थे। चूंकि कृष्ण के जीवन के साधक स्वरूप की पूरी सामग्री हमें प्राप्त नहीं है, इसलिये उनके उपदेशों की पृष्ठभूमि के रूप में हम उनके जीवन से आश्वासन प्राप्त नहीं कर सकते, जैसा कि भगवान् तथागत के सम्बन्ध में हम बहुल रूप से करते हैं। तथागत के उपदेशों और उनके जीवन में जैसा समन्वय है, वैसा कृष्ण के जीवन में भी वह अवश्य होना चाहिये, परन्तु वह हमें नहीं मिलता। परन्तु ज्ञानी दार्शनिक रूप के नहीं, भगवान् कृष्ण तो उपास्य देव के रूप में, स्वयं साक्षात् हरि के रूप में, भारतीय हृदय में पैठे हुए हैं। विश्व-मानव का हृदय, जिसके लिये उपास्य देवों के दिन चले गये हैं, निश्चय ही बुद्ध से अधिक आश्वासन प्राप्त करता है, किन्तु हिन्दु-हृदय में जिस आड़े ढंग से त्रिभंगी लाल देवकीपुत्र गड़ गये हैं उसे कोई निकाल नहीं सकता। हमें यहां दोनों के विचार पक्ष से ही विशेषतः प्रयोजन है।

कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष और आचार तत्व सम्बन्धी दोनों के विचारों का सम्बन्ध

कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त गीताकार को भी मान्य हैं और आचार तत्व की व्याख्या उन्होंने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के रूप में की है, ऐसा हम कह सकते हैं। कर्म के सिद्धान्त के विषय में गीताकार का मत है कि कर्म करने तो चाहिए, क्योंकि स्वभावतः ही कोई क्षण मात्र भी बिना काम

(१) गीता १०।१२
(२) गीता १०।११
(३) गीता १५।१७
(४) गीता १०।२

किए नहीं रह सकता। प्रकृति ही नित्य प्रति क्रियाशील है और उसका नियामक 'पुरुष' भी। 'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्य तन्द्रितः। मम वर्त्मानमनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' और फिर तो निश्चय ही 'उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्यां कर्म चेदहम्'। अतः न में पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्त मवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि- जब स्वयं प्रकृति के नियामक तत्व (जिसके साथ एकात्मता का अनुभव करके ही भगवान् 'अहं' इस पद व्यवहार करते हैं जो भारतीय दार्शनिक परम्परा में अत्यन्त प्रचलित बात है) का ही यह हाल तो फिर मनुष्यों का तो कहना ही क्या, जिनके जीवन-व्यापार की समग्र स्थिति ही कर्म पर है। अतः गीता का यह स्पष्ट उपदेश है कि 'सततं कार्यं कर्म समाचर, सतत करने योग्य काम को करो (बिना कार्य किए बुद्धों के उपदेश को मन में लाना भी सुकर नहीं है, सारिपुत्र वचन) किन्तु 'कार्य' कर्म क्या है—इस पर ही सब विवाद उठ खड़ा होता है। इसीलिए तो गीताकार ने भी कहा है 'क्या कर्म है अथवा क्या अकर्म है' इसके विषय में बुद्धिमान् जन भी विमोहित हैं' किन्तु उनका दावा है कि मैं तुझे ऐसा कर्म बताऊंगा जिसको जानकर तू अशुभ से बचेगा' 'तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'। 'यह कुशल है, यह अकुशल है' यह भगवान् तथागत ने भी तो अनेक प्रकार से प्रकट किया है। तो फिर गीताकार का मत क्या है ? गीताकार कहते हैं, यज्ञार्थ कर्म के अतिरिक्त यहां और सब कर्म बन्धन स्वरूप हैं, इसलिए तू कौन्तेय ! उसी के लिए मुक्तसंग होकर कर' 'यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः। तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग समाचार'। जो तथागत के मनोविज्ञान-स्थित आचार तत्व का रहस्य जानते हैं कि लोभमूलक, द्वेषमूलक और मोहमूलक चित्तों का और इनसे विपरीत कुशल-चित्तों का रहस्य क्या है; वे गीताकार का समान भाव देखे बिना नहीं रह सकते ? फिर जब भगवान् तथागत ने भिक्षुओं को आमन्त्रित कर कहा था (चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देव मनुस्सानं) तो यह बहुजनों के हित, सुख और कल्याण के लिये अपने जीवन का उत्सर्ग कर घूमना, लोक पर अनुकम्पा कर उसके अर्थ, हित और सुख की सोचना क्या (यज्ञार्थ कर्म) नहीं है, यदि औपनिषद और गीता के अर्थों को ही लेना है। अनासक्तिपूर्वक यज्ञार्थ ,कार्य कर्म करने का जो उपदेश गीता में निहित है, वह भगवान् बुद्ध के,'कर्म'की व्याख्या से

विरुद्ध नहीं है। फिर भगवान् बुद्ध की कर्म की चेतनामयी व्याख्या भी समान ही उद्देश्य के लिए अर्थात् नैतिक उपयोग के लिए ही गीताकार की अन्तर्दृष्टि ने भी न देखी हो, ऐसी भी बात नहीं है। 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारसः उच्यते' अर्थात् जो मूढ़ात्मा कर्मेन्द्रियों का (बाहर से) संयम कर इन्द्रियों के अर्थों को मन से स्मरण करता रहता है, वह मिथ्याचार करने वाला है। ऐसी उद्घोषणा गीताकार ने संयत जीवन को बिताने की इच्छा करने वाले साधकों के प्रति की है। इसी प्रकार के शब्द भगवान् तथागत ने आर्य—विनय और आर्य-धर्म में इंद्रिय संयम किस प्रकार होता है, इस विषय पर बोलते हुए कहे थे। अतः जब भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मन से इन्द्रियों का नियमन करके ही असंग होकर कर्मयोग का आरम्भ करने में सिद्धि का मार्ग है, तो यह मत शाक्यमुनि के बिलकुल अनुकूल ही है। यहां एक बात और विशेष रूप से द्रष्टव्य है। भगवान् कृष्ण ने कर्म का निरूपण करते हुए 'असंग' रहने का, अनासक्त रहने का, बार-बार उपदेश दिया है। चाहे कहीं भी गीता में कर्म का विधान है या उसके विषय में भगवान् कृष्ण को कुछ कहना है, तो इस 'अनासक्त' भाव को दिखाए बिना वे प्रायः कभी नहीं रहते। 'तस्मादसक्तः सततं', 'असक्तो ह्याचरन् कर्म', 'कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तः', 'इति यत्वा न सज्जते', 'मयि कर्माणि संन्यस्य', 'निराशीर्निर्ममो भूत्वा', 'योगसंन्यस्त कर्माणं', 'नैव किंचित् करोमीति', 'संग त्यक्त्वा करोति यः', मुक्तसंगः समाचार', 'युक्तःकर्मफलं त्यक्त्वा', 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा', 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वा', 'फले सक्तो निबध्यते', 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' तेषु',: रमते बुधन, 'न कर्मस्वनुषज्जते', 'निराशीरपरिग्रहः'' 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र', 'मुक्तसंगोऽनहंवादी', 'नियतं संगंहितं', 'संग त्यक्त्वा फलं चैव', 'कुशले नानुषज्जते', 'संगत्यक्त्वा फलानि च' आदि अनेक वाणियां गीता में भरी हुई पड़ी हैं। यदि ठीक बुद्ध-मन्तव्य के अनसार हम 'अनात्मवाद' का विवेचन करने में समर्थ हुए हैं तो यह अवश्य ही स्पष्ट हो जायगा कि गीता जिस अनासक्ति का उपदेश देती है और उसके द्वारा कर्म के अर्जित फलों के बन्धन से हमको बचाती है, उसी का प्रकारान्तर से उपदेश तथागत ने इस निरुक्ति से दिया था कि ये रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आत्मस्वरूप नहीं हैं और उनके बन्धन में आकर हमें 'आत्म' बुद्धि उनमें अर्पित नहीं करनी चाहिए। यही भाव गीताकार ने भी अनेक निरुक्तियों से दिखाया है। गीता कहती है कि देखते, सुनते, उठते,

बैठते, जीवन का प्रत्येक काम करते ऐसी भावना करनी चाहिए कि 'नैव किंचित् करोमि'। यही 'युक्त तत्ववित्' का मार्ग है। तथागत का मार्ग भी इससे क्या व्यतिरिक्त है ? फिर गीता कहती है कि जो मनुष्य जानता है कि 'गुण-गुणों में बरत रहे हैं' वह आसक्ति नहीं करता किन्तु जो उनमें आसक्त होता है वही तो 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है। 'कर्ताऽहमिति मन्यते'[१]। 'अनत्ता' का सिद्धान्त भी क्या ठीक यही नहीं है अपने मूल एवं विशुद्धतम रूप में ? कर्म में आसक्ति का निरोध इसीलिए किया जाता है कि वह दुःखमय है। बुद्ध ने भी अनात्मवाद का उपदेश इसीलिए दिया कि मनुष्य बाह्य पदार्थों और आन्तरिक वेदनाओं से निर्वेद प्राप्त कर दुःख के क्षय को करने वाला हो। महात्मा गान्धीजी ने ठीक ही'अनासक्ति' को गीता की आत्मा माना है और हम कह सकते हैं कि यही बात तथागत ने प्रकारान्तर से अनात्मवाद के द्वारा सिखाई है। इस विषय पर अधिक विस्तार करना यहां ठीक न होगा, क्योंकि चतुर्थ प्रकरण में अनात्मवाद के प्रसंग में ही इस पर हम बहुत कुछ कह आए हैं। यहां इतना ही कहना अपेक्षित है कि बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद को, गीता के अनासक्ति सम्बन्धी विचारों को, सांख्य-योग दर्शन के ख्याति-सम्बन्धी सिद्धान्त को (एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्-पंचशिव वाक्य, व्यासभाष्य में उद्धृत) जिसका प्रख्यापक वचन 'एवं तत्वाभ्यासात् नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्' इस सांख्यकारिका के कारिकार्द्ध में विद्यमान है, एवं अन्त में भगवान् गौडपादाचार्य ने जिसको, 'अस्पर्शयोग' कहा है उसको, एक समन्वयात्मक सूत्र में रख कर स्वाध्याय करने से वास्तविक तत्व की एकता के विषय में कुछ सन्देह नहीं रह जाता। किन्तु कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर गीता और बुद्ध के विचार में एक बड़ी विभिन्नता भी न हो, ऐसी भी बात नहीं है। यह ठीक है कि गीताकार कहते हैं कि कर्म से ही जनकादि ने भी सिद्धि पाई, यह भी ठीक है कि जीवन यात्रा के लिए वे इसे आवश्यक मानते हैं, यह भी ठीक है कि उनके अनुसार मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है और फिर यह भी ठीक है कि वे अन्त में 'यथेच्छसि तथा कुरु' ऐसा कह कर मनुष्य को स्वतंत्रता देने के पक्षपाती भी हैं, किन्तु ऐसा फिर भी कहा जायगा कि उन्होंने मनुष्य को उतनी स्वतंत्रता नहीं दी है जितनी कि सम्यक् सम्बुद्ध ने।

(१) मिलाइये गीता ५।१४-१५ तथा इन पर शांकर-भाष्य।

भगवान् कृष्ण ने किसी कार्य की सिद्धि के लिए पांच हेतु बताए हैं, यथा अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव। 'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टाःदैवं चैवात्र पंचमम्' (१८–१४)। यह 'दैव' का हेतु बुद्ध के विचार में बिलकुल विद्यमान नहीं है, ऐसा हमें जानना चाहिए। तथागत ने 'कर्म' के हाथों सारी शक्ति सौंप दी है। इसी एक तथ्य के कारण गीताकार और शाक्यमुनि के विचारों में बड़ा विभेद पड़ जाता है। गीताकार को कर्म का समन्वय न केवल ज्ञान से ही करना था जैसा कि बुद्ध विचार में भी विद्यमान है, किन्तु भक्ति दर्शन के साथ भी उसकी संगति दिखानी थी जो 'कर्म' को सब सत्ता सौंप कर सम्भवतः नहीं हो सकती थी। प्रभु कृपा भी तो किसी कार्य की सिद्धि में हेतु होनी ही चाहिए; क्योंकि यदि मनुष्य अपने वीर्य या 'प्रधान' या पुरुषार्थ से ही सब कुछ सम्पादनीय सम्पादित कर लेगा तो फिर किसी उपास्य देव के पास ही उसे जाने की क्या आवश्यकता रहेगी ? 'दैवी' 'गुणमयी' 'दुरत्यया' माया को यदि कोई मनुष्य अपने प्रयत्न से ही तर जाय तो किसी उपदेष्टा को अथवा स्वयं उपास्यदेव को ही उसे यह उपदेश या आश्वासन देने की क्या आवश्यकता कि 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' ? यदि इस 'अनित्य' और 'असुख' लोक में आकर कोई अपने तीव्र उद्यम से ही नित्यता और सुख प्राप्त कर सके तो उसे 'भजस्व माम्' का ही उपदेश देने की जरूरत क्या? बुद्ध के 'कर्म' में यदि वीर्य शत प्रतिशत है तो हमें कहना पड़ेगा कि गीता में वह १/५ अंश कम है और वह उसकी भक्ति के प्रति न केवल प्रवणता के कारण ही, बल्कि उसके साथ वास्तविक तन्मयता की अनुभूति के साथ भी, जैसा कि हम आगे देखेंगे। वैसे कर्म-स्वातंत्र्य गीता में भी प्रख्यापित है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु शतांश में तो तुम 'कम्मपटिसरण' हो, 'कम्मादायाद' हो, ऐसा निर्घोष तथागत ने ही किया है और यही उनकी विशेषता है[1]। 'कर्म' के प्रतिशत-प्रतिशत भक्ति न दिखाकर यदि गीता उस दृष्टि-कोण से कुछ कम रह जाती है तो उसे ज्ञान और भक्ति के साथ मिलाकर एक परिपूर्ण दर्शन प्रस्तुत करने में भीवही समर्थ हुई है जिसमें कि सत्यानुप्राप्ति

---

(१) 'मानव कीस्वाधीनता का इससे बड़ा दावा कभी किसी ने नहीं किया' सर एडविन आरनोल्ड; जे० आर० जयवर्धन के लेख 'बौद्ध धर्म और राजनीति' विश्व-वाणी (मई १९४२, बौद्ध संस्कृति अंक) पृष्ठ ५२८ में उद्धृत।

के लिए न केवल मनुष्य की किसी एक विशेष वृत्ति का ही उपयोग किया जाता है (जैसा कि अकेले कर्म या ज्ञान में होता है) किन्तु जिसमें मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व के वेग को ही उसके प्रति उपयोग होता है, जबकि तथागत ने 'कर्म' को ही प्रधान तत्व मानकर एक प्रकार से (कम से कम कुछ के समझने के लिए) ईश्वर के सवाल को ही उड़ा दिया क्योंकि जब उसका कार्य ही कुछ न रहा, सब कुछ 'कर्म' को ही अधिकार दे दिया गया, तो फिर उसे भी सिवाय 'कर्म' में ही अपने को छिपाने के और गति ही क्या थी ? पृथग्जन पूछते हैं कि तथागत के दर्शन में 'ईश्वर' कहां है ? उत्तर केवल यही है कि 'कर्म' में देख लो। इस प्रकार के विचार से तथागत के दर्शन में एकांगता कुछ अवश्य आई, किन्तु फिर भी आश्वासन की कुछ कमी रह गई हो, ऐसी बात नहीं है। आशा है इतने से कर्म सम्बन्धी विचार गीता और बुद्ध के दर्शन के स्पष्ट हो गए हैं। अब हम पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर आते हैं।

गीता ने भी अन्य भारतीय दर्शनों के समान पुनर्जन्म को एक स्वयंसिद्धि मानकर स्वीकार किया है और ब्रह्मभूत महात्माओं की देवयान मार्ग से मुक्त प्राप्ति एवं अन्य जनों की पितृयान मार्ग से पितृगति दिखाई है। पापियों का नरक लोक में जाना भी कहा है जो अशुचि और दुःख बहुल है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कर्म के अनुसार यह सब व्यवस्था गीताकार ने की है। गीता के २–१३, २२; ४–५; ६–४१, ४५; ८–१५–१६; ९–३, २१–२४ में पुनर्जन्मवाद की ओर निर्देश मिलता है और १३–२१ में कार्यकारण-कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'। इस प्रकार पुनर्जन्मवाद का कारण बतलाया गया है। अन्य कोई महत्वपूर्ण बात इस सम्बन्ध में नहीं है। मुक्ति को गीताकार ने कई नामों से पुकारा है, यथा ब्राह्मी स्थिति, ब्रह्मनिर्वाण (गीता में अक्सर निर्वाण शब्द अकेला न आकर 'ब्रह्मनिर्वाण' ही आया है) नैष्कर्म्य, निस्त्रैगुण्य, कैवल्य, ब्रह्मभाव, आदि। 'सर्व भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' देखना ही गीताकार के अनुसार समदर्शी हो जाना है और वही विमुक्ति है। 'अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्' इस प्रकार जीवन्मुक्ति की अवस्था पर जोर उपनिषदों और प्रारंभिक बौद्ध दर्शन की तरह गीता में भी विद्यमान है। गीताकार ने कहा है कि जो कुछ भी वेदों में, यज्ञों में और दानों में फल प्रतिष्ठित है, उस सबको ब्रह्मज्ञानी मुनि अतीत कर जाता है (८–२८), और हम कह सकते हैं कि यह मत

बुद्ध के मन्तव्य के अनुकूल ही पड़ता है। कहीं गीताकार ने 'परा शान्ति' कह कर उच्चतम आध्यात्मिक मनोदशा का वर्णन किया है, कहीं उसे 'पदम् अनामयम्' कहा है और कहीं 'शाश्वतं पदमव्ययम्' और कहीं 'अत्यन्त ब्रह्मसंस्पर्श सुखम्' कहा है, 'मृत्यु संसार सागरं' से त्राण सब जगह ही सम्मिलित है। गीता में निश्चय ही अनेक प्रकार की साधानाएँ एकत्र हुई हैं, इसलिए उन सबके अनुसार मोक्ष के विधान में भी कुछ कथन-मार्ग से विभिन्नता आ गई है। प्रायः दो प्रकार के वर्णनगीतामें हमें उपलब्ध होते हैं। प्रथम के अनुसार परमावस्था में केवल विशुद्ध 'आत्मैव' शेष रह जाता है और 'अहं' या 'गुणों' या 'बुद्धि' का कोई अस्तित्व नहीं रहता। यह दशा कुछ-कुछ सांख्यों 'के कैवल्य' जैसी है। गीता के ज्ञान के उपदेश का का यह स्वाभाविक पर्यवसान है 'ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' 'मत्संस्थामधिगच्छति' 'अवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्' यः प्रयाति स मद्भावम् 'स शान्तिमधिगच्छति' 'ब्रह्म निर्वाणमृच्छति' 'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं' 'सर्वं ज्ञानप्लवेव वृजिनं सन्तरिष्यसि' आदि। शंकर ने प्रायः इसी प्रकार के वाक्यों पर जोर देकर अपने ज्ञानवाद की प्रतिष्ठा की है। किन्तु गीता को अकेले ज्ञानियों का ही मार्ग प्रदर्शन करना नहीं था। उसमें भक्तों के लिए भी आश्वासन है। भक्ति अर्थात् ज्ञानकर्म मिश्रित निष्काम ईश्वरोपासना। इस भक्ति का उद्देश्य ज्ञान के मोक्ष के समान नहीं हो सकता। भक्त तो अपने उपास्य देव के सान्निध्य के सामने मुक्ति को भी तुच्छ समझते हैं। उन्हें ज्ञानियों के मोक्ष में विशेष आकर्षण नहीं दीख सकता। अन्यथा उनकी भक्ति ही गौण हो जाती है। अतः भगवान् कृष्ण ने भक्ति मार्ग को ध्यान में रख कर मोक्ष तत्व का निरूपण करते हुए कहीं कहीं उसे पुरुषोत्तम में स्थित होने की अवस्था के रूप में भी प्रकट किया है, जहां पहली अवस्था की तरह व्यक्तित्व का निःशेष नहीं हो जाता किन्तु 'निवसिष्यसि मय्येव' 'मामेवैष्यसि' के अनुसार भक्त भगवान् को ही प्राप्त होते हैं 'मद्भक्ता यान्ति मापि'। इसीलिए तो 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' ऐसा कह कर भगवान् को यह कहना पड़ा कि वहां पहुंच कर मनुष्य इस 'दुःखालयमशाश्वतम्' संसार को नहीं लौटता। प्रदाहकता की तो शान्ति यहां भी होती है। अमृत-फल में तो सबका समान अधिकार है, किन्तु सब इसे अपनी-अपनी भावना के अनुसार ही पाते हैं, ऐसा भगवान् का अभिप्राय है। उपर्युक्त द्वितीय मत को श्री रामानुजाचार्य ने अधिक

प्रसारित किया है। हम कह सकते हैं कि मोक्ष के दोनों स्वरूपों में कोई तात्विक विभेद नहीं है और जो विभेद है वह केवल व्यक्तित्व के गलत विचार से ही कल्पित है जैसा कि हम बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण के विवेचन में भी दिखा आए हैं (चतुर्थ प्रकरण)। फिर ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिस निर्गुण, निर्विकल्प, अचिन्त्य और अनिरुक्त अवस्था के रूप में गीताकार ने मुक्ति की व्याख्या की है, वह बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी मत के अधिक समीप है और फिर दोनों का मुख्य उद्देश्य तो मोक्ष के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नहीं किन्तु 'अनित्य और असुख' लोक में से होकर मनुष्य को शान्ति के एक मार्ग को दिखा देना मात्र है और इस अर्थ में दोनों समान हैं। गीता का कर्मवाद उसके ज्ञान और भक्ति के बीच में साक्षी है। चाहे ज्ञानी अशेष ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करे, नामरूप को छोड़कर आत्मा के महासमुद्र में नमक की डली होकर घुल जाय और चाहे भक्त पुरुषोत्तम से नित्ययुक्त हो जाय, उसके 'धाम' में अचिर काल तक निवास करे, किन्तु जब तक उसे जीना है उसे लोक-हितार्थ ही जीना है, पाप-पुण्य से अस्पर्श होकर ही जीना है, गतव्यथ, उदासीन और निराशी होकर ही रहना है, बहुत-से क्या, लोक-हितार्थ ही कर्म सम्पादन करते हुए यहीं ब्रह्मनिर्वाण को देखना है। लेखक की विनम्र राय में यह ध्वनि गीता और बुद्ध दोनों के ही दर्शनों में पर्याप्त रूप से विद्यमान है। गीताकार के आचारतत्व का क्षेत्र अधिक विस्तृत और व्यापक है। उसमें न केवल बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट साधना ही किन्तु समग्र विश्व की साधनाएँ बड़ी अच्छी तरह समा सकती हैं, ऐसा निश्चय ही तुलनात्मक धर्म और दर्शन का विद्यार्थी कह सकता है। गीताकार ने जीवन में साधना के मुख्यतः तीन मार्ग बताए हैं कर्म, उपासना और ज्ञान। इनका निरूपण तो हम यहां संक्षेपतः भी नहीं कर सकते, किन्तु केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि यह विभाजन विभिन्नता का द्योतक नहीं है किन्तु केवल इस बात का द्योतक है कि सत्य की गवेषणा मनुष्य की किसी एक वृत्ति का विकास करने से परिपूर्ण नहीं हो सकती बल्कि उसके लिए समग्र व्यक्तित्व का उपयोग आवश्यक है। अतः उपर्युक्त तीनों साधन एक दूसरे में संनिविष्ट हैं और उनको अलग-अलग देखना गीता के दर्शन पर आघात करना है। किन्हीं ने ध्यान से आत्मा को देखा है, किन्हीं ने सांख्य-योग (ज्ञान) से और किन्हीं ने कर्मयोग से। ये सभी निष्ठाएँ एक ही फल को फलने वाली हैं।

मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार एक या दूसरे तत्व की प्रधानता कर सकते हैं किन्तु वे अपनी समग्र वृत्तियों के संस्कार से ही परम धाम में प्रवेश कर सकेंगे, किसी एक दो वृत्तियों के परिष्कार या भावना से नहीं। गीता के व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार गीता में उपर्युक्त तीन साधना मार्गों में से एक या दूसरे की प्रधानता दिखाई है। स्वयं गीता की समन्वयात्मक भाषा के आधार पर इनमें से किसी की भी प्रधानता बड़ी आसानी से सिद्ध की जा सकती है और हम कह सकते हैं कि यह गीताकार को भी दिखाना इष्ट था। ज्ञान की श्रेष्ठता दिखाते हुए यदि कभी भगवान् कहते हैं, 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते', 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' 'ज्ञानी त्वात्मैव ये मतम्' तो कभी 'ज्ञा नामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ...... भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः' ऐसा भी कहते हैं, इतना ही नहीं 'सर्व गुह्यतमंभूयः शृणु मे परमं वचः' ऐसा कह कर 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' ऐसा ही उपदेश करते हैं और 'तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत', इस प्रकार अनन्य भक्ति का उपदेश कर कि इसे ही 'गुह्यात् गुह्यतरं' ज्ञान बताते हैं 'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया'। इस सबके होते हुए कर्म की महिमा उन्होंने सुरक्षित नहीं रक्खी हो, ऐसा तो कभी कहा ही नहीं जा सकता। कर्मफल त्याग को कहीं तो उन्होंने इन सब श्रेणियों से ऊपर ही रख दिया है, 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासादू ज्ञानाद्धयानंविशिष्यते। ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यायाच्छान्तिरनन्तरम्।' इस प्रकार अपूर्व समन्वय भगवान् ने साधनाओं का गीता शास्त्र में किया है। इस प्रकार गीता के आचारतत्व का निरूपण कर देने के बाद निश्चय ही किस तत्व की गीता में प्रधानता है, यह जिज्ञासा ही अनवकाश हो जाती है। चूंकि इस विषय में दुनिया के बड़े-से-बड़े दिमागों ने कुछ कहा है, अतः इस पर कुछ ही थोड़ा और विचार अपेक्षित है। व्यक्तियों और युगों की भावनाओं के अनुसार इस महाग्रन्थ के मन्तव्य अनेक प्रकार से व्याख्यात किये जा सकते हैं, ऐसा अब तक का गीता विषयक अध्ययन का इतिहास दिखाता है। बहुत से पश्चिमी विद्वान् 'कृष्ण वासुदेव' की उपासना के रंग में ही गीता के उपदेशों को देखना चाहते हैं और फिर कुछ 'एकान्तिक' वैष्णवों की कृति के रूप में ही गीता दर्शन को स्मरण करना चाहते हैं (यथा प्रधानतः डा० दासगुप्त), किन्तु इनसे हमें यहां प्रयोजन नहीं। महात्मा गांधी जी, जो स्वयं एक बड़े विचारक

हैं, गीता के कर्मयोग ('भक्तिज्ञान मिश्रित') से विशेष प्रभावित हैं और तिलक महाराज ने उसे 'कर्मयोग शास्त्र' कह कर पुकारा ही है।ये व्याख्याएँ युग के अनुरूप हैं और गीता के ऐतिहासिक तत्व को लेकर भी हम देखते हैं कि महाभारत युग में 'अक्रियावाद' (जिसके कुछ वर्णन हमें पालि त्रिपिटक में भी उपलब्ध होते हैं) का बड़ा जोर था और उसके विरोधस्वरूप गीता में अनेक वार कृष्ण की वाणी को हम अपूर्व ओजस्विता ग्रहण करते पाते हैं। किन्तु गीताकार का अन्तिम मन्तव्य कर्मवाद रहा हो, ऐसा सम्भवतः हम नहीं कह सकते। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक के सिद्धान्त को हम गीताकार का अन्तिम मन्तव्य नहीं मान सकते और इसका प्रधान कारण यह है कि गीता में कर्म का पर्यवसान ही ज्ञान में दिखाया गया है, ज्ञान का पर्यवसान कर्म में कहीं। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि भगवान् शंकर और ज्ञानेश्वर महाराज कुछ अधिक स्पष्ट रूप से गीताकार से मन्तव्य को दिखाने में समर्थ हुए हैं, अन्यथा उपनिषदों के उसे सार कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। कुछ जो भी हो, जहां तक गीता ज्ञान और कर्म का निरूपण करती है, वह तथागत-प्रवेदित ज्ञान से बिल कुल संगत है, किन्तु उसका भक्तिवाद केवल महायान से मेल खाता है, बुद्ध के मौलिक मन्तव्य से नहीं। यज्ञादि के प्रति दोनों की क्या दृष्टि है और आदर्श मनवत्व के वर्णन में दोनों दर्शन कितने समान हैं, यह हम पहले दिखा चुके हैं, अतः अब हम गीता और बुद्ध-दर्शन दोनों की पारस्परिक तात्विक परिस्थिति पर आते हैं[1]।

जिस प्रकार गीता में सभी भारतीय साधनाएं एकत्र हुई हैं, उसी प्रकार भारत के सभी तत्व-ज्ञान संबंधी सिद्धान्त भी उसमें निहित हैं। अतः इस

---

(१) गीता की तपस्या की भावना 'देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं.....ब्रह्मचर्यमहिंसा' आदि--से लेकर तत्ताम समुद्दाहृतम् तक (१७।१४-१९); उसके द्वारा 'असंयतात्मना योगो दुष्प्रत्य, 'यतन्तोऽप्य कृतात्मानो नानुपश्यन्ति' 'इदं ते नातपस्काय' आदि रूप से चारित्र्य को मूल प्रतिष्ठा मानने की प्रवृत्ति; 'नित्यं दोषानुदर्शनम्' 'अनित्यमसुखं लोकं' आदि रूप से दुःख सत्य की अनुस्मृति पर जोर; 'युक्ताहार विहारस्य' इत्यादि रूप से (अध्याय ६) मध्यम मार्ग का प्रतिपादन बुद्ध के मन्तव्यों से असाधारण समानता रखते हैं। यहां विस्तार-भय से इनके विवेचन में नहीं जाया जा सका।

गीता और बुद्ध-दर्शन की पारस्परिक तात्विक परिस्थिति—मनुष्यता के विचार से बुद्ध-वाणी अधिक प्रभाव-शाली किन्तु तात्विक दृष्टि से गीता सम्भवतः अधिक परिपूर्ण दर्शन

विषय में गीता की मूल स्थिति का हम कोई ठीक अनुमान नहीं लगा सकते। जो निश्चित है वह है कि गीता की तात्विक परिस्थिति सामान्यतः उपनिषदों की सी ही हो सकती है। दूसरी बात यह है कि गीता ने जो इतने सिद्धान्तों का अपने अन्दर समन्वय किया है और उन्हें अपने अन्दर पचाया है वह उसने सैद्धान्तिक समन्वयवाद ही स्थापन करने के लिए नहीं किया है, ब्रह्मसूत्रकार के समान विपरीत सिद्धान्तोंकी अनुपयुक्तता दिखाने की तो कोई बात ही नहीं। गीता ने जो इतने सिद्धान्तों को मिलाया है वह केवल जीवन के एक समग्र मार्ग की स्थापना करने के लिए ही मिलाया है। यदि प्रज्ञा (मिलाइए बौद्ध और गीता के प्रयोग) की साधना करने वाला कोई ध्यानी भी चले तो भी वह स्थितप्रज्ञ (द्वितीय अध्याय) के रूप में वही लक्षण प्रकट करेगा जो एक आदर्श भक्त के होने चाहिए (बारहवां अध्याय), अथवा ज्ञानमार्ग के अभ्यास करने वाले किसी त्रिगुणातीत महात्मा के होने के चाहिए (अध्याय १४)। इतना ही नहीं, जो छोटे-मोटे देवी-देवताओं को भी पूजते हैं 'तेऽपि मामेव कौन्तेय भजन्त्यविधिपूर्वकम्' यहां तक भी उदारवाणी कहने से भगवान् नहीं चूके हैं। तो फिर समन्वय के यहां इयत्ता ही क्या रही? भगवान् गीताकार का वास्तविक मन्तव्य भी निश्चय ही विश्लेषण करने के लिए उतना ही कठिन है जितना कि उपनिषदों का। फिर भी चूंकि गीता के दर्शन में साधन-पक्ष की ओर उपनिषदों से कुछ अधिक प्रवृत्ति है, अतः वह बुद्ध के दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन का अच्छा विषय बनाया जा सकता है, ऐसा हम कह सकते हैं। जहां तक विशुद्ध तत्वज्ञान के क्षेत्र से सम्बन्ध है, गीता उपनिषदों के बह्मात्मैकत्वविज्ञान को स्वीकार करती है, ऐसा तो हम प्राथमिक रूप से कह ही सकते हैं। 'वासुदेवः सर्वमिति', 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः', 'शुनिचैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः', 'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन', 'सर्वभूतेषु, येनैकं., 'तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्', 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि', 'मत्तः परतरं नान्यत्' आदि वाणियां इसी सत्य को प्रकट करती हैं। क्षर और अक्षर तत्व के विषय में भी गीता हमें सूचना देती है (१५–१६) और तीनों लोकों के प्रतिष्ठापक परमात्मा की भी (१५–१७) जिसके अन्दर सभी प्राणी स्थित

हैं और जिसमें यह सब जगत् व्याप्त है। उसी को गीता परः पुरुषः कह कर पुकारती है (८-२२)। यही परम ब्रह्म है और यही कूटस्थ सत्ता है, जिसके विषय में गीता कहती है 'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो: बुद्धे परतस्तु सः'। यही तत्व ऐसा है जो न उत्पन्न होता है, न मरता है... किन्तु अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है और शरीर के मारे जाने पर मारा नहीं जा सकता (२-२०)। इसी प्रकार 'अच्छेद्योऽयम दाह्यो' आदि रूप से गीता में इस तत्व का बड़ा सुन्दर प्रख्यापन किया गया है (२।२२-२५)। इसी का अकर्तृत्व भी गीताकार ने दिखाया है। वह यह कह कर कि यह परम आत्मा अव्यय, अनादि है और निर्गुण है, अतः शरीरस्थ रहता हुआ भी यह न कुछ करता है और न लिप्त होता है (१३-३२)। ये सब गीता-दर्शन की मूलभूत मान्यताएँ हैं। परिवर्तनशील पदार्थों में एक अपरिवर्तमशील तत्व को गीता स्वीकार करती है। शंकर का मायावाद या अध्यासवाद गीता में कहां तक पाया जाता है, यह एक समस्या है, किन्तु इस प्रश्न में हम यहां नहीं जा सकते। इस कठिनता को तो गीता ने इन परस्पर विरोधी गुणों का परम तत्व पर आरोप कर ही उसे व्यक्त करने की चेष्टा की है। सब जगह उसके हाथ और पांव है, सब जगह ही आंखें सर और मुख। सबको वह सुनने वाला है और सब का ही आवरण कर लोक में वह ठहरता है। सब इंद्रियों से विवर्जित होने पर भी सब इंद्रियों के गुणों का उसमें आभास है। वह असक्त है, किन्तु सब का आश्रय भी है। निर्गुण भी है और गुण भोक्त भी है। सभी प्राणियों के वह बाहर भी है और भीतर भी है। अचर भी है और वह चर भी है। सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय भी है। वह दूरस्थ है, किन्तु समीप भी है। वह प्राणियों में अविभक्त है, किन्तु फिर भी विभक्त सा स्थित है। वह ज्ञेय भूतों का आधार है और वही खानेवाला और वही उत्पन्न-करनेवाला है (१३।१४-१७)। काव्यात्मक रूप से यह सब पढ़ने में बड़ा अच्छा लगता है, किन्तु इसकी दार्शनिक स्थिति हमें किन अज्ञात सिद्धान्तों और अविज्ञेय तथ्यों की ओर ले जाती है, इसकी हम साधारणतः कल्पना भी नहीं कर सकते। इसके स्वरूप को समझना है तो हमें शंकर और रामानुज जैसे आचार्यों के पास जाना पड़ेगा, जिन्होंने एतत्संबंधी कठिनाइयों को दूर करने के लिए ही और गीता के सिद्धान्तों में एकवाक्यतावगति लाने के लिए ही भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने मतों को

विस्तारित किया है। वस्तुतः हम तो इतना ही कह सकते हैं कि गीताकार ने परमतत्त्व के वर्णन करने में कठिनाई अनुभव की है, भाषागम्य उसे नहीं माना है और इसीलिये विरोधात्मक भाषा का प्रयोग किया है। फिर गीताकार के मन्तव्य की अविज्ञेयता यहीं समाप्त नहीं हो जाती। उन्होंने सांख्यों के प्रकृतिवाद, उनिषदों के ब्रह्मवाद और भागवतों के ईश्वरवाद का ऐसा समन्वय किया है कि सिवाय भगवान् शंकराचार्य के आदेशानुसार 'भगवत्गीता किंचिद्धीता' का अनुसरण कर गीता माता का कुछ ही प्रसाद पाने के (अपनी प्रवृत्ति और भावना के अनुसार), सामग्र्य में उसके रूप को समझने की तो हम चेष्टा भी नहीं कर सकते। गीता निश्चय ही वह 'ब्रह्मजाल' (श्रेष्ठ जाल, बौद्ध अर्थ) है, जिसमें संसार की सभी विचार प्रणालियाँ फिर चाहे वे कितनी ही सूक्ष्म क्यों न हों, निगृहीत कर ली गई हैं, और फिर यह सब उनका गला घोंटने के लिए नहीं, बल्कि उन सबमें एक विशेष चैतन्य का संचार कर उनकी दीप्ति को और अधिक प्रबल करने के लिए, उनमें जीवन के प्रति समाधान स्थापित करने के लिये। यही कारण है कि विभिन्न विचार प्रणालियों के मनुष्य भी उसमें अपने सिद्धान्तों की झलक पा सकते हैं। गीताकार ने यह अपना उद्देश्य सा बना लिया जान पड़ता है कि वह तत्व को किसी भी दृष्टिकोण से बिना देखे नहीं छोड़ते। इसीलिए उनके दर्शन को इतनी परिपूर्णता प्राप्त हुई है। एक ईश्वरवाद का उपदेष्टा महात्मा ही जो एक क्षण में 'तमेव शरणं गच्छ', 'मया सर्वमिदं ततम्', 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'मत्त सर्वं प्रवर्तते' कहता है, दूसरे क्षण में 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते 'कहता है, 'नादत्त कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः' कहता है। इतना ही नहीं 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति' यह भी कहता है। तो यह उसके मन्तव्य के अती होने के कारण ही है, असम्बद्ध वाणी के फल स्वरूप नहीं। जीव, जगत् और आतमा को लेकर अनेक सिद्धान्त हैं जो सहज ही गीता के दर्शन में समा सकते हैं और शंकर के लिए अपने मायावाद को गीता के सहारे प्रख्यापन करना जितना आसान है उतना ही दूसरों के लिए जगत् की यथार्थता को दिखाना भी। यही बात द्वैत और अद्वैत मतों को लेकर भी कही जा सकती है। निश्चय ही गीता अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना करती है और जैसा कि हम बड़ी आसानी से देख सकते हैं बुद्ध के विचार में यह बात सम्भव नहीं है। वहां निषेधात्मक

निष्कर्ष तो उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने बहुत निकाले हैं, किन्तु निश्चित विधेयात्मक सिद्धान्तों को नवीनतम रूप से निकालने का वहां विशेष अवकाश नहीं है। किन्तु इसके विपरीत गीता की तो 'अस्तियों' का कोई अन्त ही नहीं है। प्रकृति, पुरुष, पुरुषोत्तम, क्षर, अक्षर, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, जीव, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, अनात्मा, कर्म, कर्ता, अव्यक्त, कूटस्थ, विराट् न जाने यहां क्या-क्या है। सांख्य-योग, राज विद्या, 'ब्रह्मसूत्र पद' और 'गुह्यात् गुह्यतम ज्ञान' न जाने क्या क्या यहां संनिविष्ट है। निश्चय ही इन सात सौ श्लोकों में समग्र मानवीय ज्ञान को ही भगवान् ने नाप डाला है। इस महान् आकाश में जितना स्थान हमारी बुद्ध घेर सकती है, वह एक छोटे घटाकाश के रूप में ही हो सकता है। कितनी विभिन्न विचार-प्रवृत्तियों और युगों के लोगों ने गीता से अमृत को दुहा है, इससे हम उसके सार्वभौम स्वरूप और उसके तत्वदर्शन की व्यापकता का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। बुद्ध का दर्शन भी अत्यन्त सार्वभौम स्वरूप वाला है और उससे भी जगत् के एक बड़े भारी भाग ने आश्वासन पाया है, किन्तु उसके प्रभाव का रहस्य कुछ और है। गीता का-सा परिपूर्ण तत्वदर्शन हमें बुद्ध के विचार में नहीं मिलता। तथागत अनेक बातों पर मौन हैं जिनके चिन्तन से मानवीय बुद्धि को नहीं रोका जा सकता। गीता निर्बन्ध रूप से इन प्रश्नों पर भी विचार करती है और समाधान पूर्वक उत्तर देती है। वह न तथागत की तरह मौन है और न उत्तरकालीन बौद्ध दार्शकिकों की तरह निषेधात्मक। आचार्य विनोबा ने एक जगह कहा है कि एक परिपूर्ण दर्शन के लिये उसमें दो सिद्धान्तों का होना आवश्यक है। एक तो यह कि मैं यह मरणशील देह नहीं हूँ, देह तो ऊपर की क्षुद्र पपड़ी मात्र है और दूसरा यह कि मैं कभी न मरने वाला अखण्ड और व्यापक आत्मा हूँ। इन दो सिद्धान्तों के मेल से आचार्य विनोबा के अनुसार एक पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। यदि हम इसे ठीक कसौटी मानें तो हमें स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि बौद्ध दर्शन एक अपूर्ण दर्शन है और गीता परिपूर्ण। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान मैं नहीं हूँ, इतना तो बुद्ध कहते हैं, किन्तु मैं अज, नित्य, शाश्वत, और पुराण भी हूँ, इसकी तो इतनी रट बुद्ध ने नहीं लगाई है, वह उनके दर्शन में अन्तर्हित भले ही हो। परम्परागत रूप से श्रौत विचार-धारा के विचारक बुद्ध के अनात्मवाद को निषेधात्मक रूप में ही, औपनिषद आत्मा के निषेध रूप में ही (जिसका प्रत्याख्यान हम

पहले कर चुके हैं" प्रायः समझते रहे हैं। यही कारण है कि ज्ञानेश्वर जैसे महात्मा ने भी बौद्ध दर्शन को 'गणेश का खण्डित दांत' कहा है[१], जब कि गीता के दर्शन के सम्बन्ध में उनका कहना है 'मत-भेदों का परिहार करने वाला यह जो संवाद है, वह आपका अखण्डित और शुभ्र वर्ण वाला दांत है।"[२] बौद्ध दर्शन गणेश का खंडित दांत है और गीता-दर्शन है उनका शुभ्र और अखंडित दांत, कितनी सुन्दर उपमा है, यद्यपि इसमें सत्य की मात्रा अधिक नहीं है। हम उन त.ों की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते जिन्हें हम अनात्मवाद के विवेचन के सम्बन्ध में पहले दे चुके हैं। हमें यही बड़ी प्रसन्नता है कि ये दोनों दांत गणेश के तो हैं और यह एक बड़े आश्वासन की बात है। तात्त्विक दृष्टि से गीता की स्थिति अधिक परिपूर्ण होते हुए भी हमें यह मानना पड़ेगा कि मानवता की दृष्टि से बौद्ध दर्शन उसकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली दर्शन है। गीता के ईश्वरवाद और पुरुषोत्तमवाद (यदि ऐसा हम कह सकें) मनुष्य के संकल्प को स्वतंत्रता देने के पक्षपाती नहीं। हम ऐसा ही कह सकते हैं कि इनके बन्धन की स्वीकृति से ही गीता मनुष्य के संकल्प की वास्तविक स्वतंत्रता की सम्भावना मानती है। यह ठीक है कि गीताकार मनुष्य को कर्म करने का अधिकार देते हैं, किन्तु उसके साथ यह भी उतना ही ठीक है कि वही भगवान् अर्जुन को डराने धमकाने भी लगते हैं 'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यसि अवशोऽपि तत्'। इतना ही नहीं 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया'। इन वाक्यों से गीताकार मनुष्य की अवशता और ईश्वर के प्रति उसकी शरणागति की आवश्यकता दिखाकर उसके सम्पूर्ण कर्म-स्वातन्त्र्य को वापस ले लेते हैं। गीता की कर्म-स्वतंत्रता, जैसा एक पाश्चात्य गीतानुवादक ने कहा है, मनुष्य के सामने कर्म के चुनाव की एक मायावी स्वतंत्रता देती है। गीता का कर्म स्वातन्त्र्य वस्तुतः एक चरम नियतिवाद की परिधि के भीतर ही कार्य करता है। संकल्प की पूर्ण स्वतंत्रता वहां नहीं है[३]।

(१-२) ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ २

(३) "Freedom in the Gita is an illusory liberty of choice working Withein the bounds of an ultimate determinism."

हिल का गीता का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३७ (भूमिका)

किन्तु बुद्धोपदिष्ट कर्म और प्रतीत्य समुत्पाद तो सर्व निरपेक्ष नियम हैं। वे स्वयं तथागत की भी पर्वाह नहीं रखते। संकल्प की पूर्ण स्वतंत्रता ही बुद्ध-शासन है और मानवीय पुरुषार्थ के द्वारा वहां निर्वाण प्राप्ति की बात कही गई है। भगवत्कृपा ने आकर वहां मनुष्य को निर्बल नहीं बनाया है। 'प्रधान' ही वहाँ आश्वासन पाता है। वहां प्रधान है और उसको अतिक्रमण करने वाला कोई नहीं। बुद्ध की वाणी में 'दैवं चैवात्र पंचमम्' जैसी कोई चीज नहीं है। वहां तो जो संयतेन्द्रिय हुआ है, जिसने आत्म विजय प्राप्त की है, उसकी विजय को देवता भी 'अविजय' नहीं कर सकते :

न देवो न गन्धब्बो न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा तथा रूपस्स जन्तुनो[१] ।।

यही बुद्ध के विचार की विशेषता है, यही उसकी वीर्यवती वाणी है, जिसके द्वारा मनुष्यता के आकर्षण की वह इतनी व्यापक वस्तु बन गई है। यहां मनुष्य देव से ऊपर चला गया है, जो बात गीता में कहीं नहीं है। किसी तथोक्त ईश्वरवादी दर्शन में यह बात नहीं हो सकती। एक ईसाई पादरी ने तो इसे बौद्ध धर्म का एक बड़ा दोष माना है। उसने कहा है कि बौद्ध धर्म ने यह कह कर कि मानव से ऊँचा और कोई नहीं है, मानव का अपमान किया है, उसे नीचे गिराया है[२]। बिशप लोग ऐसा कहते हैं (देवोपासक भक्त भी प्रायः ऐसा ही कहेंगे) तभी तो बौद्ध दर्शन मानवता के लिये इतनी अधिक आकर्षण की वस्तु बनता है। अधिक हम इस सम्बन्ध में क्या कहें, कृष्ण और बुद्ध दोनों ही विश्व-शास्ता हैं। भगवान् बुद्ध तो संयम-योग्य पुरुषों के अद्वितीय सारथी, 'पुरिसदम्मसारथि' हैं ही, भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन के उपलक्षण से मानवता के सारथी का काम किया है। एक की साधना से जिस प्रकार गिरि-व्रज (राजगृह के समीप पर्वत) पवित्रीकृत है, दूसरे की लोक-कल्याण-साधना को उसी प्रकार 'व्रज-गिरि' (गोवर्द्धन) आज तक स्मृत बनाये हुए है। चण्डीदास की राधा तमाल वृक्ष की श्यामलता

(१) धम्मपद ८।६

(२) बिशप कोप्लसटन साहब ने कहा है "Buddhism degrades man by denying that there is any being above him."

सोजन : सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थाट, पृष्ठ ५५ में उद्धृत।

के कारण उसे कृष्ण के समान ही पूजती थी। 'कृष्ण कालो तमाल कालो, ताइते तमाल भालो बासी'। हमारे नन्द-नन्दन तो भगवत्स्वरूप हैं ही, महापुरुष (महापुरिस) तथागत भी ब्रह्मभूत महात्मा हैं। तमाल के समान विशाल आकाश-कल्प ज्ञान से मण्डित! जो-जो लोकोत्तर विभूतिमान्, श्री-संयुक्त और ऊर्जित है, यदि वह सब परम पुरुष के अंश से ही सम्भूत है तो विश्व-मानव को प्रभावित करनेवाले तथागत से अधिक उस अंश की मात्रा और कहां मिल सकती है? सन्त ज्ञानेश्वर ने अवतारी पुरुष के लक्षण के सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण से अर्जुन के प्रति कहलवाया है, "उसे पहचानने का लक्षण एक ही है। वह यह कि सारा संसार उसके आगे नम्र होता है और उसकी आज्ञा का पालन करता है[1]।" यदि इस लक्षण के आधार पर हम भगवान् कृष्ण और तथागत के विश्व-मानव पर प्रभाव की तुलनात्मक समीक्षा करें तो बौद्ध दर्शन और गीता-दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध और उनका तुलनात्मक महत्व आसानी से हमारी समझ में आजायगा।

इ—बौद्ध दर्शन और चार्वाक-मत

सुत्तपिटक में महानास्तिक के रूप में चार्वाक मत के समान सिद्धान्त का वर्णन और बुद्ध की उसके प्रति प्रतिक्रिया

चार्वाक सिद्धान्त भारतीय दर्शन का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। किन्तु आधुनिक अर्थ में उसे 'दर्शन' नहीं कहा जा सकता। वह जड़वाद पर आश्रित है और जीवन की समस्याओं पर उसका कोई व्यवस्थित विचार नहीं। वह निराशावाद का सूचक और अनैतिकतावाद का प्रचारक है। केवल वेद-विरोधी होने के कारण उसे बौद्ध और जैन जैसे महनीय दर्शनों के साथ बैठने का अवसर मिला है। बुद्ध के समय भारत में जितनी प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं, उनमें बहुतों का पर्यवसान चार्वाक सम्मत नास्तिक मत में हो सकता है। विशेषतः दो धारणाएं नास्तिकवादियों की बुद्धकाल में अधिक फैली हुई थीं। एक थी यह कि पुण्य-पाप कार्यों का फल नहीं है और दूसरी यह कि मृत्यु के बाद जीवन नहीं है। सन्दक सुत्त में चार्वाक मत के सदृश महानास्तिक मत का अत्यन्त विशद वर्णन हमें उपलब्ध होता है।

---

(१) ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ २७३

नास्तिकवादी कहते हैं 'नहीं है दान (का फल), नहीं है यज्ञ, नहीं है हवन। यह लोक नहीं है, परलोक नहीं है, माता नहीं, पिता नहीं, औपपातिक (अयोनिज) प्राणी नहीं हैं। लोक में ऐसे सत्य-प्राप्त, सत्यारूढ़ श्रमण-ब्राह्मण नहीं हैं जो लोक-परलोक को स्वयं जानकर साक्षात्कार कर दूसरों को बतलाएंगे। यह पुरुष चातुर्महाभूतिक (चार भूतों का बना) है। जब मरता है पृथिवी काय पृथिवी में मिल जाती है, चली जाती है, जल जल काय में चला जाता है, तेज तेज काय में मिल जाता है, वायु वायुकाय में मिल जाता है, इन्द्रियाँ आकाश में चली जाती हैं; पुरुष मृत शरीर को खाट पर ले जाते हैं। जलाने तक पद (चिह्न) जान पड़ते हैं, फिर हड्डियां कबूतर के पंखों की-सी सफेद हो जाती हैं। पूर्व कृत आहुतियां राख रह जाती हैं। यह दान मूर्खों का प्रज्ञापन है। जो कोई आस्तिकवाद कहते हैं वह उनका तुच्छ है। मूर्ख या पण्डित सभी शरीर छोड़ने पर उच्छिन्न हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं, मरने के बाद कोई नहीं रहता[1]'। इस नास्तिकवाद का भगवान् ने घोर विरोध किया और इसे 'अब्रह्मचर्यवास' कहा। इस प्रकार की विचार-प्रणाली तो नैतिकवाद की जड़ पर ही सीधा आघात करती है। फिर भी अपने अनात्मवाद के कारण बुद्ध भौतिकवाद के पास भी पहुँचे कहे जा सकते हैं। श्री राहुल जी ने लिखा है, "बुद्ध ४५ वर्षों तक ईश्वरवाद, आत्मवाद, पुस्तकवाद, जातिवाद और कितने ही अन्य वादों के विरोधी जड़वाद की सीमा के पास पहुंचे।"[2] जड़वाद और नैतिक आदर्शवाद तो उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव जैसी दूरी पर हैं।

---

(१) सन्दक सुत्त (मज्झिम० २।३।६; अजित केस कम्बली के 'उच्छेदवाद' के लिए इसी सम्बन्ध में देखिए सामञ्ञफल सुत्त (दीघ० १।२), 'न सन्ति परलोकवादा' के सिद्धान्त के लिए देखिए पायासि सुत्त (दीघ० २।१०) भी। पायासि राजन्य भौतिकतावादी था। वह कहता था कि मरे हुए व्यक्ति को किसी ने आज तक लौटकर आता नहीं देखा। मृतक शरीर से किसी जीव के निकल जाने का कोई चिन्ह नहीं मिलता। यदि परलोक होता तो मरने की इच्छा धार्मिक पुरुषों को होनी चाहिये थी जो उनको नहीं होती। भिक्षु कुमार काश्यप ने उसे युक्तियों से समझाकर कर्म-फल और पुनर्जन्म की सत्यता की शिक्षा दी।

(२) पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १२१

उन्हें निकट कैसे कहा जा सकता है! कहां 'चातुर्महाभूतिक' प्राणी का विचार और कहां कर्मानुसार उसके संसरण की कथा। कहां "स्वाभाविकं सर्वमिदं प्रवृत्तं" कहकर जड़वादियों का प्रयत्न को मोघ बताना और कहां अदम्य वीर्य प्रारम्भ करने का शास्ता का उपदेश और सिंहनाद! भगवान् बुद्ध का मन्तव्य किसी भी एक बात में नास्तिकवाद के साथ मेल नहीं खाता, फिर उसमें जड़वाद की उपपत्ति कैसे? किन्तु इसके लिए भारतीय जड़वाद के स्वरूप का कुछ और विस्तृत वर्णन उपस्थित कर बुद्ध के मत से उसकी भिन्नता दिखाना आवश्यक है।

चार्वाक-सम्मत जड़वाद का संक्षिप्त विवेचन और बुद्ध-मन्तव्य की उसके साथ किसी भी प्रकार समता दिखाने की अनुपयुक्तता

चार्वाक मत वहुत प्राचीन है। इसका प्रादुर्भाव सम्भवतः वैदिक कर्मकाण्ड के विकृत स्वरूप धारण कर लेने पर उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। चार्वाक लोग वेदों की निन्दा में तथा संसार के सुखों को भोगने के लिए, अनेक प्रकार की मीठी बोलियां लोगों को सुनाते थे; इसी में सम्भवतः उनके नाम चार्वाक या 'चारुवाक्य'[१] की तथा उनके दर्शन की जो भोगवाद पर आश्रित है, सारी ख्याति निहित है। लोक, 'पृथग्जन' अथवा प्राकृत पुरुषों को इनका सिद्धान्त अत्यन्त रुचता था, सम्भवतः इसीलिए इन्हें 'लोकायितक' भी कहा जाता है। चूंकि संसार के अधिकतर मनुष्य अध्यात्मवादी न होकर अपने आचरण में नाना भोगों को ही भोगने वाले होते हैं, अनेक वेदादि सच्छास्त्रों के ज्ञाता, भक्त और प्रचारक भी अपने वैयक्तिक जीवन में भौतिक विषयों की ही अधिक चिन्ता करते देखे गए हैं, अतः माधवाचार्य ने इन चार्वाकों की विचार-पद्धति की मनुष्य के जीवन में व्यावहारिक रूप से इतनी व्यापक अभिव्याप्त देखकर ही इनके दर्शन को 'दुरुच्छेद्य' दर्शन कहा है 'दुरुच्छेद्यं हि तावत् चार्वाक चेष्टितम्'। आज के घोर भौतिकवाद और जड़वाद के युग में तो यह कितना सत्य है! अस्तु, चार्वाकों के भी दो विभेद किए गए हैं, शिष्ट चर्वाक और धूर्त चार्वाक। शिष्ट चार्वाक वे हैं जो शरीर में 'आत्मा' नामक एक पदार्थ की स्थिति अवश्य मानते हैं किन्तु शरीर के साथ ही उसका उच्छिन्न होना मानते हैं; धूर्त

---

(१) देखिए, हिरियण्ण : वेदान्तसार, पृष्ठ ३२

चार्वाक किसी भी प्रकार के चैतन्य तत्व को स्वीकार ही नहीं करते। वे घोर नास्तिकवादी एवं पूर्ण जड़वादी हैं। सामान्यतया चार्वाकों से मतलब हम उच्छेदवादियों से लेते हैं। माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' के प्रथम परिच्छेद में चार्वाक-मत का अत्यन्त विशद और साधारण जनों के पढ़ने योग्य वर्णन किया है। उस सबमें न जाकर हम यहां मूल-भूत बातों का ही निर्देश कर सन्तोष करेंगे। आचार्य बृहस्पति (जिनके शिष्य चार्वाक कहे जाते हैं—इस मत के प्रचारक) ने कुछ सूत्र लिखे हैं जो बहुत थोड़े में समग्र चार्वाक दर्शन को प्रख्यापित करते हैं। भाष्कर भाष्य में समुद्धृत ये बार्हस्पत्य-सूत्र इस प्रकार हैं 'अथ लोकायतम्। पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा। तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् विज्ञानम्'। 'प्रबोधचन्द्रोदय' में और भी अत्यन्त विशद और संक्षिप्त रूप से कहा गया है 'लोकायतमेव शास्त्रम्। अत्र प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। अर्थकामौ पुरुषार्थौ। भूतान्येव चेतयन्ते। नास्ति परलोकः। मृत्युरेवापवर्गः।' इन उपर्युक्त उद्धरणों का यही तात्पर्य है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु ही चार्वाकों के लिए अन्तिम तत्व हैं। इनके समुदाय मात्र से ही वे शरीर, इन्द्रिय विषय की संज्ञा या अनुभूति मानते हैं। इन भूतों में से ही उनके अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति होती है यथा मादक-द्रव्य आदि खाने-पीने से मद (नशा) हो जाता है। ऊपर उद्धृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' के वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि लोकायत शास्त्र के लिए केवल प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है! अर्थ और काम यही दो पुरुषार्थ हैं। भूत ही चेतना धारण कर लेते हैं। परलोक नहीं है। मृत्यु ही अपवर्ग है। चार्वाकों के अनुसार प्रकृति में नियम कुछ भी नहीं, सब कुछ स्वभाव, प्रसङ्ग, अनुषङ्ग या आकस्मिकता के कारण ही होता है, इसीलिए ये 'स्वभाववादी', 'यदृच्छावादी', 'प्रसंगवादी', अनुषङ्गवादी, कदाचिद्वादी और 'अकस्माद्वादी' के नाम से भी अभिहित होते हैं। इनकी इस बात का वर्णन कारणवाद के प्रसङ्ग में अन्य अनेक भारतीय दर्शन सम्प्रदायों के ग्रन्थों में आया है। न्याय कुसमाञ्जलि की टीका में उद्धरण दिया गया है "नित्यसत्वा भवन्त्येके नित्यासत्वाश्च केचन। विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः ॥ अग्निरुष्णं चलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः। केनेदंचित्रितं तस्मात् तत्स्वभावो नियामकः ॥" इसी प्रकार 'बोधिचर्यावतारपञ्जिका' में भी चार्वाकों की इसी प्रवृत्ति का उद्धरण दिया गया है 'सर्वहेतुनिराशंसं भावानां जन्म वर्ण्यते। स्वभाववादिभिः ते च नाहुः स्वमपि कारणम् ॥ राजीवकेसरादीनां

वैचित्र्यं कः करोति हि। मयूरचन्द्रिकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः ॥ यथैव कण्टकादीनां त्रैक्ष्णय ।दिकमहेतुकम् । कादाचित्कतया तद्वत् दुःखादीनामहेतुता[1] ॥ कहा जाता है कि चार्वाकों की उपर्युक्त स्वभाववाद की प्रवृत्ति को गौतमीय न्यायसूत्र 'अनिमित्ततो भावोत्पत्ति कण्टकतैक्ष्ण्यादिवत्' (४।१।२२) अवकाश देता है तथा इसी प्रकार उनके आत्मा विषयक उच्छेदवाद या पूर्ण निषेधवाद को 'नाहं मोहं ब्रवीमि अनुच्छितिधर्मायमात्मेति (बृहदारण्यक ४।५।१४) नायमस्तीति चैके (कठ १।२०), 'विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृहदारण्यक) तथा 'असद्वा इदमग्र आसीत् (तैत्तिरीय २।७) आदि श्रुतियां अवकाश देती हैं, और फिर सदानन्द (वेदान्तसार के रचयिता) ने तो चार प्रकार के चार्वाकों का उद्भावन कर श्रुतियों के उद्धरणों से ही उनका निदर्शन भी कराया है[2]।

(१) मिलाइए 'बुद्धचरित' में भी लोकायतिकों की इसी प्रवृत्ति का सुन्दर निदर्शन 'केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभवौच। स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्न ॥ यदिन्द्रीयाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव । संयुज्यते यज्जरयातिभिश्च कस्तत्र यत्नो ननु स स्वभावः ॥ अग्निर्हुताशः शममभ्युपैति तेजांसि चापो गमयन्ति शोषम् । भिन्नानि भूतानि शरीरसंस्थान्यैक्यं च गत्वा जगदुद्वहन्ति ॥ यत्पाणिपादोदरपृष्ठ मूर्ध्नां निवर्तते गर्भगतस्य भावः। यदात्मनस्तस्य च तेन योगः स्वाभाविकं तत् कथयन्ति तज्ज्ञाः ॥ कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा। स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामकारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः' ॥ ९।५८।६२

(२) यथा, चार्वाकस्तु 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादि श्रुतेः प्रदीप्त गृहात् स्वपुत्रं परत्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनाततस्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद् यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति। अपरश्चार्वाकः 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' इत्यादि श्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं वधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति । अपरश्चार्वाकः 'अन्योन्तर आत्मा प्राणमयः' इत्यादि श्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलना योगादहमशनायावानहं पिपासावानित्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति। अन्यस्तु चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इत्यादि श्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभादहं संकल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति। वेदान्त सार, पृष्ठ ८ (हिरियण्ण का संस्करण)

किन्तु इस सब विस्तार में न जाकर हम तो यहां केवल ऊपर उद्धृत बार्हस्पत्य सूत्रों के ही विशेषतया प्रकाश में (ऐसा करना ही न्याय्य भी होगा क्योंकि श्रुतियों के आधार पर तो ऐसा करना किसी भी प्रकार ठीक नहीं) और कुछ 'सर्वदर्शन संग्रह' के आधार पर भी चार्वाक-मत का बौद्ध दर्शन से सम्बन्ध देखें।

सर्वप्रथम तो बात यह है कि चार्वाक परलोक को नहीं मानते, किन्तु भगवान् बुद्ध पुनर्जन्मवादी हैं। चार्वाक मत की किसी नियम में निष्ठा नहीं और वे अकारणवादी हैं, किन्तु सम्यक् सम्बुद्ध ने कर्म नियम को सिखाया है। 'आनन्द!' 'क्या जन्म-मरण स-कारण हैं, पूछने पर कहना चाहिए कि 'सकारण' हैं' ऐसा उन्मुक्त निर्घोष किया है। अधीत्यसमुत्पाद (अधिच्चसमुप्पाद-अकारण वाद जिसका खण्डन 'ब्रह्मजालसुत्त' में उपलब्ध है) को मानने वाले इन चार्वाकों से 'प्रतीत्य-समुत्पाद' के उपदेष्टा की क्या तुलना है? 'ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो'। उन तथागत की तुलना इन उच्छेदवादियों से क्या है? उच्छेदवादी भगवान् बुद्ध नहीं हैं, इसका निरूपण तो पहले हो चुका है (चतुर्थ प्रकरण में), अतः उसकी पुनरावृत्ति की यहां जरूरत नहीं। यह भी कहने की आवश्यकता नहीं कि भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट 'अनात्मवाद' औपनिषद आत्मवाद का विपरीत सिद्धान्त नहीं है, अतः 'उच्छित्ति धर्मा' चार्वाक मत से वह किस प्रकार समता ग्रहण कर सकता है? भगवान् बुद्ध तो नैतिक आदर्शवाद के संसार के सर्वोत्तम उपदेष्टा हैं, फिर भोगवादी चार्वाकों से उनकी किस बात में तुलना देखी जाय? जिनके लिए स्वर्ग नहीं, अपवर्ग नहीं, आत्मा नहीं, परलोक नहीं, धर्म नहीं, सुख से जीना ही जिनके लिए जीवन का एकमात्र ध्येय है और जो किसी भी नैतिक दृष्टि के पक्षपाती नहीं,[1] उन

---

(१) मिलाइये—न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः। नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥ यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ सर्वदर्शन संग्रह में उद्धृत। मिलाइये 'पृथिवी काय, जल काय, तेज काय, वायुकाय, सुखः दुख और जीव ये सात अकृत अनिर्मित हैं.......यहां न हन्ता है न घातयिता है, न सुनने वाला न सुनाने वाला है। आवागमन में ही पड़कर मूढ़ और पण्डित दुःखों का अन्त करेंगे। सुख-दुःख द्रोण से (नाप से) तुले हैं,

ऐसे चार्वाकवादियों के साथ बोधिपक्षीय धर्मों के उपदेष्टा' आर्यअष्टांगिक मार्ग के प्रख्यापक, आर्यविनय और आर्य धर्म के एक अनुत्तर समुद्धर्त्ता, सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् तथागत की तुलना कैसे की जाय? जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति संबंधी एक भी तो सिद्धान्त भगवान् बुद्ध का चार्वाकों से मेल नहीं खाता, फिर समान पंक्ति में उन्हें कैसे बैठाएँ? नास्तिकवाद, वेद-निन्दा ईश्वर की निन्दा, परमत-द्वेष आदि भी तो बातें बुद्ध के मत में निष्पन्न नहीं होतीं जैसा कि हम पहले ही दिखा चुके हैं। प्रत्यक्ष अनुभूति की अपेक्षा वेद या किसी अन्य ग्रन्थ को कम ही महत्व देना तो बुद्ध की तरह उपनिषदों को भी मान्य है, यह सब हम पहले ही अच्छी तरह प्रपञ्चित कर चुके हैं, अतः उन त्रैविद्य (तीनों विद्याओं के ज्ञाता बुद्ध तेविज्ज) 'वेदगू' (वेदज्ञ) मुनि को वेदों का निन्दक कैसे कहा जाय! वेदों को भांड़ और निशाचरों की ही कृति बताने वाले, निरर्थक शब्दों की ही उनमें भरमार और बुद्धि-पौरुष-हीन मनुष्यों की ही उसे जीविका का आधार बताने वाले[1] उन 'धूर्त' चार्वाकों की तथागत से क्या तुलना है जिनको वावरि जैसे वेद पारङ्गत ब्राह्मणों के शिष्य भी 'ऋषि' और 'वेदज्ञ' नाम से पुकारते हैं। यदि 'वेद अनन्त हैं' तो निश्चय ही ज्ञान के रूप में तथागत ने उनका ही प्रख्यापन किया है। अनुत्तर दुःख निरोध विज्ञान के प्रसङ्ग में ही उसकी अपेक्षा से 'त्रयी विद्या' की हीनता दिखाई है और यही तत्व 'परा' और 'अपरा' विद्या के औपनिषद नामकरण में भी विद्यमान है। अतः तथागत वेद-निन्दक कभी नहीं और इस दृष्टिकोण से भी उन्हें नास्तिक चार्वाकवादियों की पंक्ति में नहीं बैठाना चाहिए। तथागत ऋषियों की पंक्ति में ही शोभा देते हैं क्योंकि वे भी वैसे ही आये जैसे अन्य बुद्ध या ज्ञानी मुनि। तथा आगतः

संसार में घटाना, बढ़ाना, उत्कर्ष, अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सूत की गोली उघरती हुई फेंकने पर गिरती है ऐसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर, आवागमन में पड़कर दुःख का अन्त करेंगे' महानास्तिकवाद का वर्णन सन्दक सुत्त (मज्झिम २।३।६)

(१) मिलाइये---त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्त निशाचराः। जर्फरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥ ....मासानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ॥.....अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः। सर्वदर्शन संग्रह में उद्धृत।

यथा अन्ये (ऋषयः)। इसीलिए वे भगवान् तथागत हैं और वैसे भी 'तथा' धर्म, 'सत्य' धर्म को प्राप्त करने के कारण।

हां, एक बात यहां और द्रष्टव्य है। 'बुध्या विवेच्यमानानां स्वभावो नाव-धार्यते। अतो निरभिलप्यास्ते निः स्वभावाश्च देशिता !' (लङ्कावतार सूत्र) जैसे वाक्यों से तथा 'एवं च न निरोधोऽस्ति न भावोऽस्ति तत्वतः। अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत्' (बोधिचर्यावतार) इस प्रकार के बौद्ध आचार्यों के सतत उद्घोष से, और 'अतीतानागतं चित्तं नाहं तद्धिन विद्यते। अथोत्पन्नमहं चित्तं नष्टेऽस्मित् नास्त्यहं पुनः' (बोधिचर्यावतार) इस प्रकार के उन्मुक्त नैरात्म्य के प्रख्यानों से और फिर इतना ही क्यों कर्मकीर्ति की तो अभयवाणी के तो इतना भी कह देने से कि 'वेद-प्रामाण्यं कस्यचित् कर्त्तृ-वादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः। सन्तापः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिङ्गानि जाड्ये (प्रमाण-वार्तिक), एक परम्परा से प्रवृत्ति भारतीय दर्शन में अवश्य हो गई कि बौद्ध भी चार्वाकों की तरह नास्तिक हैं और कुछ अनुमानादि प्रमाणों को बढ़ाकर एवं कार्य कारण भाव का निदर्शन कर वे चार्वाकों की एक शाखा का ही अनुवर्तन करते हैं।[1] किन्तु यह एक भ्रमपूर्ण विचार है। 'अनुत्पादश्च तथता भूतकोटिश्च शून्यता। रूपस्य नामान्येतानि अभावं न विकल्पयेत्' (लङ्कावतार सूत्र) इस प्रकार के वाक्यों को हमें काफी विचार देना चाहिए। 'निर्गुण' निर्विशेष' 'शून्य' और 'अनिर्व-चनीय आदि शब्दों पर भी अधिक ध्यान देना चाहिए एक विशुद्ध निष्पक्षपात दृष्टि के साथ। तो फिर हम इन बौद्ध आचार्यों को भी चार्वाकों की पंक्ति में बिठलाना स्वीकार नहीं करेंगे। फिर किसी 'नास्तिक्यनिराकरिष्णुः' आचार्य की आवश्यकता हमें बौद्ध मत को खण्डन करने के लिए नहीं पड़ेगी क्योंकि फिर वे हमारे लिए धर्म के द्वेष्टा (धर्मद्विषो बौद्धाः) न होकर धर्म के प्रकारान्तर से संस्थापक ही ठहरेंगे क्योंकि प्रायः सभी बौद्ध आचार्यों ने भी अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने के बाद उनके नैतिक मूल्यों को प्रख्यापित और विवेचित किया है। यदि यहां हम गीताकार को अपना मध्यस्थ बना सकें, जैसा कि हम निश्चय ही वैज्ञानिक

---

(१) कार्य कारण भावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमो दर्श-नान्तरदर्शनात्। सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास में समुद्धृत। देखिए वहीं इस विषय में स्वामी जी के विचार भी।

दृष्टि को सामने रखकर भी कर सकते हैं—इस महान् ग्रन्थ के अत्यन्त ही निष्पक्ष और समन्वयात्मक होने के कारण, तो हम कह सकते हैं कि जिन अर्थों में गीता नास्तिकवादियों को स्मरण करती है अथवा उनकी ओर संकेत करती है,[1] उस अर्थ के प्रति चार्वाकवादी तो पूर्णरूप से प्रतिनिधि हैं, किन्तु भगवान् बुद्ध या उत्तरकालीन बौद्ध आचार्य तो उस कोटि में कभी नहीं आ सकते। चार्वाक मत तो चिन्तकों के लिए अनाश्वासन का मार्ग है और सबसे अधिक यदि उसकी प्रशंसा में कुछ कहा जा सकता है तो यही कि वह केवल बुद्धि को लेकर समस्या का हल कर लेना चाहता है और वह प्रकृतिवाद के समान अपूर्ण सिद्धान्त है। बुद्ध के वचनों में संसार का सबसे अधिक भाग (और वह भी अधिकतर विचारकों का) आश्वासन पाता है, कारण कि उन शास्ता के शासन में बुद्धिवाद और अध्यात्मवाद, उनके व्यक्तित्व में करुणा और प्रज्ञा, समान ही रूप से मिले हुए हैं, वे अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथी जानकर ही, साक्षात्कार कर ही, उपदेश देते हैं और उनका शासन, जैसा कि उनके अग्र श्रावक सारिपुत्र ने ठीक ही कहा है, 'मनन करने के लिए अत्यन्त उत्तम है।'

अतः बुद्ध-दर्शन या समग्र बौद्ध दर्शन को हमें चार्वाकों की पंक्ति में किसी प्रकार भी नहीं बैठाना चाहिए, ऐसा हमारा विनम्र प्रस्ताव है।

'दूरमेते विपरीते विषूची। अविद्या या च विद्येति ज्ञाता'।

उपसंहार

विद्या और अविद्या की तरह, प्रकाश और अन्धकार की तरह, ये दोनों मत (बौद्ध और चार्वाक मत) आपस में भिन्न प्रयोजन वाले हैं, ऐसा हमें समझना चाहिए[2]।

---

(१) असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरं। अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥ एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्प बुद्धयः। प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः। मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्ततेऽशुचिव्रताः॥ प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः। न शौचं नापि चाचारोन सत्यं तेषु विद्यते॥ चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः। कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ आशा पाशशतैर्बद्धाः........आदि, आदि,। गीता अध्याय १६

(२) पूज्यपाद लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य तो कदाचित् इन लोकायतिकों के प्रति कुछ और अधिक उदारता भी दिखाना चाहेंगे 'कण्वाश्रमवर्णन-

ई—बौद्ध और जैन दर्शन

आधुनिक गवेषणा के प्रकाश में बौद्ध और जैन तत्त्व-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है। यहां हम ऐतिहासिक और तात्त्विक पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर केवल कुछ संक्षिप्त विचार ही उपस्थित कर सकेंगे।

जैन धर्म श्रमण परम्परा का जन्मदाता है

जैन धर्म की परम्परा पबौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। कुछ के मतानुसार जैन धर्म प्रागैतिहासिक धर्म है। श्रमण-संस्कृति का आदि प्रवर्तक धर्म वस्तुतः जैन धर्म ही है। मोहनजोदड़ो में प्राप्त ध्यानस्थ नग्न योगियों की मूर्तियों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि सिन्धु-उपत्यका की सभ्यता के काल में जैन धर्म विद्यमान था। ऋग्वेद और अथर्व वेद में व्रात्यों का उल्लेख हैं। उन्हें उपनयनादि वैदिक संस्कारों से विहीन श्रमण-ज्ञानियों की परम्परा का पूर्व रूप माना जा सकता है। ऋग्वेद के केशी-सूक्त (१०।१३६) में प्राचीन श्रमण योगियों के जीवन की एक झलक मिलती है, ऐसा भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में वर्णित 'पणियों' को श्रमण साधकों की परम्परा से मिलाने का प्रयत्न किया गया है। कुछ भी हो, अनादि काल से हमें भारतीय इतिहास में दो प्रकार की चिन्ताधाराएं मिलती हैं। एक वह है जो परम्परामूलक है, ज्ञान के संरक्षित स्वरूप के अनुगमन पर जो जोर देती है और जिसके लिये सत्य का अन्तिम निश्चय वैदिक साहित्य के रूप में हो चुका है। यह ब्राह्मण्य है, ब्राह्मणवादी परम्परा है। दूसरी परम्परा वह है जिसे प्रगतिशील कहा जा सकता है, जो ज्ञान को विकासशील मानती है, यज्ञ के स्थान पर आचरण को प्रमुखता देती है, देव-यजन के ऊपर मनुष्यत्व को बिठलाने

प्रकरणे लोकायतशास्त्रप्रवीणाः विद्वांसः तस्मिन्नाश्रमे इतरशास्त्रप्रवीणैः सहसमुषिता इति विज्ञायते 'लोकायतिक मुख्यैश्च' इत्यादिभिर्वचनैः। तस्मात्तदपि दर्शनं पुरा बृहस्पतिनाम्ना बुद्धिमत्प्रवणेन केनचिद्विदुषा रागत्यागाय प्रवर्तितं प्रचयं गतमासीदित्यवधार्यते'। दर्शनोदय, उपोद्घात, पृष्ठ ५। सम्भव है चार्वाक-मत का भी मूल उद्देश्य 'राग त्याग' रहा हो और बाद में उसके विरोधी सिद्धान्तों ने उसे विकृत रूप में रखखा हो।

का प्रयत्न करती है और परम निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये मानवीय पुरुषार्थ पर निर्बन्ध जोर देती है। यह है श्रामण्य या श्रमणों की परम्परा। दोनों परम्पराओं में काफी आदान-प्रदान भी हुआ है, जो भारतीय साधना के इतिहास का एक सुखद अध्ययन-योग्य विषय है। इन दोनों परम्पराओं के सामंजस्य से सम्पूर्ण राष्ट्र की बौद्धिक एकता की स्थापना में अत्यन्त महत्वपूर्ण योग मिला है। मोटे तौर पर और अत्यन्त व्यावहारिक रूप में हम कह सकते हैं कि ब्राह्मणवादी परम्परा का जन्म और विकास पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हुआ जब कि श्रमण-परम्परा का विशेषतः आसाम, बंगाल, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में। बाद में यह भौगोलिक विभेद मिट गया और दोनों की पारस्परिक समन्वय-साधना ने एक समग्र एवं अखण्ड भारतीय साधना को जन्म दिया जिसकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति मानव-कल्याण पर आश्रित जीवन-विधि के रूप में प्रस्फुटित हुई है। श्रामण्य की परम्परा को जन्म देने का श्रेय आदिम जैन साधकों को ही है।

जैन धर्म का विकास सहस्रावधि शताब्दियों में उन ज्ञानी महात्माओं के द्वारा किया गया है जिन्हें तीर्थंकर कहा जाता है। 'तीर्थङ्कर' ज्ञान का प्रवर्तन करने वाले वीतराग महात्माओं का नाम है। 'तीर्थ' शब्द का अर्थ है वह निमित्त जिससे भव-सागर तरा जाता है। 'तरति संसारमहार्णवं येन नमित्तेन तत्तीर्थमिति'। धर्मरूपी तीर्थ का निर्माण जिन अखिल ज्ञानदर्शी मुनियों ने किया है, व तीर्थंकर कहलाते हैं।

जैन धर्म की विशालता

जैन धर्म की परम्परा के अनुसार चौबीस तीर्थंकरों ने जैन धर्म का उपदेश दिया है, जिनमें अन्तिम भगवान् महावीर हैं। आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव हैं, जिनका उल्लेख सम्भवतः ऋग्वेद की एक ऋचा (१०।१६६।१) में हुआ है। अथर्ववेद (११।५।२४-२६) और गोपथ ब्राह्मण (पूर्व २।८) में स्वयम्भू काश्यप का उल्लेख है, जिन्हें भगवान् ऋषभदेव से मिलाने का प्रयत्न किया गया है।[1] यजुर्वेद में कहा गया है कि "वृषभ धर्मप्रवर्तकों में श्रेष्ठ हैं।" यह आदि जैन तीर्थङ्कर का द्योतक हो सकता है। श्रीमद्भागवत (५।२८) में तो और भी स्पष्टतः भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख है। आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के अलावा अरिष्टनेमि, जो बाईसवें तीर्थंकर माने गये हैं,

---

(१) देखिये अनेकान्त, अप्रैल १९५२, पृष्ठ १२०-१२१

वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध हैं। ऋ० १०।१७८।१ और १।१८०।१० में वर्णित अरिष्टनेमि को जैन तीर्थंकर से मिलाया गया है। इसी प्रकार यजुर्वेद में अजितनाथ का, जो दूसरे तीर्थंकर हैं, वर्णन मिलता है। जैसा हम अभी देखेंगे, अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर बुद्ध के समकालिक थे। तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ थे, जिनका समय भगवान् महावीर से प्रायः २५० वर्ष पूर्व माना जाता है। पार्श्वनाथ निश्चयतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। वे मौलिक आध्यात्मिक अनुभूति के महापुरुष थे। जैन साधना के बाहर भी उन्होंने भारतीय विचारकों को कितना प्रभावित किया है, यह इस बात से विदित है कि पौराणिक परम्परा के अनुसार भगवान् के चौबीस अवतारों में उनकी गणना है। मध्ययुग के भक्त-कवि गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् पार्श्वनाथ की ईश्वर के अवतार के रूप में स्तुति की है।[1] भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के अलावा अन्य तीर्थंकर भी निश्चयतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, परन्तु उनकी इतिहासवत्ता पूर्णतः निश्चित आधार पर विवृत नहीं की जा सकी है। जैन पुराणों में, जैसा कि वैदिक परम्परा के पुराणों में और बौद्ध वंश-ग्रन्थों में, सत्य के साथ भारी कल्पना मिली हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि ऐतिहासिक आधार पर निष्पक्ष परीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा सत्य के कणों को अतिरंजनामयी पौराणिक शैली से निकाला जाय और जैन धर्म के अध्ययन को स्थिर ऐतिहासिक आधार प्रदान किया जाय, जैसा कि कुछ हद तक वैदिक परम्परा के पुराणों के सम्बन्ध में डा० पार्जिटर और जायसवाल जैसे विद्वानों द्वारा और पालि-वंश ग्रन्थों के सम्बन्ध में जर्मन विद्वान डा० गायकर द्वारा किया जा चुका है।

बौद्ध और जैन दोनों श्रमण धर्म हैं

भारतीय धार्मिक इतिहास का यह एक अत्यन्त विस्मयकारी तथ्य है कि श्रमण-धर्म के प्रचारक ये दोनों धर्म किस प्रकार शताब्दियों से अपनी पृथक् सत्ता बनाये हुए हैं और उनमें से एक (बौद्ध धर्म) जब कि इस देश से प्रायः लुप्त हो चुका है, दूसरे (जैन धर्म) की परम्परा आज भी जीवित रूप में विद्यमान है। बौद्ध धर्म

---

(१) जिंहि नाथ पारस जुगल पंकज चित्त चरनन जास।
रिधि सिद्धि कमला अजिर राजित भजत तुलसीदास।।

और जैन धर्म की अनेक तात्त्विक समानताएँ और असमानताएँ हैं और एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों का एक अटूट ऐतिहासिक सम्बन्ध है, जिसके प्रकाश में हम दोनों के बारे में काफी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। 'आर्ष' या जैन प्राकृत में लिखित प्राचीन जैन शास्त्रों और पालि त्रिपिटक में भाषा और शैली सम्बन्धी कितनी आधारभूत समानताएँ हैं, यह दिखाने की यहां आवश्यकता नहीं। देश और काल की परिस्थितियों में इतनी भारी समानता है, दोनों धर्मों के वातावरण और सामाजिक पृष्ठभूमि में इतनी एकरूपता है, कि एक के परिपूर्ण और सम्यक् अध्ययन के लिये दूसरे का अध्ययन प्रायः अनिवार्य ही है। यह खेद की बात है कि पूर्वकालीन बौद्ध और जैन साहित्यों का अभी विधिवत् तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया है। जब तक यह महत्वपूर्ण कार्य पूरा नहीं होता, दोनों दर्शन-साधनाओं की तुलनात्मक समीक्षा का मार्ग प्रशस्त नहीं कहा जा सकता।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, जैन धर्म श्रमण धर्म है और वही बात बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में भी है। भगवान् बुद्ध के समय में बौद्ध भिक्षु अपना परिचय पूछा जाने पर अपने को 'श्रमण' कहते थे[1]। अथवा अधिक स्पष्टता के लिये 'शाक्यपुत्रीय' शब्द उसके पहले और जोड़ देते थे,[2] जिससे अन्य श्रमण सम्प्रदायों से उनका विभेद हो सके। बुद्ध-काल में लोग साधारणतः बौद्ध भिक्षुओं को 'श्रमण' कह कर ही पुकारते थे।[3] भगवान् बुद्ध को तो अनेक बार 'महाश्रमण' (महासमणो) पालि-त्रिपिटक में कहा ही गया है।[4] इस

(१ एवं ३) "भिक्षुओ ! 'श्रमण' 'श्रमण' कह कर लोग तुम्हें पुकारते हैं। तुम लोग भी 'तुम कौन हो ?' पूछने पर 'हम श्रमण हैं' उत्तर देते हो। इस नाम वाले तुम्हें यह सीखना चाहिये--जो वह श्रमण को सार्थक करने वाला मार्ग है उस पर हम आरूढ़ होंगे।" महाअस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।९) 'देखिये चूल-अस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।१०) भी।

(२) देखिये विनय-पिटक--चुल्लवग्ग; स्थविर महेन्द्र और उनके साथियों ने लंका-नरेश राजा देवानं पिय तिस्स को अपना परिचय देते हुए कहा था, 'समणा मयं महाराज धम्मराजस्स सावका'। महावंश

(४) देखिये विनय-पिटक--महावग्ग

प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध और महावीर के काल में बौद्ध और जैन दो श्रमण संघ उपस्थित थे और उनका आपस में जीवित सम्बन्ध था। जैन श्रमण-संघ काफी पहले से चला आ रहा था और इस परम्परा के साधुओं को पालि साहित्य में 'निगण्ठ' या 'निग्रन्थ' नाम से पुकारा गया है। 'निर्ग्रन्थ' शब्द, आज भी पहले की तरह ग्रन्थि-विमुक्त जैन साधकों के लिये जैन साहित्य में प्रयुक्त होता है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए यह जानना कुछ आश्चर्यजनक न जान पड़ेगा कि 'जिन' और 'वीर' शब्द, जो मौलिक रूप में भगवान् महावीर या अन्य पूर्वकालीन जैन महात्माओं के लिये सम्भवतः प्रयोग किये जाते थे, पालि साहित्य में भगवान् बुद्ध के विशेषण बन गये हैं। बोधि प्राप्त करने के बाद जब भगवान् बुद्ध-गया से वाराणसी की ओर जा रहे थे तो रास्ते में उन्हें उपक नामक एक आजीवक साधु (जिनके मुखिया मक्खलि गोसाल थे) मिला था। उसने भगवान् बुद्ध के मुख से उनकी ज्ञान-प्राप्ति की बात सुनकर उनसे कहा था "आयुष्मन्! तुम जैसा दावा करते हो उससे तो तुम अनन्त जिन हो सकते हो।" इसके उत्तर में भगवान् ने कहा था, "मैंने पाप कर्मों को जीत लिया है, इसलिये हे उपक! मैं जिन हूँ[१]।' इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि 'जिन' शब्द उस समय निर्ग्रन्थ और आजीवक साधुओं की परम्परा में प्रचलित था और उसे एक अपना नया अर्थ देकर भगवान् बुद्ध ने अपने लिये भी ग्रहण किया था, जैसा कि उन्होंने ब्राह्मणों के 'त्रैविद्य' (तेविज्ज) 'वेदज्ञ' (वेदगू) 'ब्राह्मण' और 'स्नातक' (न्हातक) जैसे अनेक शब्दों के सम्बन्ध में किया था। जब भगवान् बुद्ध ने भिक्षु का लक्षण करते हुए कहा कि 'भिक्षु श्रमण भी कहा जाता है, ब्राह्मण भी, स्नातक भी, वेदगू (वेदज्ञ) भी, श्रोत्रिय भी, आर्य भी और अर्हत् भी',[२] तो उन्होंने स्पष्टतम शब्दों में यह कह दिया कि मनुष्यत्व के उच्चतम लक्ष्य के सम्बन्ध में ब्राह्मण, बौद्ध और जैन साधनाओं में कोई अन्तर नहीं है। 'वीर' शब्द का प्रयोग अनेक बार भगवान् बुद्ध के लिये हुआ है। महाप्रजापती गोतमी ने भगवान् बुद्ध की वन्दना की है, उसमें उन्होंने उन्हें 'वीर' कह कर पुकारा है। 'बुद्ध वीर नमोत्यत्थु[३]।' हे बुद्ध वीर! तुम्हें नमस्कार हो! भगवान् बुद्ध और

(१) विनय-पिटक—महावग्ग; अरिय परियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।६)
(२) महाअस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।९)
(३) थेरी गाथा, गाथा १५७

महावीर दोनों महापुरुषों का समान रूप से 'जिन' और 'वीर' नाम धारण करना बौद्ध और जैन दर्शन के तुलनात्मक अध्येताओं के लिये एक बड़े आश्वासन और महत्व की बात है[1]।

निगंठ नाटपुत्त

जैन धर्म के अनुयायियों का उल्लेख बौद्ध पालि पालि साहित्य में 'निगण्ठ' (निर्ग्रन्थ) नाम से हुआ है। ये निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) के अनुयायी बताये गये हैं। 'निगण्ठ नाटपुत्त' पालि साहित्य में भगवान् महावीर का नाम है। उनकी गणना उस समय के प्रसिद्ध छह आचार्यों में की गई है। निर्ग्रन्थों का संगठन बुद्ध-पूर्वकाल से चला आ रहा था। पालि वर्णनों के अनुसार निगण्ठ साधु एक वस्त्र धारण करते थे, जबकि अचेलक बिलकुल नग्न रहते थे। रजःकणों में भी जीवतत्त्व विद्यमान है, ऐसा निगण्ठों का विश्वास था[2]। निगण्ठों के मुख्य सिद्धान्त, जिनका उल्लेख पालि साहित्य में हुआ है, चातुर्याम संवर के नाम से प्रसिद्ध हैं। चातुर्याम संवर चार प्रकार के संयम का नाम था, जिसका विवरण पालि ग्रन्थों के अनुसार इस प्रकार है, "(१) जीव हिंसा के भय से निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का संयम करते हैं, (२) सभी पापों का वारण करते हैं, (३) सभी पापों के वारण करने में लगे रहते हैं, (४) पापों के वारण करने के कारण वह सदा

(१) अमरकोश १।१।८ में बुद्ध और जिन को समानार्थवाची शब्द बताया गया है। "सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः। समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः"। आश्चर्य नहीं कि इसी प्रकार के आधारों पर भारतीय विद्या के अध्ययन के प्रारम्भिक युग में यूरोपीय विद्वान् बार्थ ने बुद्ध और महावीर को एक ही व्यक्ति समझ लिया था। देखिये उनका 'दि रिलिजन्स ऑव इण्डिया, पृष्ठ १४८-१५०; मिलाइये राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ २९१; डा० विन्टरनित्ज ने हमें बताया है कि काफी देर तक यूरोप में बौद्ध और जैन धर्म को विद्वान् एक ही धर्म समझते रहे। देखिये उनका इण्डियन लिटरेचर जिल्द दूसरी, पृष्ठ

(२) धम्मपदट्ठकथा, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ४८९ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

(३) सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १।२); देखिये उपालि-सुत्त (मज्झिम० २।१।६) भी। चातुर्याम संवर का यह वर्णन जो पालि निकायों में उपलब्ध

धूत-पाप (पाप-रहित) होते हैं[1]।" बुद्ध-काल में निगण्ठों के मुख्य केन्द्र वैशाली और नालन्दा थे, जहां वे अत्यधिक प्रभावशाली थे और राजगृह, कालशिला, इसिगिलि पर्वत पर भी उनके निवास-स्थान थे। बुद्ध-काल में निर्ग्रन्थ साधुओं के अनुयायियों में उस समय के अनेक महापुरुष थे। वैशाली का सिंह सेनापति निगण्ठों का भक्त था और इसी प्रकार नालन्दा का उपालि गृहपति भी। असिवन्धकपुत्र और अभय राजकुमार निगण्ठों के शिष्य थे। स्वयं बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु में वप्प नामक शाक्य, जो भगवान् का चाचा (चूल पिता) था, निगण्ठों का अनुयायी था[1]। बुद्धकालीन निर्ग्रन्थ साधुओं में दीघ तपस्सी (दीर्घ तपस्वी) और सच्चक के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। निर्ग्रन्थ परिव्राजिकाओं में सच्चा, लोहा, अववादका, सिवावतिका और पटाचारा के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। मज्झिम निकाय के अनुसार निगण्ठों के गृहस्थ शिष्य श्वेत वस्त्र पहनते थे। श्वेतवस्त्रधारी श्रमणी (सेतसमणी) का भी एक जगह उल्लेख है[2]। मज्झिम निकाय की अट्ठकथा में कहा गया है कि निर्ग्रन्थ लोगों का दावा था कि वे सब ग्रन्थियों से विमुक्त हो चुके हैं, इसलिये उनका यह नाम है। उनका कहना था, "हमारे अन्दर ग्रन्थि रूपी क्लेश, बाधारूपी क्लेश नहीं हैं। हम क्लेश-ग्रन्थि रहित हैं। इसलिये हमारा 'निगण्ठ' नाम है[3]।" निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र—भगवान् महावीर) ने पावा में निर्वाण प्राप्त किया था, इसका उल्लेख पालि ग्रन्थों में है और वहीं यह भी कहा गया है कि उनकी मृत्यु के बाद उनके अनेक शिष्यों में

होता है, जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार उसका ठीक वर्णन नहीं है। देखिये लाहा-द्वारा सम्पादित 'बुद्धिस्टिक स्टडीज़' में श्री कामताप्रसाद जैन का लेख 'महावीर एण्ड बुद्ध' शीर्षक, पृष्ठ ८८ । भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट चातुर्याम-संवर के वर्णन के लिये देखिये उदुम्बरिक सीहनाद-सुत्त (दीघ० ३।२)

(१) देखिये अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५५९ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

(२) देखिये कुणाल-जातक, जहां सच्चपावी नामक श्रमणी का उल्लेख है, जिसे 'सेतसमणी' कहा गया है ।

(३) अम्हाकं गन्थनकिलेसो पलिबुज्झनकिलेसो नत्थि किलेसगण्ठिरहिता मयं हि एवं वादिताय लद्धनामवसेन। निगन्ठा। मज्झिम निकाय-अट्ठकथा, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२३

सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ था[1]। अतः बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर भगवान् महावीर ने बुद्ध-परिनिर्वाण से पूर्व शरीर छोड़ दिया था, जो प्रायः ऐतिहासिक सत्य माना जाता है। जटिलसुत्त (संयुत्त ३।१।१) में निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र का वृद्ध गणाचार्य तीर्थंकर के रूप में वर्णन उपलब्धहोता है। निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन हमें देवदह-सुत्त (मज्झिम० ३।१।१) में भी उपलब्ध होता है। एक विशेष बात जो तीर्थंकर भगवान् के सम्बन्ध में पालि निकायों में कही गई है वह उनकी सर्वज्ञता या निखिल-ज्ञानदर्शनसम्पन्नता के सम्बन्ध में है। निगण्ठ नाटपुत्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं, निखिल ज्ञान-दर्शन को जानते हैं, चलते, खड़े होते, सोते, जागते, सदा उन्हें ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है, ऐसा अनेक सुत्तों में कहा गया है[2]। हम जानते हैं कि भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपनी सर्वज्ञता का प्रतिवाद किया था। यदि उन्हें कोई सर्वज्ञ कहता था तो इसे वे असत्य के द्वारा अपनी निन्दा मानते थे, ऐसा उन्होंने कई बार स्पष्ट कर दिया था। वे किसी प्राणी का सर्वज्ञ होना स्वीकार नहीं करते थे। अतः भगवान् महावीर के बारे में भी उनकी क्या दृष्टि हो सकती थी, इसे हम आसानी से समझ सकते हैं। बुद्ध-शिष्य आनन्द ने सर्वज्ञता का दावा करने वाले शास्ताओं की ओर व्यंग्य करते हुए कहा था, "यहां एक शास्ता सर्वज्ञ होने का दावा करते हैं, परन्तु सूने घरों में भी भिक्षा के लिये जाते हैं। भिक्षा तो पाते नहीं, उल्टे कुक्कुरों से शरीर को नुचवाते हैं। वे स्त्री-पुरुषों के नाम-गोत्र पूछते हैं, गांव-नगर का नाम पूछते हैं, अपना रास्ता पूछते हैं[3]।" कुछ विद्वानों का कहना है कि आनन्द का लक्ष्य निर्ग्रन्थ साधुओं की ओर था। जो बुद्ध-काल की परिस्थितियों को जानते हैं, यह जानते हैं कि 'बुद्ध' और 'जिन' होने का दावा उस युग में गौतम और बर्द्धमान का ही नहीं था बल्कि अनेक 'बुद्ध' और 'जिन' उत्पन्न हो रहे थे, वे यहां निर्ग्रन्थों की ओर विशेष संकेत नहीं मान सकते। फिर भी सर्वज्ञता से सम्बन्ध में बौद्ध दृष्टि को तो आनन्द ने व्यक्त कर ही दिया

---

(१) देखिये सामगाम-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।४); संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०)

(२) देखिये विशेषतः चूल दुक्खक्खन्ध-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।४) तथा चूल सकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।९)

(३) सन्दक-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।६)

था। सर्वज्ञतावाद की मान्यता जिस धर्म में हो उसे स्वयं भगवान् बुद्ध ने 'अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य' या आश्वासनहीन धर्म । कहा था[1] । युगपद् (एक साथ) कोई मनुष्य तीनों काल के और तीनों लोकों के पदार्थों को जानेगा, ऐसा भगवान् बुद्ध नहीं मानते थे। इसीलिये उन्होंने न वैदिक ऋषियों को सर्वज्ञ माना था और न स्वयं अपने को । जैन दर्शन में इस विषय सम्बन्धी वस्तुतः एक परिपूर्ण समाधान है, जिसकी सोपपत्तिक अभिव्यक्ति 'प्रवचनसार' की इस गाथा में की गई है, "जो एक ही साथ तीनों कालों के और तीनों लोकों के पदार्थों को नहीं जानता, उसो पर्यायसहित एक द्रव्य जानना भी शक्य नहीं है[2]।" इसका अर्थ यह है कि जो सबको नहीं जानता, वह एक को भी नहीं जानता। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस दार्शनिक विवाद में भगवान् बुद्ध ने कोई भाग नहीं लिया है और सम्भवतः यह उनके युग में उत्पन्न भी नहीं हुआ था। निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के सिद्धान्तों को संक्षेप रूप में पालि निकायों में इस प्रकार रक्खा गया है, "जो कुछ भी यह पुरुष सुख-दुःख या असुख-अ-दुःख अनुभव करता है, वह सब पहले किये हुए हेतु से। इस प्रकार पुराने कर्मों का तपस्या से अन्त करने से, नये कर्मों के न करने से, भविष्य में परिणाम रहित होता है। परिणामरहित होने से कर्म-क्षय, कर्म-क्षय से दुःखक्षय, दुःख-क्षय से वेदना-क्षय, वेदना-क्षय से सब दुःख जीर्ण होते हैं[3]।" सैद्धान्तिक दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात जो हमें निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पालि निकायों में उपलब्ध होती है वह है उनके द्वारा मानसिक कर्म (मनोकम्म) और शारीरिक कर्म (काय-कम्म) के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध पर जोर देना। 'चित्तं वयं कायो होति कायं वयं चित्तं होति'[4] अर्थात् चित्त पर आधारित काया है और काया पर आधारित चित्त है। यह जैन साधकों का बुद्ध-काल में प्रसिद्ध आदर्श-वाक्य था। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह गहन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त, जिसका मौलिक रूप से प्रतिपादन निर्ग्रन्थ साधुओं की परम्परा में किया गया, उनकी जीवनदृष्टि के गहरे नैतिक अधिष्ठान को व्यक्त करता है और इस सिद्धान्त को

---

(१) देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ २६३
(२) गाथा ४८
(३) देवदह-सुत्त (मज्झिम० ३।१।१)
(४) महासच्चक-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।६)

निःसंकोच रूप से बौद्ध साधना में ग्रहण किया गया जब कि भगवान् बुद्ध ने कहा 'चेतना (चित्त) को मैं कर्म कहता हूँ।' 'एक गांठि कइ फेरे।'

ऊपर हमने भगवान् महावीर (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र) के जीवन और उनके उपदेशों के सम्बन्ध में जैसे कि वे पालि निकायों में वर्णित हैं, कुछ वर्णन दिया है। हमें याद रखना चाहिये कि यह चित्र बहुत कुछ अपूर्ण, कहीं-कहीं विकृत और तोड़-मरोड़ कर भी रक्खा हुआ है। उसके आधार पर जैन दर्शन या उसकी धर्म साधना के सम्बन्ध में कोई मत निर्धारित कर लेना उसके साथ अन्याय होगा। जैसे कुछ सूखी मुर्झाई हुई पत्तियों को देखकर हम किसी नानावृक्षलता-समन्वित, पत्रपुष्पादि की समृद्धि से युक्त, विशाल उपवन का अनुमान नहीं लगा सकते, वही हाल बौद्ध पालि ग्रन्थों में प्राप्त जैन धर्म या दर्शन सम्बन्धी वर्णनों का है। जैन दर्शन-परम्परा विशाल और महती है और उसका प्रकृत अध्ययन उसके स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थों के आधार पर ही होना चाहिये। हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि बौद्ध और जैन संघ दोनों श्रमण-संघ होते हुए भी विशेषतः शिष्य-प्राप्ति के लिये बुद्ध-काल में प्रतिस्पर्द्धा में रत थे। अतः एक ने दूसरे के साथ कुछ ऐसा अल्प अन्याय भी किया है जिसे हम आज अधिक सहानुभूति के साथ समझ सकते हैं। स्वयं बौद्ध संघ की विभिन्न शाखाओं ने एक दूसरे के साथ और इसी प्रकार जैन संघ की शाखाओं ने एक दूसरे के साथ इस प्रकार का अल्प अन्याय किया है जिसको सामान्य मानवीय निर्बलता समझकर हम आज आसानी से भुला सकते हैं। बौद्ध धर्म के वर्णनों के आधार पर जैन धर्म के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में और जैन धर्म के वर्णनों के अनुसार बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में हमें मिथ्या धारणाएं नहीं बना लेनी चाहिये। शिष्य-प्राप्ति के लिये इनमें काफी होड़ चल रही थी और इसकी प्रतिच्छाया इनके वर्णनों पर भी पड़ी है। पालि वर्णनों के ही अनुसार निर्ग्रन्थ लोग बुद्ध को 'अक्रियावादी' कहते थे[१] जो वह वास्तव में नहीं थे और इसी प्रकार बुद्ध-शिष्य चित्त गहपति के साथ निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के साथ संवाद के सम्बन्ध में[२] तथा बावेरु जातक में जिस

(१) देखिये सीहसुत्त (अंगुत्तर० ८।१।२।२;) निगण्ठ नाटपुत्त के शिष्य अभय राजकुमार के द्वारा बुद्ध की निन्दा के लिये देखिये अभय राजकुमार-सुत्तन्त (मज्झिम० २।१।८)

(२) जो मच्छिकासण्ड में हुआ था, देखिये संयुत्त-निकाय, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ २९८ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

प्रकार निर्ग्रन्थ साधकों को उपस्थित किया गया है, ये बातें बौद्ध-साहित्य को गौरव देने वाली नहीं कही जा सकतीं। यहां सन्तोष की बात यही है कि भगवान् बुद्ध का इससे कुछ सम्बन्ध न था। भगवान् बुद्ध इस बात में बड़े सतर्क थे कि निर्ग्रन्थों के जो शिष्य उनके मत को स्वीकार भी करें तो उसके बाद भी वे अपने निर्ग्रन्थ गुरुओं का उसी प्रकार दानमानादि से सत्कार करते रहें जैसा वे कि पहले करते थे। उपालि गृहपति को स्पष्टतः उन्होंने ऐसा आदेश दिया था[१]। निर्ग्रन्थ साधुओं के प्रति बिना सम्मान की भावना रक्खे हुए इस प्रकार का आदेश नहीं दिया जा सकता था। यहां बौद्ध साहित्य के गौरव को बढ़ाने वाली एक बात को भी बताना अनुचित न होगा, जिसने जैन धर्म के एक ऐसे गौरवमय साक्ष्य की ओर संकेत किया है जिसका पता स्वयं जैन धर्म को भी नहीं है। अशोक के पुत्र और पुत्री, महेन्द्र और संघमित्रा, जब लंका में धर्मप्रचारार्थ गये तो वहां उन्होंने अपने से पूर्व स्थापित निर्ग्रन्थ-संघ को देखा।[२] लंका के प्राचीन नगर अनुराधपुर की (जो आज खण्डहर के रूप में पड़ा है) जब स्थापना की गई तो वहां 'महावंश' के कथनानुसार तत्कालीन राजा ने निर्ग्रन्थों के लिये भी आश्रम बनवाये। इतना ही नहीं, पालि ग्रन्थों का साक्ष्य है कि लंका में बौद्ध धर्म की स्थापना होने के बाद भी ४४ ईसवी पूर्व तक निगंन्थों के आश्रम लंका में विद्यमान थे, जिसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में 'पालि डिक्शनरी ऑव प्रोपर नेम्स' के संपादक प्रसिद्ध सिंहली बौद्ध विद्वान् मललसेकर ने भी स्वीकार किया है[३]। जैन विद्वानों को अपने प्राचीन विदेशी-प्रचार कार्य की खोज करनी चाहिये। बुद्ध-काल में आजीवकों का एक सम्प्रदाय था और उनके प्रति भगवान बुद्ध की दृष्टि अच्छी नहीं थी। वे उन्हें अक्रियावादी मानते थे और सुगति के अनधिकारी[४]। आजीवकों को जैनों का एक सम्प्रदाय मानना गलती होगा। डा० वेणीमाधव बाडुआ जैसे विद्वान् ने इस प्रकार की गलती की है। जैनधर्म का आजीवक सम्प्रदाय से क्या सम्बन्ध है, इसका उल्लेख हम 'प्राग्बौद्धकालीन भारतीय दर्शन की

---

(१) देखिये उपालि-सुत्त (मज्झिम निकाय)

(२) देखिये महावंश १०।९७

(३) देखिये पालि डिक्शनरी ऑव प्रॉपर नेम्स' में 'निगण्ठ' शब्द का विवरण।

(४) देखिये तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त (मज्झिम० १।३।१)

अवस्था' के विवरण के समय कर चुके हैं। स्वयं पालि निकायों में आजीवकों के सम्बन्ध में कहा गया है, "ये आजीवक तीन को अपना मार्ग दर्शक बतलाते हैं—नन्द वात्स, कृश सांकृत्य और मक्खलि गोसाल।"[१] अतः आजीवकों को निर्ग्रन्थों में सम्मिलित करना ठीक नहीं है। डा० वेणी-माधव बाड़ुआ ने आजीवकों के साथ तज्जीवतच्छरीरवादी, नास्तिकवादी, विनयवादी आदि सम्प्रदायों को जैन सम्प्रदायों के रूप में वर्णित किया है[२], जो ठीक नहीं जान पड़ता।

जहां तक बौद्ध और जैन दर्शनों का वैदिक धर्म के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है, हम स्वामी दयानन्द के शब्दों में कह सकते हैं 'जैनबौद्धयोरैक्यम्'[३]। वेद-प्रामाण्य को इन दोनों में से कोई नहीं मानता। वैदिक यज्ञ यागादि की ओर दोनों में से किसी की सहानुभूति नहीं है। परन्तु दूसरी ओर जब हम देखते हैं तो काफी भेद भी है। जैन दर्शन पूर्णतः आत्मवादी दर्शन है और बौद्ध दर्शन के नाम के साथ तो 'अनात्मवाद' अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है, उसके उत्तरकालिक पुद्गलशून्यता और धर्मशून्यता की तो कोई बात ही नहीं। बौद्ध और जैन दोनों अहिंसावादी धर्म हैं, परन्तु अहिंसा की स्वीकृति जैन धर्म में बौद्धधर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक और गम्भीर है। तपस्या के स्वरूप को लेकर कुछ भेद हैं। बुद्ध ने ज्ञान-प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार की कायक्लेशमयी तपस्याएँ कीं। परन्तु उन्हें बोधि के लिये उपयोगी नहीं पाया। छह वर्ष की कड़ी तपस्या के बाद जब बुद्ध ने कहा 'मुझे उससे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई' तो यह उस समय की धार्मिक साधना के लिये एक बड़ी क्रान्तिकारी वाणी थी। तपस्या के सम्बन्ध में हम बुद्ध के मन्तव्य को अन्यत्र व्यक्त कर चुके हैं, इसलिये उसका पुनरुद्धरण करना यहां आवश्यक न होगा। यदि तपस्या करते, शरीर को क्लेश देते, किसी के चित्त-मल दूर होते हैं और उसके कुशल कर्मों की वृद्धि होती है, तो उसके लिये इस प्रकार की तपस्या को, काय-क्लेश को, बुद्ध विहित और आवश्यक बताते हैं, उससे विपरीत को निषिद्ध और अनाव-

---

(१) सन्दक-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।६)

(२) देखिये उनकी प्री बुद्धिस्टिक इण्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ २८२, २९५, ३०२, ३०६, ३१८ एवं ३३२

(३) सत्यार्थ प्रकाश (द्वादश समुल्लास)

श्यक ।[1] चित्त और शरीर के कर्मों के घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रख्यापन करने वाले जैन साधक कायिक तपस्या पर ही जोर देते हों, ऐसा कहना उनके मन्तव्य को विकृत करना होगा। फिर भी तपस्या जैन साधना का अधिक आवश्यक अंग है अपेक्षाकृत बौद्ध साधना के, यद्यपि बौद्ध साधना में भी उसके महत्त्व की स्वीकृति है। बुद्ध के विचार का प्राण है उसका मध्यममार्गी स्वरूप, जो उसकी अपनी विशेषता है।

जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन दोनों ही एक आदि, स्थिर चैतन्य कर्ता की सत्ता में विश्वास नहीं करते। जैसा अभी कहा गया, वेदों का प्रामाण्य दोनों को ही स्वीकार्य नहीं हैं। दोनों ही अहिंसा पर अधिक जोर देने वाले हैं, यद्यपि जैन दर्शन तो कुछ अत्यधिक भी। अब हम क्रमशः व्यवहार-पक्ष, तत्व-पक्ष और प्रमाण-पक्ष को लेकर इन दोनों दर्शनों के सम्बन्ध पर आते हैं।

व्यवहार-दर्शन के क्षेत्र में

व्यवहार-पक्ष या नीति-पक्ष में जैन दार्शनिकों ने सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, और सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष का मार्ग स्वीकार किया है[2]। अतः बौद्ध दर्शन के साथ उसकी पूरी समानता है। हम आसानी से इस साधन-त्रिपुटी को बौद्ध आर्य अष्टांगिक मार्ग का संक्षेप कह सकते हैं या इसका विस्तार आर्य अष्टांगिक मार्ग को मान सकते हैं, बिना एक दूसरे पर किसी के ऋण की स्थापना करते हुए। आर्य अष्टांगिक मार्ग के प्रत्येक अंग के आदि में 'सम्यक्' जुड़ा हुआ है और यही बात जैन-साधना की उपर्युक्त त्रिपुटी में है। यह अत्यन्त सार्थक है। वस्तुतः सम्यकत्व बौद्ध और जैन दोनों दर्शन-साधनाओं का एक अभिन्न अंग है, यद्यपि केवल सम्यक्त्व को लेकर बौद्ध दर्शन की अपेक्षा जैन दर्शन में अधिक विचार है। जैन योग का यदि हम वर्णन करने लगें तो वह लगभग वैसा ही होगा जैसा उपनिषदों का, महर्षि पतंजलि का अथवा बुद्ध का। वही शून्यागारों में ध्यान करने का उपदेश[3], वहीं हिंसा, असत्य, चोरी आदि से

(१) देखिये देवदह-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।१)

(२) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्वार्थ सूत्र १।१

(३) शून्यागारेषु गिरिगुहतरुकोटरादिषु आवासः। तत्त्वात्थ सूत्र ७।६; मिलाइये बुद्ध की प्रसिद्ध उक्ति 'भिक्षुओ! शून्यागारों में जाकर ध्यान की वृद्धि करो'। गिरि-गुहा, पुआल-पुंज और वृक्ष-मूल में ध्यान करने का उपदेश भी भगवान् बुद्ध ने दिया है।

विरति[1], वही सत्य, अस्तेय अहिंसा और ब्रह्मचर्य की भावनाएँ[2], वही कर्मों का विभाजन और उस कर्म से मुक्ति-प्राप्ति रूपी वही जीवन का उद्देश्य। कर्मों का निःशेष किए बिना जैन दर्शन में भी मुक्ति सम्भव नहीं है। उस कर्म का स्वरूप यहां पुद्गल रूप अवश्य है जबकि बौद्ध दर्शन में चेतना रूप। बौद्ध दर्शन के 'अकुशल' कर्म ही यहां ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म और मोहनीय कर्म, इन चार 'घातीय कर्मों' के रूप में प्रकारान्तर से रक्खे हुए हैं, अपने विशेष दर्शन का एक आवरण पहने हुए। फिर जैन दर्शन में जिन्हें 'अन्तराय' कर्म कहा गया है, वे बौद्ध विचार के तीन बन्धनों अथवा पांच नीवरणों से कितनी समानता रखते हैं, इसकी भी बताने की यहां आवश्यकता नहीं। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ का अशुभ[3], इस कर्म नियम सम्बन्धी निष्ठा को दिखाने की भी क्या आवश्यकता? योग दर्शन के तो वे बिलकुल 'अन्तराय' और 'विक्षेप सहभुवः[4]' के रूपान्तर ही हैं, इसके बताने में भी यहां परिश्रम करना नहीं होगा। जैन साधना की अशुचि भावना को, जो वहां अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है बौद्ध धर्म 'ने अशुभ भावना' के रूप में ले लिया है, डा० हरदयाल के इस सम्बन्धी मत से[5], जिसमें उन्होंने बौद्ध-धर्म पर जैन धर्म के ऋण को स्वीकार किया है, सहमत होने में हमें विशेष कठिनाई नहीं। बौद्धों के ब्रह्म विहार स्वरूप मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावनाएँ जैन साधना में भी विद्यमान हैं[6]। जैन दर्शन के अनुसार कर्म-पुद्गल ही जीव और अजीव का सम्बन्ध कराता है और जीव और कर्म परमाणुओं की गति को ही जैन दर्शन में आस्रव कहा जाता है, जो भव का कारण है। जीव और कर्म का पारस्परिक सम्बन्ध ही जैन दर्शन में 'बन्ध' या बन्धन कहलाता है। जिन

---

(१) हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। तत्त्वार्थ-सूत्र ७।७

(२) देखिये तत्त्वार्थ-सूत्र ७।४-७

(३) शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य। तत्त्वार्थ-सूत्र ६।३

(४) देखिये आगे बौद्ध दर्शन और योग-दर्शन के सम्बन्ध का विवेचन।

(५) देखिये दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ९५; मिलाइये तत्त्वार्थ सूत्र ७।१२

(६) मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु। तत्त्वार्थ-सूत्र ७।११

कर्मों के करने से जीव का स्वाभाविक प्रकाशमय स्वरूप आच्छादित हो जाता है, उन्हें पाप कर्म कहते हैं। जब जीव को सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो नवीन कर्म का उत्पन्न होना बन्द हो जाता है अथवा जैन दार्शनिक भाषा में कहना चाहिए कि कर्म-पुद्गल का जीव की ओर गतिशील होना बन्द हो जाता है और यही 'संवर' कहलाता है। 'चक्खुना संवरो साधु'[1] आदि प्रयोग तो बुद्ध के उपदेशों में भी हमें उपलब्ध होते जिनके समान कहीं-कहीं जैन-व्याख्या भी की गई है, किन्तु संवर की तात्विक व्याख्या तो जैन दर्शन की अपनी देन है। संवर (संयम) का अभ्यास करते-करते जब जीव कर्म परमाणुओं से छूटने लगता है, तो यही 'निर्जरा' की अवस्था होती है। इस निर्जरा की अवस्था प्राप्त होने पर, जो परिपूर्णतम संयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, जीव मुक्त हो जाता है और उस दशा में वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य का भागी होता है। इसी उद्देश्य की ओर जैन साधना जीव को ले जाने की कोशिश करती है और इस अर्थ में न केवल वह बौद्ध दर्शन से ही बल्कि प्रायः सभी भारतीय अन्य दर्शनों से भी भली प्रकार संगत है। यदि निश्चय ही और सब बातों को गौण स्वीकार कर जैन दर्शन ने भव के हेतु का निदान आस्रव के रूप में ही किया है और संवर या संयम को ही मोक्ष मार्ग ठहराया है, तो[2] हम कह सकते हैं कि उसका यह निदान और यह भैषज्य-विधान चतुरार्य सत्यों के शास्ता उन 'उत्तम भिषक्' तथागत के औषध-विज्ञान से कुछ विभिन्न प्रकार का नहीं है, किन्तु समान ही

---

(१) मिलाइये, 'चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो। घाणेन संवरो साधु साधु जिह्वाय संवरो ।। कायेन संवरो साधु साधु वाचाय संवरो मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो ।। सब्बत्थ संवुतो भिक्खु सब्बदुक्ख पमुच्चति। धम्मपद, भिक्खुवग्गो, २५।१-२; देखिये, कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो। मनसा संवुरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो ।। सब्बत्थ संवुतो लज्जी रक्खितोति पवुच्चतीति' संयुत्त निकाय,। जैन दर्शन में 'संवर' की इस रूप में व्याख्या के लिये देखिये, आस्रवनिरोधः संवरः। तत्त्वार्थ-सूत्र ९।१

(२) आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्। इतीयमार्हती दृष्टिः अन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ।। सर्व दर्शन संग्रह में उद्धृत।

मन्तव्य का अवलम्बन करने वाला है। बौद्ध साधना में जिस प्रकार लोक को अनित्य और अशरण कहा गया है, वही बात जैन साधना के सम्बन्ध में है[1]। धर्मास्तिकाय[2], प्रत्येकबुद्ध[3] और बुद्ध के प्रदेश क्षेत्र[4] की कल्पनाएँ स्पष्टतः बौद्ध धर्म से ली हुई जान पड़ती हैं।

तत्व-दर्शन के क्षेत्र में आते ही हमें बौद्ध और जैन चिन्तन-शास्त्रों की परस्पर विभिन्न प्रवृत्तियों और रुचियों का पता चलने लगता है। यहां विज्ञानवाद या शून्यवाद जैसी कोई वस्तु नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार स्थिरता और विनाश दोनों ही प्रत्येक वस्तु में रहते हैं। कोई भी वस्तु एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य नहीं है। सभी वस्तुएँ नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की हैं।

तत्त्वदर्शन के क्षेत्र में

'ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णात्थि संभव विहीनो।
उत्पादो वि य भंगो ण विणा धोब्बेण अत्थेण।।"

अर्थात् 'उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति सम्भव नहीं है। उत्पत्ति और नाश दोनों का आश्रय कोई पदार्थ होना चाहिए।' एकान्त नित्य पदार्थ में परिवर्तन सम्भव नहीं है और यदि पदार्थों को क्षणिक माना जाय तो 'परिवर्तित कौन होता है?' यह भी बताया नहीं जा सकता। अतः जीव जैन दर्शन के अनुसार एकान्त नित्य नहीं है। परमाणुओं के संघात से ही संसार के सारे पदार्थ बने हैं. यह जैन दर्शन का एक मौलिक विचार है। परमाणुओं के पुंज को 'स्कन्ध कहा जाता है। भौतिक जगत् अपने समष्टि रूप में 'महास्कन्ध' कहलाता है। जैन दर्शन में परमाणु आदि-अन्त-हीन और नित्य हैं। परमाणु अमूर्त हैं। पृथ्वी, जल, वायु आदि एक ही प्रकार के परमाणुओं के रूपान्तर हैं। मुक्त जीव परमाणुओं का प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परमाणुवादी हैं और जीवों की अनेकता मानने के कारण अनेक-जीववादी भी, किन्तु जीव को वे व्यापक नहीं मानते। उनके अनुसार ज्ञान जीव का गुण नहीं है, किन्तु जीव

---

(१) देखिये तत्त्वार्थ-सूत्र ९.७
(२) देखिये तत्त्वार्थ-सूत्र १०.८
(३) देखिये तत्त्वार्थ-सूत्र १०.९
(४) " तत्त्वार्थ-सूत्र १०.९

ज्ञान स्वरूप ही है। कर्म-पुद्गल से उसके वास्तविक ज्ञान पर आवरण पड़ा रहता है। किन्तु जब मुक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है जीव अनन्त बुद्धि और अनन्त दर्शन वाला हो जाता है। यही मुक्त जीव 'सिद्ध' कहलाता है । अतः जैन दर्शन 'सिद्ध' अवस्था के रूप में जीवन्मुक्ति को स्वीकार करता है जो बौद्ध दर्शन के साथ साथ अन्य भारतीय दर्शनों की भी एक प्रायः सामान्य प्रवृत्ति ही है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष (जीवाजीवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्) तथापाप और पुण्य, इन नौ विभागों में ही विश्व के सारे पदार्थों को बांटने वाले जैनों को ईश्वर की उपलब्धि कहीं नहीं हुई । अतः उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों के समान वे भी अनीश्वरवादी हैं, जगत् का कोई कर्ता उन्हें नहीं मिला। यदि ईश्वर के कर्तृत्व सम्बन्धी विश्वास को आचार्य धर्मकीर्ति केवल मनुष्यों की बुद्धि की जड़ता का चिन्ह मात्र समझते हैं तो मल्लिसेन उस प्रकार के विश्वास से बचने के लिए अपने अनुशासक के प्रतिकृतज्ञता प्रकाशित किए बिना नहीं रहते 'कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः। इमा कुहेवाक विडम्बनाः स्युः तेषां न येषाम् अनुशासकस्त्वम्'[1] ।जैन आचार्यों के तर्क भी ईश्वरकर्तृत्वाद के विरुद्ध प्रायः वैसे ही हैं जैसे बौद्ध आचार्यों के। अशरीरी कर्ता की असम्भवता, ईश्वर के पास सृष्टि निर्माण के लिए किसी भी उद्देश्य की अविद्यमानता, ईश्वर की कारुणिकता और जगत् की दुःखमयता में पारस्परिक असंगति, आदि बातें ऐसी हैं जो ईश्वर-कर्तृत्वाद को जमने नहीं देतीं[2] । जैन दर्शन भी बौद्ध दर्शन के समान ही फल प्राप्त कराने के लिये कर्म मात्र को ही पर्याप्त समझता है। इस प्रकार वेद और ईश्वर दोनों के ही विरोधी होने के कारण जैन और बौद्ध दर्शन 'आस्तिकवादी' लोगों के द्वारा एक ही कोटि में डाल दिए गए हैं और अन्य बातों में उनके पारस्परिक विभेद की ओर इतना ध्यान नहीं दिया गया। अब हम जैन दर्शन के न्याय पर आते हैं।

जैन न्याय-परम्परा अत्यन्त विशाल और विस्तृत है। मध्ययुगीन न्याय के इतिहास में जैनों का एक विशेष भाग है। अकलंक का राजवार्तिक, स्वामी

(१) स्याद्वादमञ्जरी।

(२) ईश्वरवाद के विस्तृत खण्डन के लिए देखिए हरिभद्र का षड्दर्शन-समुच्चय और उस पर गुणरत्न की वृत्ति।

उत्तरकालीन (अर्थात् मध्ययुगीन) बौद्ध और जैन न्याय-परम्पराएँ

विद्यानन्द का श्लोकवार्तिक और समन्त भद्र की 'आप्त मीमांसा' प्रसिद्ध ग्रन्थ इसी समय रचे गए। हरिभद्र सूरि के 'षड्दर्शन समुच्चय', मल्लिसेन की 'स्याद्वावाद मंजरी' भी अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं जिनमें नैयायिक दृष्टि से जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है[1]। जैन नैयायिकों ने बौद्ध क्षणभंगवाद का जो निराकरण किया है उसका विवरण पीछे हम 'क्षणिक वाद' का विवेचन करते समय दे चुके हैं। जैन न्याय की सबसे बड़ी देन भारतीय नैयायिक विचार को उनका 'स्याद्वाद' सम्बन्धी सिद्धान्त है। उसमें सविकल्प मानवीय-ज्ञान की अल्पता की अनुभति कूट-कूट कर भरी है। साथ ही समन्वयवाद की भी। स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कहते हैं और यह एक प्रकार से जैन दर्शन का दूसरा नाम ही है। अतः इस सिद्धान्त का जैन दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। 'स्याद्वाद को 'स्याद्वादमंजरी' में संक्षेपतः इस प्रकार परिभाषित किया गया है 'स्याद्वादोऽनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेक-धर्मशवलैकवस्त्वभ्युपगम इति' अर्थात् स्याद्वाद अनेकान्तवाद को कहते हैं, जिसके अनुसार एक ही वस्तु में नित्यता, अनित्यता आदि अनेक धर्मों की उपस्थिति मानी जाती है और प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक मानी जाती है। इस प्रकार जैन दर्शन का विचार है कि एक ही वस्तु को देखने की अनेक दृष्टियां हो सकती हैं, किन्तु सम्पूर्ण सत्य क्या है इसको देखने के लिये सब दृष्टियों का संश्लेषण आवश्यक है। यही तात्पर्य अनेकान्तवाद को 'सम्पूर्ण आदेश' या 'सकल आदेश' कहने का है। सब कुछ यहां जगत् में 'विकल' ही विकल आदेश है, सविकल्पक, खण्ड-खण्ड है। 'सकल' आदेश यहां सब दृष्टियों को मिलाने पर बनता है, जिसका 'अनेकान्त' प्रतीक है। किसी वस्तु की सत्ता या असत्ता के विषय में हम केवल यही कह सकते हैं (१) शायद है (२) शायद नहीं है। (३) शायद है और नहीं है (४) शायद अवक्तव्य है (५) शायद है और अवक्तव्य है (६) शायद नहीं है और अवक्तव्य है तथा (७) शायद है, नहीं है और अवक्तव्य है। इसी को सप्तभंगी

---

(१) विशुद्ध नैयायिक दृष्टिकोण से अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, भद्रबाहुकृत 'दश-वैकालिकनिर्मुक्ति', सिद्धसेन दिवाकर कृत 'न्यायावतार', माणिक्य नन्दि कृत 'परीक्षामुख सूत्र', देवसूरिकृत 'प्रमाणनयतत्वालंकार' आदि।

नय[1] भी कहते हैं। कुछ विद्वानों ने इस नय की संदेहवादी व्याख्या की है, जिससे सहमत होना कठिन है। अशेष ज्ञान को सिखाने वाले शास्ता संदेह को सिखायेंगे, यह सम्भव नहीं। संजय वेलट्ठिपुत्त के विचारों की झलक सप्तभंगी-नय मे देखना ठीक नहीं है। हमारी समझ में अशेष ज्ञान, केवल ज्ञान, को दिखाने का प्रयत्न इस सिद्धांत में किया गया है। वह दृष्टि में, किसी मत-वाद में, एकांश-निष्ठा सेबच ने के लिए है, जिसका उपदेश भगवान बुद्ध ने भी दिया था। भगवान् बुद्ध ने 'है' और 'नहीं' की कोटियों का परिवर्जन करके तत्व को अव्याकृत कर दिया था, मध्यम मार्ग को स्वीकार किया था। उदारता और अविवाद धर्म की उसी दृष्टि की अभिव्यक्ति अनेकान्त के रूप में हुई है, ऐसी हमारी विनम्र धारणा है।

औपनिषद आत्मैकत्वविज्ञान का मानदण्ड लेकर नापने वाले मनीषी डा० राधाकृष्णन् ने जैन दर्शन के अनेकान्तवादी यथार्थवाद को बीच मार्ग में पड़ाव डालना ठहरा दिया है[2]। आचार्य शंकर ने भी इसी कारण जैन दर्शन को 'असंगत' कहा था।[3] पर हमारे पास वैसा पैमाना नहीं है। अतः वैसी बात हम नहीं कह सकते। मानवतावादी जैन दर्शन जब आत्मवाद के झमेले में पड़ा तो उसे बीच पड़ाव में ठहरने पर ही संतोष करना पड़ेगा। या वेदान्त में मिल कर अपनी पृथक् सत्ता खो देनी पड़ेगी। दूसरी कोई गति नहीं है। श्रमण धर्म अपने मौलिक रूप में साधना-मार्ग ही था, सम्यक्त्व का धर्म ही था। भगवान् महावीर ने जब 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' कहा था तो पूर्ण सत्य के प्रख्यापन में यह उनके द्वारा दूसरे मतों को अपेक्षा देने के परिणाम स्वरूप ही था। 'यही सत्य है' (इदमेव सच्चं-सूर—सुत्त) इस विवाद की शान्ति का वह एक

(१) स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति च वक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः।

(२) मिलाइये, 'One thing, however, is clear, that it is only by stopping short at a halfway house that Iainism is able to set forth a pluralistic realism.' राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलासफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४०

(३) असंगतमिदमार्हतं मतम्। ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य २।२।३; आर्हतमपि मतमसंगतम्। ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य २।२।३६

उपाय ही था। एक ही वस्तु में दो विरोधी स्वभाव एक साथ नहीं रह सकते, यह कह कर शंकर ने 'सप्तभंगी नय' की समालोचना की है।[1] पर यह समालोचना तो ज्ञान की व्यवहारावस्था की है। शंकर भूल जाते हैं कि 'सप्त भंगीनय' 'सकलादेश' को देने का प्रयत्न है, अपरिशेष ज्ञान को दिखाने का प्रयत्न है, वह निश्चय - नय है। उसे सहानुभूतिपूर्वक समझने का प्रयत्न न कर वे उसकी अनिश्चयवादी व्याख्या कर देते ह[2] और उनके अनुकरण पर प्रायः सभी वैदिक विद्वान् आज तक ऐसा करते आए हैं। 'अनेकान्त' परिनिष्पन्न सत्य है, परमार्थ सत्य है और इस रूप में विरोधी भाषा का प्रयोग स्वयं वैदिक दर्शन में भी है। 'असच्च सच्च'[3]। पर श्रमण-साधना अपनी अन्य मान्यताओं के साथ न्याय करते हुए यहाँ नहीं जा सकती थी। बौद्ध दर्शन ने तो आत्मवाद से ही पीछा छुड़ा लिया, परन्तु प्रकारान्तर से अद्वय तत्व की सिद्धि उसने भी की। 'निर्गुण' से भी अधिक बलवान् और वरिष्ठ 'शून्य' उसने खड़ा कर दिया। अतः 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' भले ही उसके संबंध में भ्रमपूर्वक कह दिया गया हो, बीच के पड़ाव जैसी कोई बात उसके संबंध में कभी नहीं कही जा सकती थी। वस्तुतः जैन दर्शन भी बीच का पड़ाव नहीं है। वह तो पूर्ण सत्य का, केवल ज्ञान का, गवेषीहै। और उसकी खोज करते हुए वह भी उस अभेद निष्ठा पर पहुंचा है जो सम्पूर्ण वेदान्तों का लक्ष्य है। आत्मा की आधारभूत एकता ही 'समयसार' का विषय है। अतः डा० राधाकृष्णन् के मत से हम सर्वांश में सहमत नहीं हैं। फिर क्या जीव-दया के आत्यन्तिक उपदेश के द्वारा जैन दर्शन ने आत्मा की अभिन्नता और एकता की प्रकारान्तर से सिद्धि नहीं की है? जैन दर्शन-साधना का केन्द्रीय विचार है वस्तुतः वीतरागता। सम्पूर्ण वीतरागता जैन-दर्शन का लक्ष्य है। अहिंसा और अनेकान्त उसके दायें-बायें स्थित हैं। यह त्रिविध साधना मानवता के तेज को निखारने वाली है। 'मानुसत्तं भवे मूलं' मनुष्यता ही मूल वस्तु है, यह जो कहा गया है, यही वस्तुतः जैन दर्शन की प्रकृत स्थिति है, उसका आत्मवाद नहीं। और यहीं पर बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन दोनों मिलते हैं। दोनों का लक्ष्य मानव है, वह मानव जो पूर्ण विमुक्त है, केवली है, अर्हत् है।

(१) देखिये ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।२।३३-३४

(२) अनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानंवदप्रमाणमेव स्यात्। ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य २।२।३३

(३) ऋ० १०।५।७; मिलाइये। सच्चासत्। वैशेषिक सूत्र ९।१।४

जिसके आस्रव क्षय हो गए हैं[1], कषायों से जिसने विमुक्ति प्राप्त की है[2], आस्रव-निरोध रूप संवर के द्वारा जिसने निर्जरा की प्राप्ति की है[3], मोह का उच्छेदन कर ज्ञान-दर्शन के आवरणों को हटा कर जिसने केवल परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त किया है[4]। यही मुक्त पुरुष अर्हत् बौद्ध और जैन दोनों दर्शनों का लक्ष्य है। अतः बौद्ध और जैन दोनों 'आर्हती' दृष्टियां हैं। मानुषत्व की साधना दोनों की अपनी मौलिक पैतृक गोचर-भूमि है, जहां से दूर जाने में भय है। जैन साधक का मौलिक विषय बौद्ध साधक के समान यह भावना करना था कि 'मुझे मोह की सेना को किस प्रकार जीतना चाहिए,[5] उसकी मूल साधना थी यह अनुभूति करना कि 'मैं स्वयं साक्षात् धर्म हूं'।[6] यही श्रामण्य का मूल उद्देश्य था, नयों और द्रव्यों का विवेचन नहीं, आत्मा के सिद्धान्तों का प्रख्यायन नहीं। राग के प्रहाण और संयम प्राप्ति के लिए श्रमण साधना का प्रवर्तन हुआ था जो दुःखक्षय का एकमात्र मार्ग है। भगवान् बुद्ध ने राग, द्वेष और मोह को अकुशल मूल कहा था और इनके आत्यन्तिक क्षय को निर्वाण। वीत-रागता का इसके अलावा और संदेश क्या है? भगवान् बुद्ध ने कहा था कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में अपने को मत खोजो, वहां अपना नहीं मिलेगा, वह पर वस्तु है, उसे छोड़ दो और यही बात प्रकारान्तर से जैन साधना के 'स्व' और 'पर' के भेद-विज्ञान में है। जब यह लेखक प्रवचन-सार की इन गाथाओं को पढ़ता है तो उसे भान ही नहीं रहता कि वह अनात्म की भावना कर रहा है या जैन दर्शन के भेद-विज्ञान की :

णाहं देहोण मनो ण चैव वाणी ण कारणं तेसिं। कत्ता ण पा कारयिदा अनुमन्ता नेव कर्तॄणाम्॥ णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि इति णिच्छिदो जिदिन्दो जादो जधजादरूपधरो।[7] इनका हिन्दी अनुवाद है,

(१) देखिये तत्त्वार्थ-सूत्र ९।१

(२) तत्त्वार्थ-सूत्र ८।१

(३) तत्त्वार्थ-वृत्ति १।४

(४) तत्त्वार्थ-सूत्र १०।१; बौद्ध दर्शन के अनुसार 'अर्हत्' के लक्षणों के लिये देखिये पीछे पृष्ठ ६०७-६०८

(५) देखिये प्रवचन सार, गाथा ८०

(६) देखिये प्रवचन सार, गाथा ९२

(७) गाथाएँ संख्या १६०-१६१

"मैं न देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ, न उनका कारण हूँ। मैं करने वाला नहीं हूँ, न कराने वाला और न कर्ता का अनुमोदक। मैं दूसरों का नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं। इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है, ऐसा निश्चयवान् जितेन्द्रिय पुरुष सत्य के मूलभूत स्वरूप को धारण करने वाला होता है।"

बौद्ध और जैन दर्शन के मिलन की सर्वोत्तम भूमिका भी यही है।

उ—बौद्ध दर्शन और न्याय-वैशेषिक

उपोद्घात

भारतीय दर्शन में न्याय दर्शन के दो स्वरूप हम देखते हैं, एक तो वह स्वरूप जो गौतम के न्याय सूत्र और के उस पर वात्स्यायन भाष्य को लेकर उसी की परम्परा में प्रवृत्त होता है और प्रकृत 'न्याय दर्शन' की संज्ञा पाता है। नव्य न्याय को हम इसी परम्परा में संनिविष्ट मानते हैं। दूसरा रूप न्याय का वह है जिसमें प्रत्येक भारतीय दर्शन सम्प्रदाय अपनी-अपनी एक अलग न्याय-परम्परा रखता है और इसी अर्थ में हम 'बौद्ध न्याय', 'जैन न्याय' आदि जैसी बातें कहते हैं। भारतीय न्याय शास्त्र का ऐतिहासिक अध्ययन प्रायः तीन क्रमिक युगों में किया जाता है, यथा प्राचीन न्याय, मध्ययुगीन न्याय और नव्य न्याय। इन में से बौद्ध न्याय उस युग की देन है जिसे हम मध्ययुगीन न्याय कहते हैं। यहां जब हम बौद्ध दर्शन और न्याय—(या न्याय-वैशेषिक) दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध की बात कहते हैं, तो उसका तात्पर्य एक तो बौद्ध दर्शन में न्याय के जिस स्वरूप को ग्रहण किया गया है उसके प्रख्यापन से है और दूसरे गौतमीय न्याय की परम्परा के साथ उसका जो संघर्ष और सम्पर्क शताब्दियों तक चलता रहा, उसके किञ्चित दिग्दर्शन से भी है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन (अथवा दर्शनों) पर संक्षिप्त विचार और दोनों का बौद्ध दर्शन से ऐतिहासिक और तात्विक सम्बन्ध

न्याय और वैशेषिक दो दर्शन न होकर एक ही दर्शन हैं। न्याय का प्रस्तावित विषय यद्यपि अत्यन्त विस्तृत है[1], किन्तु विशेषतः प्रमाण-परीक्षा को ही उसने अपना विषय बनाया है। वैशेषिक का विषय 'प्रमेय' वस्तु का ज्ञान सम्पादन करना है। अतः दोनों ही दर्शन विश्लेषण और समीक्षा के साधनों के द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञान को प्राप्त करने के तरीकों एवं स्वयं उस ज्ञान पर विचार करते हैं। न्याय-दर्शन का उदय भारत में कब हुआ अथवा न्याय-सूत्रों का काल क्या है, यह विषय पूरी तरह से निश्चित अभी

(१) देखिये न्यायसूत्र १।१।१

नहीं हो पाया है। किन्तु यह निश्चित है कि उपनिषदों के काल से पहले ही अनेक प्रकार के संवादों की परम्परा भारत में चली आ रही थी जिनमें नैयायिक ढंग से वैदिक अर्थों के निर्णय करने का प्रयत्न किया जाता था। इन्हीं संवादों के युग में न्याय का प्राचीनतम साहित्य लिखा गया। किन्तु फिर कब प्राप्त की, इस दर्शन ने वैशेषिक दर्शन के साथ एकात्मकता इसका ठीक निर्णय हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में नहीं किया जा सकता। किन्तु यह निश्चित है कि अनेक उत्तरकालीन ग्रन्थ यथा केशव मिश्र-रचित तर्क भाषा, शिवादित्य-कृत सप्तपदार्थी एवं विश्वनाथ कृत भाषा परिच्छेद आदि दोनों दर्शनों को एक हीदर्शन मानते हैं। तत्व-दर्शन में 'पीलुपाक' बनाम 'पिठर पाक' जैसे विषय को लेकर एवं प्रमाण मीमांसा के क्षेत्र न्याय के द्वारा चार प्रमाणों और वैशेषिक के द्वारा केवल दो प्रमाणों की स्वीकृति के रूप में कुछ छोटे-मोटे विभेदों के अतिरिक्त मूलभूत बातों में दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अतः अपने विषय के प्रसंग में हम इन दोनों दर्शनों को एक ही दर्शन के अंग मानकर प्रवृत्त होंगे।

न्याय-दर्शन का इतिहास डाक्टर विद्याभूषण ने तीन भागों में विभक्त किया है, यथा प्राचीन न्याय (६५० ई० पू० से १०० ईस्वी तक) मध्य युगीन न्याय (१०० ई० से १२०० ई० तक) तथा नव्य न्याय (९०० ईस्वी) कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से हमारे प्रयोजन के लिए केवल प्राचीन न्याय और मध्ययुगीन न्याय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महर्षि गौतम या अक्षपाद के न्याय सूत्रों के बाद दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ न्याय-साहित्य में वात्स्यायन का न्याय भाष्य है जिसके बाद से ऐतिहासिक रूप से बौद्ध न्याय और गौतमीय न्याय में संघर्ष प्रारम्भ होने लगता है। वात्स्यायन ने अपने न्याय भाष्य में 'उपाय कौशल्य' और 'विग्रह व्यावर्तनी' ग्रन्थों के रचयिता नागार्जुन के मतों का खण्डन किया था। हम जानते हैं कि न्याय सूत्र ४।२।२६ में विज्ञानवाद का खण्डन उपलब्ध है और न्याय सूत्र ४।१।४०; ४।१।४८ और ४।१।३४-३५ शून्यवाद का प्रत्याख्यान करते हैं, अतः एक प्रकार से तो न्याय-सूत्रों से ही बौद्ध दर्शन के साथ नैयायिकों के संघर्ष का सूत्रपात हो जाता है। किन्तु इस विषय में एक परम्परा का प्रवर्तन तो वात्स्यायन ने ही किया। वात्स्यायन ने जब नागार्जुन के मतों का खण्डन किया और विज्ञानवाद और शून्यवाद को अपनी समालोचना का विषय बनाया तो बौद्ध आचार्य दिङ्नाग ने वात्स्यायन के खण्डनों का तीव्र उत्तर अपने 'प्रमाणसमुच्चय', 'न्याय-प्रवेश', 'हेतुचक्र हमरु',

'आलम्बन परीक्षा' और 'प्रमाण शास्त्र प्रवेश' जैसे ग्रन्थों में दिया जिसका फिर प्रत्याख्यान गौतमीय न्याय की परम्परा में उद्योतकर ने अपने 'न्याय-वार्तिक' में वात्स्यायन की स्थिति का समर्थन करते हुए किया। किन्तु उद्योतकर भी विना आक्रमण किए हुए नहीं रह सके। दिङ्नाग को अपना एक समर्थक मिला। बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने 'न्यायबिन्दु' में उद्योतकर के मतों का खण्डन कर दिङ्नाग की स्थिति का समर्थन किया। नवीं शताब्दी में बौद्ध आचार्य धर्मोत्तर ने 'न्यायबिन्दु-टीका' लिख कर एक और नया प्रत्याक्रमण नैयायिकों पर किया। इधर से भी प्रतिरोध करने वाले 'सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र' मनीषी वाचस्पति मिश्र जैसे गम्भीर पण्डित और विचारक आए जिन्होंने अपनी 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' में बौद्ध आचार्यों के मन्तव्यों का निराकरण किया और बौद्धों के 'दुस्तर' 'कुनिबन्ध' रूपी पंक में फँसी उद्योतकर की वाणीरूपी गायों के उद्धार के द्वारा पुण्य-संचय का दावा किया[1]। धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विचारकों के मतों का खण्डन करने के लिए दसवीं शताब्दी में उदयन ने अपने 'आतमतत्व विवेक' की रचना की जिसमें प्रधा-नतः बौद्ध नैरात्म्यवाद का खण्डन किया गया। उनकी 'कुसुमाञ्जलि' ने तो निश्चय ही ईश्वर की सिद्धि करने में नैयायिक साहित्य में अत्यन्त ख्याति पाई। इसके बाद भी न्याय पर ग्रन्थ लिखे जाते रहे, किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के बाद बौद्ध आचार्यों की परम्परा ही बिलकुल न रह गई, अतः दोनों तरफ से एक दूसरे के प्रति स्पष्ट लक्ष्य किया हुआ हम साहित्य नहीं पाते, यद्यपि नैयायिक ग्रन्थ जो इसके बाद भी लिखे जाते रहे उनमें भी परम्परा के अनुसार बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन होता ही रहा, किन्तु ऐतिहासिक सम्बन्ध तो इन दो दर्शनों का प्रायः उदयन के काल से ही समाप्त हो जाता है। जिन दो दर्शनों का इतना सुविस्तीर्ण पारस्परिक ऐतिहासिक सम्बन्ध हो उनके सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना कुछ सरल काम नहीं है। फिर 'न्याय भाष्य' और 'न्यायवार्तिक' जैसे ग्रन्थों की दुरूह शैली और विचार-क्लिष्टता तो दर्शन के साधारण विद्यार्थियों को भय दिलाने वाली है जिस प्रकार पाणिनि को जाने बिना जैसे संस्कृत जानने की

---

(१) मनीषी आचार्य करुणापूर्वक मार्मिक शब्दों में कहते हैं। "यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम्। उद्योतकरगवीनाम् अतिजरतीनां समुद्धरणात्॥ न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका १।१।१

विडम्बना करना व्यर्थ है उसी प्रकार यदि कोई यह कह दे कि वात्स्यायन को जाने विना भारतीय दर्शन के विषय में जानकारी की विडम्बना व्यर्थ है, तो निश्चय ही बहुतों का धैर्य टूट जायगा। फिर बौद्ध आचार्यों के विषय में तो कहना ही क्या, जिनके सूक्ष्म प्रतिवादों की कोई उपमा ही नहीं है।

न्याय दर्शन इतना प्रभावशाली दर्शन है कि हम चाहे अन्य किसी भारतीय दर्शन को बौद्ध रंग से उपरक्त कर सकें, किन्तु यह दर्शन तो एक क्षण भी अपने मस्तक को नीचा करना नहीं चाहता ताकि एक छोटा सा टीका भी बौद्ध लक्षण का हम इसके मस्तक पर लगा सकें। चाहे इसके सिद्धान्तों में भले ही वेदान्त की-सी आध्यात्मिकता न हो, सांख्य की-सी दार्शनिक गम्भीरता न हो, और भले ही अनेक स्थानों में अविवाद रूप से बौद्धों या अन्य विरोधियों के द्वारा इसे निगृहीत हो जाना पड़ा हो, किन्तु पराजय किसे कहते हैं, यह तो इस तत्त्व-चिन्ता ने कभी जाना ही नहीं। छल, वितण्डा, जल्प और निग्रहस्थान ऐसे ढंग भी तो निकाल रक्खे हैं जिनसे पराजय कभी हाथ लग ही नहीं सकती ! परन्तु इसीलिये इस दर्शन की सत्य-निष्ठा भी पूरी हद तक नहीं जा सकी है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार भगवान् बुद्ध ने एक तार्किक से संलाप करने से पूर्व उसे सत्य निष्ठा रखने के लिये आगाह कर दिया था।

वस्तुतः न्याय-दर्शन अपने ही बनाये तर्क-जालों में मकड़ी की तरह फँस जाता है। न्याय को जब तक बाहरी सत्यनिष्ठा और आध्यात्मिक दृष्टि का का आश्रय न होगा वह अपना उद्देश्य पूरा न कर सकेगा। वह 'कुतर्क' बन जायगा, जिसकी ओर आचार्य शंकर ने भी कई बार अपने भाष्यों में संकेत किया है। 'नैयायिक' नाम लेते ही आज भी एक तीव्र तर्कशील प्रतिवादि-भयंकर व्यक्तित्व हमारी दृष्टि के सामने आ जाता है। वही राज-भोजन से पुष्ट पहलवान की उपमा ![2] अब जिन-जिन विषयों को लेकर नैयायिकों और बौद्ध आचार्यों में वाद-परम्पराएँ चलीं, उनका कुछ निदर्शन हमें करना चाहिए।

सबसे पहले हम प्रमाण मीमांसा पर आते हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, प्रमाण-मीमांसा ही न्याय-शास्त्र का केन्द्रीय विषय है। प्रमाण के अधीन

(१) देखिए पीछे पृष्ठ २३६

(२) देखिए पीछे पृष्ठ २३६

प्रमाण मीमांसा

ही प्रमेय की सिद्धि है। 'मानाधीना मेयसिद्धिः'। अतः किसी भी 'मेय' या सिद्धान्त की सिद्धि के लिए सब से पहले तो प्रमाण विषयक परीक्षा ही आवश्यक होती है। न्याय दर्शन ने प्रमाणादि सोलह पदार्थों के 'तत्व-ज्ञान' से निःश्रेयस की सिद्धि सम्भव मानी है और बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति ने भी कहा है 'सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः'। जब यह 'तत्व-ज्ञान' या 'सम्यक् ज्ञान' इतनी आवश्यक वस्तु है, तो फिर हम पहले यही क्यों न देखें कि 'सम्यक्' ज्ञान या 'तत्वज्ञान' है क्या? उसका स्वरूप क्या है? और उसके उपकरण कौन-से हैं? कैसे वह उत्पन्न होता है, और कैसे उसकी परीक्षा होती है? इन प्रश्नों के उठाए जाने के परिणाम स्वरूप ही प्रमाण विज्ञान का आविर्भाव होता है। प्रमाण अर्थात् प्रमा का करण। किन्तु यह प्रमा क्या है और करण क्या है, इस पर भी विचार का अन्त नहीं। किन्तु इनमें अभी न पड़कर हमें सिर्फ यही जानना चाहिए कि न्याय ने केवल चार प्रमाण माने हैं, यथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द[1]। 'इन्द्रिय और अर्थ या विषय के संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को, जिसमें सन्देह न हो और जो व्यभिचारी भी न हो, प्रत्यक्ष कहते हैं'[2]। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, निर्विकल्पक और सविकल्पक। प्रत्यक्ष ज्ञान के 'करण' को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। करण अर्थात् असाधारण कारण। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और त्वक् एवं मन[3] इन्द्रियां प्रत्यक्ष ज्ञान की हेतु हैं। इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। जब आतमा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ या विषय से संयोग होता है, तब प्रत्यक्ष अनुभव होता है। प्रथम जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं तो उसके रूप आकार आदि की ही प्रतीति हमें होती है। केवल चक्षु आदि इन्द्रियों से, बुद्धि के द्वारा क्रिया प्रारम्भ करने से पहले, जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'निर्विकल्पक' (अव्यपदेश्य) प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रत्यक्ष में पदार्थ के जाति, गुण आदि का अलग-अलग अनुभव नहीं होता। किन्तु उनके केवल 'स्वरूपमात्र' का ही ज्ञान होता है। सविकल्पक ज्ञान में पदार्थ किस श्रेणी या नाम का

---

(१) न्यायसूत्र १।१।३

(२) न्यायसूत्र १।१।४

(३) वात्स्यायन 'मन' को एक इन्द्रिय ही मानते हैं, देखिए न्यायभाष्य १।१।१६

है, इसका भी प्रत्यक्ष होता है। इसी को 'व्यवसायात्मिक' भी कहा है[1]। नैयायिकों के इस दृष्टिकोण पर बौद्ध आचार्यों के उनसे बहु-दूर-गामी विभेद शुरू हो जाते हैं। बौद्ध आचार्य कहते हैं कि सविकल्प ज्ञान 'कल्पनापोढ' होता है, और केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही 'कल्पना' से विमुक्त होता है। 'कल्पना' अर्थात् विचार की वह प्रवृत्ति जिससे किसी पदार्थ को नाम दिया जाता है[2]। यह एक प्रतीति है जो अभिलाप या शब्दों के साथ संयोग की योग्यता रखती है 'अभिलाप संसर्ग योग्य प्रतिभास प्रतीति : कल्पना'। जयन्त ने अपनी 'न्यायमञ्जरी' में इसी बात को यह कह कर अच्छी तरह समझाया है कि किसी पदार्थ को उसके जाति, गुण, क्रिया, नाम और द्रव्य से संयुक्त करना ही 'कल्पना' है। प्रत्येक सविकल्पक ज्ञान, जिसमें पदार्थ के जाति, गुण, नाम आदि का भी अनुभव होता ही है, बौद्ध आचार्यों के मत में केवल 'कल्पना' का खेल है। इसमें उनके विज्ञानवाद की स्पष्ट झलक है। बौद्ध आचार्य कहते हैं कि व्यक्ति और जाति में, विशेष और सामान्य में और द्रव्य और गुण में कोई विभेद नहीं है और जो कुछ भी भेद हम करते हैं वह केवल बुद्धि कल्पित होता है, वास्तविक नहीं। 'गाय' से व्यतिरिक्त उसकी 'जाति' को हम नहीं देखते, और न है उससे व्यतिरिक्त उसके गुणों की ही सत्ता। 'गमन' 'गन्ता' से विभिन्न स्तु नहीं है। जब हम किसी वस्तु को 'नाम' दे देते हैं तो उसी समय जो ववस्तुएँ समान नहीं उनमें भी समानता का आरोप कर देते हैं। जब हम कहते हैं कि 'यह चैत्र है' तो 'यह' तो पदार्थ की ओर निर्देश करता है और 'चैत्र' एक नाम है। हम गलती से दोनों को मिला देते हैं। ये बातें बौद्ध आचार्यों के मतानुसार केवल 'कल्पनापोढ़' हैं। वास्तविक प्रत्यक्षज्ञान तो बौद्ध आचार्यों के मतानुसार निर्विकल्पक या अव्यपदेश्य ही है, क्योंकि उसमें द्रव्य, गुण, कर्म,

---

(१) यह प्रत्यक्ष का द्विविध विभाग गौतम कृत नहीं, वे तो सभी प्रत्यक्ष ज्ञान को सविकल्पक मानने के ही पक्षपाती हैं। वात्स्यायन और उद्योतकर भी इस विभाग का निरूपण नहीं करते। वाचस्पति मिश्र ने इसके उद्भावक अपने गुरु त्रिलोचन को बताया है। उत्तरकालीन विचारकों, यथा केशवमिश्र, अन्नंभट्ट आदि ने इस विभाग को स्वीकार किया है। देखिए न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १।१।४ एवं डा० झा के इस विषय में विचार न्यायसूत्र-अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ २०

(२) यह मत धर्मकीर्ति का है।

नाम आदि की योजना नहीं रहती किन्तु केवल 'स्वलक्षण' पदार्थ का ही ज्ञान होता है, केवल उसके स्वरूप मात्र का ही आनुभव होता है, और पदार्थ के सजातीय, विजातीय की कोई भावना वहां नहीं रहती। 'सजातीयविजातीय परावृत्तम् स्वलक्षणम्'। जैसे ही हम किसी पदार्थ के नाम, गुण आदि का ज्ञान करने लगते हैं, वैसे ही, धर्मकीर्ति के अनुसार, हम मानसिक कल्पना में प्रवृत्त होने लगते हैं। जिस पदार्थ का हम प्रत्यक्ष करते हैं, वह तो 'स्वलक्षण' ही होता है 'सामान्य लक्षण' तो केवल बुद्धि के द्वारा उत्पादित है, वह विकल्पमात्र और अलीक है 'विकल्पाकारमात्रं सामान्यम् अलीकं वा'। दिङ्नाग के अनुसार सभी द्रव्य, गुण और कर्म विषयक ज्ञान मिथ्या है। सभी बाह्य पदार्थ क्षणिक हैं, फिर उनका ज्ञान कैसे हो सकता है ? 'क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितुम् अशक्यत्वात्'। भूत और भविष्यत् के जाले में बुनकर कल्पना ही हमें क्षणिक पदार्थों में स्थिरता की बुद्धि कराती है। वास्तविक परमार्थ वस्तु तो केवल 'विज्ञान' है, और सभी ज्ञान केवल मानसिक है। इस प्रकार बौद्ध नैयायिक विज्ञानवाद का आश्रय लेकर सविकल्पक प्रत्यक्ष को तो मानते ही नहीं, किसी स्थिर प्रमेय वस्तु की सत्यता का भी निर्णय नहीं कर पाते। दिङ्नाग तो इस विषय में बड़े ही उग्र हैं, यद्यति धर्मकीर्ति अपनी सौत्रान्तिक प्रवणता के कारण बाह्य पदार्थों की प्रमेयता को अनुमान का विषय मान भी लेते हैं किन्तु उनकी क्षणिकता के कारण उनके ज्ञान को तो वे भी सम्भव नहीं मानते। नैयायिकों ने बौद्धों के इस दृष्टिकोण का तीव्र खण्डन किया है। उद्योतकर का कथन है कि बिना नाम और गुण आदि के सम्मिश्रण के प्रत्यक्ष ज्ञान ही एक असम्भवता है[1]। बौद्धों का यह सिद्धान्त कि सभी 'सामान्य' केवल विकल्पमात्र और अलीक हैं, नैयायिकों के द्वारा यह कह कर खण्डन का विषय बनाया गया है कि 'विशेष' में ही तो 'सामान्य' समवाय सम्बन्ध से अन्तर्निहित रहता है। यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अनुमान से जाना जा सकता है। इस प्रकार बौद्ध नैयायिकों और गौतमीय परम्परा के नैयायिकों में प्रत्यक्ष प्रमाण को लेकर भारी वादपरम्परा चली। बौद्धों के अनुसार सब कुछ पृथक् ही पृथक् है, केवल किसी वस्तु के विषय में हम 'यह' कह सकते हैं, उसके नाम, गुण आदि की योजना

---

(१) न्यायवार्तिक १।१।४

करना हमारी अपनी कल्पना का काम होगा। किन्तु नैयायिकों के अनुसार पदार्थ अपने नाम, गुण आदि के साथ ही विभासित होता है, विशेषण-विशेष्य भाव सदा रहता है और सामान्य की भी स्थिति है क्योंकि जो कुछ सत् है, वह क्षणिक नहीं है किन्तु उसमें एक में अनेकता की और अनेक में एकता की सतत अनुभूति होती है। इस विषय को लेकर नैयायिकों ने वास्तव में बौद्ध आचार्यों की बड़ी भूलों को सुधारा है, उसी प्रकार जैसे कि बौद्धों के बहुत से मतों से उन्होंने स्वयं लाभ उठाया है। अब हम प्रत्यक्ष प्रमाण के एक दूसरे दृष्टिकोण पर आते हैं। जैसा कि हमने पहले कहा, प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए नैयायिकों के अनुसार आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से संनिकर्ष होना ज़रूरी है। इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है किन्तु यदि मन कहीं दूसरी जगह हो तब देखते और सुनते हुए भी उनका प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए उपर्युक्त त्रिविध संनिकर्ष अत्यन्त आवश्यक है। बौद्ध नैयायिकों का कहना है कि चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियां अपने विषयों के प्रत्यक्ष संनिकर्ष में नहीं आतीं, किन्तु दूर से ही वे उनकी अनुभूति करती हैं। नैयायिक इसका प्रत्युत्तर इस प्रकार देते हैं कि चक्षुरादि इन्द्रियों से तात्पर्य स्थूल इन्द्रियों से नहीं किन्तु उनके 'अधिष्ठान' से है जो 'तेज' रूप होता है जिससे ही प्रकाश जा कर पदार्थ के सम्पर्क में आता है और इसीलिए हमें दिशा, दूरी और स्थिति का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। बौद्ध आचार्यों ने नैयायिकों के इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष को इन आपत्तियों का विषय बनाया है (१) जिस इन्द्रिय से हम देखते हैं वह तो आंख की पुतली है, फिर यह पुतली किस प्रकार एक पदार्थ के साथ संनिकर्ष में आ सकती है, जो दूर स्थित है (२) चक्षु इन्द्रिय तो पर्वत जैसे बड़े पदार्थ का भी साक्षात् करती है। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष आवश्यक हो तो एक छोटी सी आंख की पुतली के लिए इतने बड़े पर्वत के सम्पर्क में आना किस प्रकार सम्भव है? (३) चक्षु इन्द्रिय को चन्द्रमा का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्पादन करने एवं एक पेड़ की चोटी को देखने में समान समय लगता है, यदि इन्द्रिय का अर्थ से संनिकर्ष में आना आवश्यक ही हो तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है? (४) यदि इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष ही प्रत्यक्ष ज्ञान में होता है, तो हम शीशे के उस तरफ की चीज़ को भी क्यों देखते? दिशा और दूरी का देखना भी तो प्रत्यक्ष न होकर केवल अनुमान से ही ज्ञेय है।

नैयायिकों ने बौद्धों के इन आक्षेपों का उत्तर इस प्रकार दिया है (१) जो कुछ भी एक पदार्थ को दिखाता अथवा उसका ज्ञान कराता है उसे उसके सम्पर्क में में आना ही चाहिए, अतः इन्द्रियां 'प्राप्यकारी' अर्थात् अपने विषयों के सम्पर्क में आने वाली होनी ही चाहिएं। दीपक उसी वस्तु को उद्भासित करता है जिसके सम्पर्क में वह आता है। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय जो 'तेज' स्वरूप होती है, आंख की पुतली से पदार्थ की ओर सम्पर्क प्राप्त करने के लिए जाती है (२) आंख की पुतली से निकला हुआ प्रकाश फैल कर पदार्थ को आच्छादित कर लेता है[1] (३) दूर और समीप के पदार्थों के देखने में समय की भी अधिकता और अल्पता होती है, यद्यपि इसका अनुभव हमें नहीं होता (४) शीशा आदि पदार्थ ऐसे होते हैं जिनके बीच में होकर देखा जा सकता है, अतः वे चक्षु के प्रकाश को नहीं रोकते। 'न्याय कन्दलीकार' का कथन है कि यदि विना इन्द्रियार्थ संनिकर्ष हुए हम पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर पाते तब तो दीवाल के उस तरफ की वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं होता। उद्योतकर का कथन है कि इन्द्रियार्थ संनिकर्ष से तात्पर्य सम्पर्क से नहीं किन्तु विषय और इन्द्रियों के केवल एक निश्चित सम्बन्ध में स्थित होने से है। इसी प्रसंग मेंएक अन्य महत्वपूर्ण बात हमें अवश्य देख लेनी चाहिए। इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष नैयायिकों ने छः प्रकार का बताया है, यथा संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त-समवेतसमवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषणता। यहां हमें अन्तिम से ही प्रयोजन है। नैयायिकों का कहना है कि जब हम घड़े का अभाव देखते हैं तब हम उस फ़र्श का प्रत्यक्ष करते हैं जिसमें घड़े के अभाव की विशेषणता संनिविष्ट है, अर्थात् घड़े का अभाव खाली फर्श की विशेषता दिखाता है और इस प्रकार विशिष्ट फ़र्श का हम प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। भूतल तो विशेष्य है जो घटाभाव से विशिष्ट है, अतः विशेषण के सम्बन्ध से हमें विशिष्ट का प्रत्यक्ष होता है। यहां बौद्ध आचार्यों का यह कहना है कि यदि इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष होने पर ही हम प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं तो फिर वस्तुओं के अभाव के साथ इन्द्रियों का संनिकर्ष कैसे हो सकता है ? यही समस्या स्वभावतः हमें बौद्ध आचार्यों और नैयायिकों के अभाव सम्बन्धी सिद्धान्त की ओर ले आती है जो भारतीय दर्शन

(१) मिलाइए 'तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्' योगसूत्र ४।१७

में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। अभाव का नैयायिकों के अनुसार स्वरूप क्या है और बौद्ध आचार्य उससे क्या समझते हैं, यह विषय बहुत विस्तृत और गूढ़ है, किन्तु हमें यहां केवल निर्देश मात्र करना है, क्योंकि यदि बौद्ध आचार्यों और नैयायिकों की परस्पर वादविवाद सम्बन्धी समस्याओं की एक सूची भी बनाई ज य तो वह भी एक पुस्तक के आकार में होगी। कोई ऐसा विषय नहीं, उस सूक्ष्म विषय का प्रभेद नहीं जिसमें नैयायिकों और बौद्धों में परस्पर विभेद नहीं हो, और फिर दोनों में ही सूक्ष्म विश्लेषण, मनोवैज्ञानिक समस्याओं के साथ उनको मिलाकर उनके कठिन प्रज्ञापन और स्वयं अपने-अपने आचार्यों के मतों में भी कहीं-कहीं अनेक मतों की उपलब्धि, आदि बातें ऐसी ह जो एक सामान्य और स्पष्ट विवेचन को असम्भव बना देती हैं। शुक्ति में रजत क्यों दिखलाई पड़ता है ? शून्यवादी कहते हैं कि असत् से सत् की ख्याति होती है, अतः वे असत्ख्यातिवादी हैं। विज्ञानवादी, जिनके लिए विज्ञान या विचारों को छोड़ और किसी वाह्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं 'आत्मख्याति' वादी हैं। नैयायिक 'अन्यथा ख्याति' वादी हैं। उनके अनुसार गुण और गुणी में समवाय सम्बन्ध रहता है। दोनों को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता। इसलिए पहले देखी हुई रजत के प्रत्यक्ष के इस समय मन में उदय हो जाने के कारण शुक्ति के ऊपर उन गुणों का आरोप कर दिया जाता है। अन्यथा ख्याति की आलोचना करते हुए बौद्ध विचारक कहते हैं कि इस प्रकार यदि 'अलौकिक' प्रत्यक्ष मान लिया जायगा तब तो प्रत्येक मनुष्य ही सर्वज्ञ हो जायगा और उसे हर समय हर पदार्थ का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा, जैसा कि वास्तव में नहीं है। अब हम प्रत्यक्ष को छोड़ अनुमान प्रमाण सम्बन्धी दोनों के विचारों पर आते हैं। अनुमान प्रमाण का बड़ा पेचीदा सवाल है। अकेले नैयायिकों के द्वारा ही निर्दिष्ट उसके स्वरूप को समझना अत्यन्त कठिन बात है, फिर बौद्ध विचारकों के सम्बन्ध में उसका तुलनात्मक अध्ययन करना तो निश्चय ही मस्तिष्क को एक बड़ा भार देना है। किन्तु हमें तो केवल मोटी ही बातें देखनी हैं और वह भी जहां दोनों में विभेद है वहीं। अनुमति का कारण अनुमान प्रमाण है। यह अनुमान प्रमाण दो प्रकार का होता है, स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थानुमान अपने लिए होता है और परार्थानुमान दूसरों को समझाने के लिए। परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्य की अपेक्षा होती है, यथा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। यह न्याय का पञ्चावयव वाक्य

है जिसका निरूपण करना हमारा उद्देश्य नहीं। हमारा यहां इतना ही तात्पर्य है कि नागार्जुन ने अपने 'उपाय कौशल्य सूत्र' में केवल तीन ही अवयव माने हैं और अन्तिम दो की आवश्यकता नहीं समझी है। दिङ्नाग ने भी अपने 'न्याय-प्रवेश' में ऐसा ही किया है और धर्मकीर्ति ने तृतीय अवयव की भी आवश्यकता नहीं समझी है क्योंकि उनके अनुसार इतना ही कहना पर्याप्त है कि पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि उसमें धूंआ है। अतः वे प्रतिज्ञा और हेतु से ही सब काम निकाल लेना चाहते हैं। वात्स्यायन और उद्योतकर इस प्रकार से अवयवों की संख्या घटाने के विरोधी हैं[1], यह तो इसी से स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि बौद्धों ने उनकी संख्या घटाने का प्रयत्न किया है। किसी भी बात में ये मनीषी साथ-साथ मिलकर चलना नहीं चाहते। जब कि पञ्चावयव वाक्यों की संख्या को घटाने के वे पक्षपाती हैं, उदाहरण सम्बन्धी हेत्वाभासों की संख्या दिङ्नाग दस तक बढ़ाना चाहेंगे। इसी सम्बन्ध में हमें यह भी देख लेना चाहिए कि दिङ्नाग ने अनुमित वस्तु के ज्ञान के स्वरूप में प्रश्न उठाया है। नैयायिकों के अनुसार हम 'अग्नि' का अनुमान करते हैं। किन्तु दिङ्नाग के मतानुसार हम धूंएँ से अग्नि का निगमन नहीं करते, क्योंकि यह नवीन ज्ञान का अंग नहीं है ('तृतीय ज्ञान' रूप 'लिङ्ग परामर्श' को ही अनुमान कहते हैं) क्योंकि हम पहले से ही जानते हैं कि धूंआं अग्नि से सम्बन्धित है। फिर हम अग्नि और पर्वत के सम्बन्ध को भी अनुमान का विषय बनाते हुए नहीं कहे जा सकते क्योंकि इस सम्बन्ध का अर्थ ही है कि वहां दो वस्तुएँ हों, किन्तु वास्तव में तो वहां केवल पर्वत ही होता है और अग्नि का तो प्रत्यक्ष ही नहीं होता। अतः वास्तव में अनुमित वस्तु न तो पर्वत होता है और न अग्नि, किन्तु केवल 'अग्निवाला पर्वत' और यह केवल एक विचार है। इसके विपरीत नैयायिक दृष्टिकोण 'व्याप्ति' के सम्बन्ध में यह है कि सामान्य भी वास्तव में वस्तुभूत है (सामान्यस्य वस्तुभूतत्वात्) और उसके सम्बन्ध भी यथार्थ हैं (स्वाभाविकस्तु सम्बन्धो व्याप्तिः)। संसार में सभी वस्तुएँ प्रमेय हैं अर्थात् प्रमाणों से जानने योग्य हैं और अभिधेय हैं अर्थात् वर्णन करने योग्य हैं। किन्तु इसके विपरीत दिङ्नाग का मत है कि ज्ञान प्रमेयत्व के वास्तविक सम्बन्धों को नहीं दिखाता। वाचस्पति मिश्र दिङ्नाग के इस

---

(१) द्रष्टव्य न्याय भाष्य १।१।३९; न्यायवार्तिक १।१।३९

सम्बन्धी मतका उद्धरण करते हुए कहते हैं 'सर्वोऽयम् अनुमानानुमेयभावो बुद्ध्यारूढ़ेन धर्मधर्मिभावेन न बहिःसत्वम् अपेक्षते[1]' अर्थात् सभी यह अनुमान-अनुमेय-भाव बुद्धि से ही आरूढ़ है और बहिः सत्व की अपेक्षा नहीं रखता। इस प्रकार हम देखते हैं कि फिर-फिर कर बौद्ध आचार्य अपने विज्ञानवाद पर आ जाते हैं और न्याय दर्शन, जो कि सभी वस्तुओं को प्रमेय और अभिधेय मानता है, बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन उपस्थित करता है। बौद्धों ने भी नैयायिकों के सामान्य सम्बन्धी सिद्धान्त के खण्डन करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी है। अब हम अनुमान प्रमाण से उपमान पर आते हैं। चूंकि उपमान प्रमाण में प्रत्यक्ष के सादृश्य का एक बड़ा भाग होता है, इसलिए दिङ्नाग इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। नैयायिक तो इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते ही हैं, ऐसा हम पहले कह चुके हैं। शब्द प्रमाण के विषय में हमें यहां इतना ही जानना चाहिए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर नैयायिकों ने एक महान् विचार परम्परा प्रवर्तित कर दी है और बौद्ध विचारकों का इसमें यही दान है कि उनके अनुसार शब्द वस्तु-भूत पदार्थों का निदर्शन नहीं करते बल्कि उनके अभाव का निदर्शन करते हैं ताकि वास्तविक अनुमित वस्तु का ज्ञान हो जाय। इस प्रकार उनके अनुसार जब हम 'गाय' कहते हैं तो यह केवल उन वस्तुओं का अभाव (अपोह) ही दिखाता है जो गायें नहीं हैं और इस तरह हम यह निगमन करते हैं कि शब्द 'गाय' वस्तु 'गाय' की ओर ही संकेत करता है।[2] प्रत्येक वस्तु में बौद्धों के कहने का एक विपरीत ढंग ही है! शब्द प्रमाण 'आप्तोपदेश' के रूप में परिभाषित किया गया है[3] और न्यायभाष्य-कार ने यह अत्यन्त उदारतापूर्वक कहा है कि 'आप्त' जन केवल एक ऋषि और आर्य ही नहीं बल्कि म्लेच्छ भी हो सकता है।[4] नैयायिक वेदों को मीमांसकों के समान शाश्वत और नित्य नहीं मानते, वे तो 'इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूषि' ऐसे वाक्यों पर ही अधिक जोर देते हैं, यद्यपि वात्स्यायन

(१) न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका १।१।५ में उद्धृत।

(२) विशेष विस्तार के लिए देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०८

(३) न्यायसूत्र १।१।७ मिलाइये वैशेषिक सूत्र १०।२।९

(४) न्यायभाष्य १।१।७

ने इन दोनों में समन्वय विधान करने की भी चेष्टा की है[१]। किन्तु इस सबसे बौद्धों को कोई प्रयोजन नहीं। वेद या किसी भी अन्य ग्रन्थ में स्वतः प्रामाण्य बुद्धि करना धर्मकीर्ति के लिए तो मनुष्यों की बुद्धि की जड़ता का एक लक्षण है ही, दिङ्नाग भी शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानने को प्रस्तुत नहीं। वे तो प्रत्यक्ष में या अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव सम्भव मानते हैं। बौद्धों ने असत्यता, परस्पर विरुद्धत्व और पुनरुक्ति के दोष वेदों पर लगाए हैं, जिनका उत्तर विस्तारपूर्वक न्यायभाष्यकार ने दिया है[२]। यह कहना ही होगा कि दिङ्नाग और अन्य बौद्ध आचार्यों ने भी वृद्ध-वचनों को वेद के प्रमाण के समान ही स्वीकार किया है[३]। इस प्रकार बौद्ध और नैयायिकों की प्रमाण-मीमांसा के क्षेत्र में हम संक्षिप्त रूप से देखते हैं कि नैयायिकों का एक प्रधान व्यवसाय उस प्रवृत्ति का खण्डन करना है जो ज्ञान के परस्पर विरुद्धत्व के स्वरूप पर जोर देती है और जिसके अनुसार विचार की सम्भवता ही प्रमाणित नहीं की जा सकती। हम जानते हैं कि इस प्रकार का मत माध्यमिकों के नाम से अधिक सम्बद्ध है किन्तु चूंकि, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, न्याय सूत्र और न्याय भाष्य में भी सर्ववैनाशिक मत का खण्डन उपलब्ध होता है, अतः इससे हम या तो यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि न्याय के ये पूर्वतम ग्रन्थ नागार्जुन के मतों का निराकरण न कर केवल एक परम्परा से चली आई हुई शून्यवाद की परम्परा का खण्डन करते हैं (जैसा कि महामति डा० राधाकृष्णन् का मत है[४] और जिसकी ओर महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने भी प्रवणता दिखाई है[५] या फिर हम यही कह सकते हैं कि ये दोनों ग्रन्थ न केवल बौद्ध आचार्य नागार्जुन के बाद की ही रचनाएं हैं बल्कि सम्भवतः विज्ञानवादी आचार्य असङ्ग और वसुबन्धु के बाद की भी (वाचस्पति मिश्र जैसे न्याय के 'तात्पर्य' जानने वाले के साक्ष्य पर उनमें बौद्ध विज्ञानवाद

---

(१) न्यायभाष्य २।१।६८

(२) देखिये न्यायभाष्य २।१।५७-६८

(३) देखिये आगे पूर्वमीमांसा दर्शन का विवेचन ।

(४) देखिए उनकी इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३६

(५) देखिए उनकी भूमिका डा० गंगानाथ झा के न्यायसूत्र-सभाष्य-अंग्रेजी अनुवाद में ।

का खण्डन उपलब्ध होने से !) । किन्तु यदि हम पहले मत को स्वीकार करते हैं (जैसा कि आधुनिक गवेषणा के प्रकाश में अधिकतर विद्वान् करना चाहेंगे) तो फिर शून्यवादियों या विज्ञानवादियों के मतों का, जिनका निराकरण न्यायसूत्र और न्यायभाष्य में मिलता है, हम नागार्जुन, असङ्ग और वसुबन्धु पर आरोप किस प्रकार कर सकते हैं? हमें एक दिशा में तो निष्पक्ष दृष्टिकोण धारण करना ही पड़ेगा। हम दोनों ही तरफ से बौद्ध आचार्यों पर आक्रमण नहीं कर सकते। राधाकृष्णन्, दासगुप्त, पं० गोपीनाथ कविराज और स्वर्गीय डाक्टर गंगानाथ झा, ये सभी विद्वान् न्यायसूत्र और न्यायभाष्य को अपनी वास्तविक प्राचीनता देने के पक्षपाती हैं, जो ठीक ही है। किन्तु साथ ही ये सभी विद्वान् फिर अपनी पूर्व प्रतिज्ञाओं (नैयायिक प्रयोग) को भूल कर यह कैसे मान बैठने लगते हैं कि अमुक प्रकार से न्यायसूत्र और न्यायभाष्य नागार्जुन, असङ्ग और वसुबन्धु के सिद्धान्तों का अथवा सामान्य रूप से बौद्ध दर्शन का खण्डन करते हैं। यह तो इन बौद्ध आचार्यों के प्रति एक बड़ा अन्याय है। साथ ही समग्र बौद्ध विचार के प्रति भी। बौद्ध विचारकों के मतों की यदि हमें न्यायपूर्वक समीक्षा करनी है या यदि न्याय परम्परा अथवा अन्य आस्तिक दर्शनों की परम्पराओं के उद्भावकों या आचार्यों को करनी थी तो इसका केवल एकमात्र न्याय्य उपाय यही था और है कि उनके विचारों को उनके मौलिक रूप में प्रस्तुत कर समालोचना की जाय। जितने आस्तिक परम्परा के दर्शनकार या विचारक बौद्ध युग के बाद हुए उन्होंने प्रायः ऐसा ही किया है और यह भारतीय दर्शन की सत्यनिष्ठा बात है कि यहां के विचारकों ने किसी मत के विरुद्ध अपने मत को स्थापित करते हुए पहले पूर्वपक्ष के रूप में उस मत को उसके मौलिक रूप में और उसी के दृष्टिकोण के अनुसार उपस्थित कर दिया है। जो 'श्रीभाष्य' को पढ़ेंगे वे इस कथन की सत्यता प्रमाणित करेंगे। इसी प्रकार शङ्कर और वाचस्पति ने जिस स्पष्टता के साथ बौद्ध सम्प्रदायों के मतों का निदर्शन किया है, वे कितने निष्पक्ष और स्पष्ट हैं, यह भी हम आगे यथास्थान दिखाएंगे (वेदान्त दर्शन के विवेचन में)। यहां हमें यह कहना अपेक्षित है कि जो दर्शनकार स्वयं बौद्ध आचार्यों से पहले आए (जैसा कि न्यायसूत्रकार के विषय में मानते हैं) तो उनके द्वारा खण्डित सिद्धान्तों की एकात्मता हम बौद्ध आचार्यों के मतों के साथ कैसे स्थापित कर सकते हैं? यह तो उनके

प्रति निन्दा का प्रचार ही होगा जो सर्वथा मिथ्या और निर्मूल होगा। न्यायसूत्रों में सर्ववैनाशिकों का खण्डन देख कर हम अधिक से-अधिक यही तो कह सकते हैं कि सर्ववैनाशिक या अभाववादी मत का खण्डन न्यायसूत्रों में किया गया है, हम अनधिकृत रूप से न्यायसूत्रों में खण्डित अभाववाद का आरोप नागार्जुन पर तो नहीं कर सकते।[1] और निश्चय ही ऐसा ही हुआ है। यही कारण है कि सत्य होते हुए भी नागार्जुन के मत को उस स्वरूप में मानने के लिए, जिसका निदर्शन हम चतुर्थ प्रकरण में कर आए हैं, भारतीय मस्तिष्क तैयार नहीं होता। इस विषय में अधिक कहना यहां अप्रासङ्गिक होगा। हम कुछ अपने मूल विषय से दूर चले गए, फिर उसी पर लौटते हैं। हां, तो न्यायभाष्यकार कहते हैं (और यह तर्क उनका बाद के विचारकों ने भी कई बार दुहराया है——सबने ही बौद्धों पर उसका आरोप कर) कि यदि माध्यमिक इस बात को निश्चय ही मानता है कि कुछ नहीं सत्य है तो फिर कम-से-कम इस सिद्धान्त की सत्यता को तो वह निश्चित मानता ही है तो फिर क्या इतना ही स्वीकार करने से उसका सर्ववैनाशिक स्वरूप नष्ट नहीं हो जाता और क्या वह स्वयं अपने ही विरुद्ध नहीं चला जाता। फिर माध्यमिकों का यह कहना भी (वात्स्यायन के अनुसार) कि वस्तुओं के स्वभाव का ज्ञान नहीं हो सकता गलत है, क्योंकि वस्तुओं के विश्लेषण को तो विचार के द्वारा वे स्वयं (माध्यमिक) सम्भव मानते हैं। इस प्रकार की युक्तियों से न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक में माध्यमिक मत का खण्डन किया गया है।[2] विज्ञानवाद के विरोध में वात्स्यायन का मुख्य तर्क यह है कि यदि बाह्य पदार्थ वस्तुसत् न होते तो स्वप्न ही

(१) हां, जब तक कि हम डाक्टर विद्याभूषण के ही पदचिन्हों का अनुसरण कर न्यायसूत्र ४।१।३९; ४।१।४८; २।१।१-१९; ४।२।३२; २।१।३७; ४।२।३६; ३।२।११ (जिनमें कि माध्यमिक सूत्र और लंकावतार सूत्र के सिद्धान्तों की ओर संकेत है) प्रक्षिप्त अंश करार न देदें ! यह सभी कठिनाइयों से बचने का एक बड़ा अच्छा उपाय है ! इनके प्रक्षिप्त होने में क्या प्रमाण है, सिवाय इसके कि हम पहले से ही मान लें कि न्यायसूत्र नागार्जुन से पूर्व के हैं, जो तथ्य स्वयं असिद्ध है (गलत हम नहीं कहते !) । जो कुछ भी हो, देखिए डा० विद्याभूषण की 'हिस्ट्री आव इण्डियन लॉजिक, भूमिका, पृष्ठ १०

(२) देखिए न्याय भाष्य ४।२।२७ पर न्याय-वार्तिक

सम्भव नहीं हो सकते थे। स्वप्नों की विभिन्नता कारणों की विभिन्नता से ही हो सकती है[1]। इसी प्रकार यदि यह जगत् सत्य न होता तो सत्य और असत्य का ज्ञान ही न होता।[2] प्रमाण का अर्थ ही 'प्रमा' करने वाला ज्ञान है। 'प्रमा' तो यथार्थ ज्ञान ही होता है।[3] जब वस्तुएँ ही यथार्थ नहीं हैं, तो उनका ज्ञान कहां से यथार्थ होगा? अतः प्रमाण का मानना ही वस्तुओं के यथार्थ रूप को स्वीकार करना है। 'प्रमाणस्य सकल-पदार्थ व्यवस्थापकत्वम्'[4]। इस प्रकार अनेक युक्तियों से विज्ञानवाद और शून्यावाद का खण्डन नैयायिकों के द्वारा अपनी समग्र परम्परा में किया गया है, जिसकी कुछ झलक ही हम ऊपर दे सके हैं। अब हम प्रमाण मीमांसा के क्षेत्र को छोड़कर ईश्वरकर्तृवाद, कारणवाद, क्षणिकवाद, आत्मवाद, नैरात्म्यवाद आदि समस्याओं को लेकर बौद्ध और न्याय दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन पर आते हैं।

ईश्वरकर्तृवाद, कारण-वाद, क्षणिकवाद, आत्मवाद, नैरात्म्यवाद आदि पर बौद्ध और नैयायिक दृष्टि से विचार

न्याय के पूर्वतम स्वरूप के ईश्वरवादी होने में गार्बे और म्यूर जैसे पश्चिमी विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है।[5] सम्भवतः महर्षि गौतम ने इस विषय की ओर अधिक प्रवृत्ति इसीलिए नहीं दिखाई कि उनका मुख्य उद्देश्य प्रमाण-परीक्षण ही था और ईश्वर के प्रश्न में पड़ने पर वे आध्यात्मिक पक्ष में अधिक चले जाते। अतः जिस प्रकार हम पूर्वमीमांसा के 'वृत्तिकार' को ब्रह्म या आत्मा विषयक जिज्ञासा को वेदान्तियों के लिए छोड़ते देखते हैं,[6] उसी प्रकार सम्भवतः ऋषि गौतम ने भी अपनी सीमा को

(१) देखिए न्यायभाष्य ४।२।३३,३४,३७

(२) देखिए न्यायभाष्य ४।२।२६-३७

(३) देखिए न्यायसूत्र ४।२।२९

(४) न्यायसूत्र वृत्ति १।१।१

(५) देखिए गार्बे : फ़िलॉसफी ऑफ़ एन्शियन्ट इण्डिया, पृष्ठ २३; म्यूर : ऑरीजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स, जिल्द तीसरी, पृष्ठ १३३; राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलासफ़ी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५ में उद्धृत

(६) देखिए शांकर भाष्य १।१।५ तथा मिलाइए ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य ३।३।५३; देखिए आगे मीमांसा दर्शन का विवेचन भी।

समझकर इस विषय को स्पर्श नहीं किया था। अन्यथा ब्रह्मसूत्र २।१।११-१३ नैयायिक ढंग से ईश्वर की सिद्धि पर क्यों अपनी असहमति दिखाते ? कुछ भी हो, उत्तरकालीन नैयायिकों ने ईश्वर की सिद्धि में बड़ा उत्साह दिखाया है और उससे भी अधिक उत्साह दिखाया है बौद्धों ने उसके निराकरण करने में। उदयन की 'कुसुमाञ्जलि' तो इस विषय में अत्यन्त प्रसिद्ध हो गई है किन्तु बौद्धों के द्वारा पूरी तरह से खण्डित कर दिए जाने पर उसके तर्कों का भारतीय दर्शन में आज कोई मूल्य रह गया हो, ऐसा हम नहीं कह सकते। 'कुसुमाञ्जलि' की दी हुई ईश्वर की सिद्धि विषयक आठ युक्तियां जो इस श्लोक में दी हुई हैं 'कार्यायोजन धृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः'[१] प्रत्येक भारतीय दर्शन के विद्यार्थी की जानी हुई चीजें हैं और उनका विश्लेषण करना हमारा यहां काम नहीं। बौद्धों के इस विषयक प्रत्याख्यान के निरूपण में भी हमारी कोई दिलचस्पी नहीं, क्योंकि जिस प्रकार तर्क के द्वारा ईश्वर की सिद्धि करना व्यर्थ है उसी प्रकार उसका निराकरण करना भी उससे अधिक व्यर्थ है। हमें न्याय के क्षेत्र में रहते हुए दृश्य और निरुक्त जगत् में ही रहना चाहिये। ससीम उपकरणों को लेकर हम असीम की गहराई नहीं नाप सकते। अतः हम समझते हैं कि इस विषय को लेकर दोनों ही बौद्ध और नैयायिक आचार्य मोह को प्राप्त हुए। वास्तविक दृष्टिकोण तो बुद्ध का ही था जो मौन रहे, या औपनिषद ऋषियों का था जिन्होंने 'उपशान्तोऽयमात्मा' कहा या फिर वेदान्त दर्शन ने ही इस पर ठीक तरह से विचार किया, जिसने तर्क को अप्रधान रखकर अनुभूति को ही प्रधान उपकरण स्वीकार किया। बौद्ध आचार्यों और नैयायिकों का सम्भवतः यह व्यापार नहीं होना चाहिए था, क्योंकि वे विशेषतः तर्कवाद के द्वारा ही सत्य को खोजने का प्रयत्न करते थे जो सम्भवतः वहां प्राप्त नहीं हो सकता। अब हम दोनों दर्शनों के कारणवाद सम्बन्धी विचार पर आते हैं। न्याय-दर्शन में, जैसा कि हमने देखा, कारणवाद की समस्या 'प्रमाण' पर विचार करते ही आजाती है। कारणवाद के सम्बन्ध में न्याय का मत 'असत्कार्य वाद' कहा जाता है जिसका संक्षेप में अभिप्राय यह है कि कार्य की उत्पत्ति से पहले उसका अभाव रहता है, अर्थात् घट जब तक बन कर तैयार नहीं

---

(१) ५।९

हो जाता तब तक उसके पहले वह किसी भी रूप में उपस्थित नहीं रहता और उस घट रूप कार्य के पहले जो नियम रूप से उपस्थित रहता है और अन्यथा सिद्ध नहीं होता (जिसकी व्याख्या में हम यहां नहीं जा सकते) वह कारण होता है। सत् से ही असत् की उत्पत्ति होती है। यही न्याय का असत्कार्यवाद है। इसके विपरीत बौद्ध मानते हैं कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है।[1] बौद्ध विचारक समवायि, असमवायि या निमित्त कारणों के विभेद को नहीं मानते और केवल क्षणिकवाद की चिरन्तन प्रतिष्ठा पर खड़े होकर अपने प्रतिद्वन्द्वियों के सिद्धान्तों को काटते ही हैं। वे कहते हैं कि न तो कार्य को अपनी उत्पत्ति से पहले कहा जा सकता है सत् और न असत् और न सद्-असत्। एक ही साँस में वे नैयायिक (असत्कार्यवादी) सांख्य (सत्कार्य-वादी) और वेदान्ती (विवर्तवादी) इन तीनों को काटते हैं और स्वभावतः उनके द्वारा काटे जाने के लिए तैयार भी रहते हैं, जिससे बचने के लिए उनके पास अभावात्मक तर्क के अमोघ अस्त्र सदा विद्यमान हैं! बौद्ध आचार्य अपने 'क्षणिकवाद' की स्थापना में, जैसा कि हमने पहले कहा, बार-बार आते हैं। न्यायभाष्यकार का कथन है कि जहां क्षणिकवाद का ज्ञान हमें होता है वहां तो उसका मानना ठीक है, किन्तु पाषाण आदि में तो वह नहीं पाया जाता[2] अतः वहां वह नहीं है। अगर हर एक वस्तु असत् ही होती तो वस्तुओं का संघात ही कैसे हो सकता है?[3] वस्तुओं की सापेक्षता भी तो सिद्ध नहीं की जा सकती?[4] सब वस्तुओं की अनित्यता भी तो प्रमाणित नहीं की जा सकती, क्योंकि आकाशादि कुछ वस्तुएँ नित्य भी तो हैं?[5] यह कहना कि केवल वर्तमान ही काल है, भूत और भविष्यत्

---

(१) भारतीय दर्शन में कारणवाद के प्रश्न को लेकर 'सर्वदर्शन संग्रह' कार की यह उक्ति सदा स्मरण रखने योग्य है 'इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सज्जायते इति सौगताः संगिरन्ते। नैयायिकादयस्तु सतोऽसज्जायत इति। वेदान्तिनः सतो विवर्तः, कार्य-जातं न तु वस्तुसदिति। सांख्याः पुनः सतः सज्जायत इति'।

(२) न्याय भाष्य ३।२।११; ३।२।१२-१३

(३) न्याय भाष्य ४।१।३७-४०; ४।२।२६-२७, ३१-३३

(४) द्रष्टव्य न्याय भाष्य ४।१।४०

(५) द्रष्टव्य न्याय भाष्य ४।१।२५-२८

काल नहीं हैं, बिलकुल गलत है, क्योंकि बिना भूत और भविष्यत् को छोड़ वर्तमान काल का अर्थ ही क्या है?[१] अवयवी अवयवों के संग्रह को छोड़ और कुछ नहीं, इस बौद्ध सिद्धान्त का भी निराकरण न्याय भाष्य ने किया है और कारणवाद का निषेध करना तो समग्र अनुभूति का उद्देश्य उच्छेदन करना ही बताया है।[२] अनुमान प्रमाण में 'व्याप्ति' के को लेकर भी नैयायिकों ने क्षणिकवाद की अनुपयुक्तता दिखाई है। इस वाक्य में कि 'शब्द अनित्य है क्योंकि यह उत्पाद्य है, घट के समान' घट दृष्टान्त या उदाहरण है। अब इस घट में 'अनित्यता' और 'उत्पाद्यता' होनी चाहिए। किन्तु यदि घट क्षणिक हो तो उसमें ये दोनों चीजें 'अनित्यता और 'उत्पाद्यता' एक साथ कैसे सम्भव हो सकती हैं?[३] दूसरा दोष नैयायिकों ने बौद्ध क्षणिकवाद में 'अनवस्था' का दिखाया है, जिसके निरूपण में हम यहां प्रवृत्त नहीं हो सकते। अन्य इस विषयक खण्डन नैयायिकों ने प्रायः उसी प्रकार किए हैं जिस प्रकार अन्य भारतीय दर्शनों के विचारकों ने और चूंकि उन पर हम प्रकाश चतुर्थ प्रकरण में डाल आए हैं, अतः ही यहाँ पिष्ट-पेषण करना उचित नहीं समझते। न्याय दर्शन ने आत्मवाद की स्थापना की है, किन्तु उसने आत्मा को उसकी प्रथम भूमिका में ही नापा है, ऐसा हम कह सकते हैं। न्याय के अनुसार आत्मा के गुण, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान हैं और वह प्रमेय वस्तुओं की सूची में ही आता है।[४] न्याय ने विशेषतः अनुमान से ही आत्मा की सिद्धि की है, यद्यपि गौण रूप से श्रुति का भी इसके लिए आह्वान किया है।[५] वैशेषिक दर्शन ने योग में ही उसके दर्शन की सम्भावना मानी है।[६] नैयायिकों के द्वारा प्रतिपादित 'आत्मा' के स्वरूप में जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह है चैतन्य के साथ उसका सम्बन्ध। उनके अनुसार 'मैं' के विचार का विषय ही 'आत्मा' है।[७] इन्द्रियों और शरीर में चैतन्य सम्पादन करने वाला

(१) द्रष्टव्य न्याय भाष्य २।१।३९; २।१।४३; २।१।४०
(२) देखिए न्यायभाष्य ४।१।२२-२४
(३) देखिए न्यायवार्तिक १।१।३७ तथा ३।२।१४
(४) न्यायसूत्र १।१।९
(५) न्यायसूत्र १।१।१०
(६) वैशेषिक सूत्र ९।१।१
(७) न्यायवार्तिक १।१।१

आत्मा ही है। किन्तु चैतन्य तत्व आत्मा का एक गुण ही है जो कि मन के साथ उसके संसर्ग होने के कारण उत्पन्न हो जाता है। अतः चैतन्य तत्व आत्मा से अलग नहीं किया जा सकता, किन्तु आत्मा अवश्यम्भावी रूप से चैतन्य स्वरूप नहीं है[1]। इस प्रकार नैयायिकों का आत्मा कुछ-कुछ जड़वाद के समीप चला जाता है और फिर वापिस लौट आता है। नैयायिक कहते हैं कि आत्मा प्रति-शरीर भिन्न है[2] और नित्य है। एकात्मवाद को साधारणतः न्याय ने स्वीकार नहीं किया है। उसने आत्मा को शरीर से, इन्द्रियों से, मन से और बुद्धि से सभी से व्यतिरिक्त बतलाया है। शरीर से आत्मा का सम्बन्ध जन्म के अवसर पर ही होता है[3], आत्मा इन्द्रियां नहीं, किन्तु वह उनका नियामक है और उनके कार्यों का संश्लेषण करने वाला है[4], मन आत्मा इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि एक तो वह अणु रूप है और फिर आत्मा की चैतन्य प्रवृत्ति का वह स्वयं एक साधन है[5] और यदि बुद्धि को आत्मा मान लें तो योगियों को जो एक ही साथ अनेक वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है, उसकी संगति नहीं लग सकती[6]। अतः आत्मा इन सबसे व्यतिरिक्त है। क्योंकि वही केवल एक विषयी है जबकि अन्य उपर्युक्त सब विषयभूत हैं[7]। एक बात न्यायभाष्यकार ने बड़े मार्के की कही है जिसके प्रकाश में हमें 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन के 'अनात्मवाद' को समझने की कोशिश करनी चाहिए। न्यायभाष्यकार का कहना है कि यदि शरीर से व्यतिरिक्त आत्मतत्व को मानना नहीं है तो नैतिक तत्व की भी कुछ अर्थवत्ता नहीं[8] रहती। हम जानते हैं कि भगवान् बुद्ध ने अद्वितीय नैतिक आदर्शवाद की स्थापना की है और परम तत्व के विषय में उनका मौन है। तो फिर इससे हम क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं? नैतिक तत्व तो उनका प्रत्यक्ष सत्य है जिससे इनकार नहीं किया जा सकता, फिर यदि भगवान्

---

(१) द्रष्टव्य न्याय भाष्य १।१।१०

(२) देखिए न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका १।१।१० एवं न्यायभाष्य ३।१।१४

(३,४,५,६) देखिए क्रमशः न्यायसूत्र ४।१।१०; न्यायभाष्य ३।१।१; न्यायभाष्य ३।२।२९

(७) देखिए न्यायवार्तिक ३।२।१९

(८) द्रष्टव्य, न्यायभाष्य ३।१।४

वात्स्यायन की दिशा को ही लेकर हम विचार करें तो सम्भवतः उस निष्कर्ष से दूर नहीं पहुँच सकते जिसको हम चतुर्थ प्रकरण में प्रकट कर चुके हैं, अर्थात् यह कि बौद्ध नैतिक आदर्शवाद का आध्यात्मिक आधार सुनिश्चित है। अब हम वैशेषिक परमाणुवाद और बौद्ध विज्ञानवाद के सम्बन्ध पर आते हैं।

बौद्ध विज्ञानवाद और वैशेषिक परमाणुवाद

परमाणुवाद वैशेषिक का सिद्धान्त है, किन्तु इस सिद्धान्त का निरूपण करना यहां हमारा उद्देश्य नहीं। यहां केवल इतना ही कहना इष्ट है कि पारिमाण्डिल्य या गोले के आकार वाले परमाणुओं के, अदृष्ट के द्वारा गतिशील हो जाने पर, जड़-चैतन्यमय सृष्टि का उद्भावन मानने वाले नैयायिक और वैशेषिक बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध एक कठिन और अभेद्य दुर्ग बनाते हैं, किन्तु इसकी रक्षा करना वैशेषिकों का काम नहीं, उनको तो स्वयं इस दुर्ग में बिठला कर अजेय प्रतिवादिभयङ्कर न्याय ने ही इसकी रक्षा की है। इस विषय में उनके विरोधी प्रायः बौद्ध विज्ञानवादी ही रहे हैं जिनके लिए सिवाय चित्त के और कोई सत्य नहीं। सौत्रान्तिक और वैभाषिक तो वैशेषिक परमाणुवाद को स्वीकार भी करते हैं[1]। वैशेषिक सूत्रों के रचयिता ने ६ पदार्थ माने थे, उनके अनुयायियों ने एक और मिलाकर उनकी संख्या ७ कर दी, जो इस प्रकार हैं, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और अभाव। इनमें 'सामान्य' को लेकर नैयायिकों और बौद्धों में कितना संघर्ष चला, इसकी कुछ झलक हम अभी देचुके हैं और पूर्वमीमांसकों से भी इस विषय में उनके क्या-क्या संघर्ष हुए, इसका वर्णन हम उस दर्शन के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करते समय करेंगे। न्याय ने जिसे ईश्वर या कर्त्ता कहा है उसे ही वैशेषिक ने 'अदृष्ट' कहा है,[2] अतः इस विषय में दोनों में विभेद नहीं है. 'देवताविषये भेदो नास्ति नैयायिकैः समम्'। वस्तुवाद के स्थिर आधार पर न्याय-वैशेषिक ने परमाणुवाद की स्थापना की है और वह बौद्ध विज्ञानवादियों के प्रति उनका तीव्र उत्तर है।

---

(१) देखिए उई : वैशेषिक फ़िलॉसफ़ी, पृष्ठ २६-२८; देखिए आगे पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त' के प्रसंग में शंकर के द्वारा सर्वास्तिवादियों के परमाणुवाद सम्बन्धी सिद्धान्त का खण्डन भी।

(२) देखिए वैशेषिक-सूत्र २।१।१८-१९; ५।१।१५; ५।२।७।१३; ४।२।७

इस प्रकार बौद्ध दर्शन और न्याय-वैशेषिक दर्शन की वाद-परम्पराओं और विभिन्नताओं को एक अत्यन्त संक्षिप्त और परिमित रूप में हमने देखा।

उपसंहार

निश्चय ही इन दर्शनों की विभूतियों का यह वर्णन उद्देशतः ही हुआ है। जिस प्रकार अन्य सभी भारतीय दर्शनों ने उसी प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन ने भी इस बात को बहुत अच्छी तरह समझा है कि ज्ञान केवल बौद्धिक प्रयास का परिणाम नहीं है, बल्कि उसके लिए समग्र व्यक्तित्व की साधना की आवश्यकता है, फिर चाहे भौतिक जगत् और तत्सम्बन्धी ज्ञान का परीक्षण और विश्लेषण ही उसका प्रथम जिज्ञास्य विषय क्यों न रहा हो। विभेद की जगह भारतीय दर्शनों ने विभेद को स्वीकार किया है, किन्तु जीवन का विच्छेद उन्होंने नहीं किया है। न्याय दर्शन पुरुषकार को खूब अवकाश देता ही है[1], दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को परम पुरुषार्थ मानता ही है, संसार को दुःख का लक्षण मानता ही है और उस दुःख के अत्यन्त विमोक्ष को ही वह कहता है अपवर्ग भी[2]। न्याय-शास्त्र का रूप चाहे हेतु-विद्या का प्रधानतः क्यों न रहा हो, उसका मौलिक रूप में प्रज्ञापन शान्ति के लिये ही किया गया था। जैसा उद्योतकर ने कहा है, अक्षपाद गौतम ने इस शास्त्र का उपदेश शम के लिये, शान्ति के लिये, ही दिया था[3]। 'वाद विवाद विषाद बढ़ाइ कैं छाती पराई औ आपनी जारैं' की बात, जिसकी ओर तुलसीदास जी ने संकेत किया था, वह तो न्याय-शास्त्र के इतिहास में आगेचलकर हुई। उसका मौलिक प्रयोजन 'शम के लिए' (शमाय) था और इस रूप के शमात्मक धर्म (बौद्ध धर्म) से उसकी कितनी समानता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। अपर-निःश्रेयस और पर निःश्रेयस के रूप में क्रमशः जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति को अथवा बौद्ध पारिभाषिक अर्थों में निर्वाण और परिनिर्वाण (मौलिक बौद्ध दर्शन के अर्थों में) को स्वीकार करता ही है। फिर उसका यह कहना भी कि यदि दुःख को हटाना है तो जन्म को हटाना होगा, यदि जन्म को हटाना है तो प्रवृत्ति को हटाना होगा, यदि प्रवृत्ति को हटाना है तो दोष को हटाना होगा और यदि दोष को हटाना है तो

---

(१) देखिए न्याय भाष्य ४।१।१९-२१

(२) तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। न्यायसूत्र १।१।२२

(३) यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद। न्यायवार्तिक १।१।१

मिथ्याज्ञान को हटाना होगा,[१] भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट 'प्रतीत्य समुत्पाद' से कितनी समानता रखता है, इसको भी सभी विमल मन्तव्य वाले सत्य के गवेषक सरलता से समझ सकते हैं। 'प्रवृत्ति' को न्याय ने राग, द्वेष और मोह से सम्भव माना है और ('मौलिक्य बौद्ध दर्शन में') 'अकुशल' चित्तों का भी तात्पर्य अन्ततः क्या है? ध्यान और शुभ कर्मों को सम्पादन करने की अनुज्ञा क्या न्यायभाष्यकार ने भी नहीं दी[२]? क्या उन्होंने भी तप, स्वाध्याय और योग को आवश्यक नहीं बताया? क्या वैशेषिक दर्शन ने भी अभ्युदय के साथ-ही-साथ निःश्रेयस को भी अपना गवेषणीय विषय नहीं बनाया, क्या श्रद्धा, अहिंसा, भूतहितत्व, सत्यवचन, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, भावशुद्धि, क्रोध-वर्जन और अप्रमाद का उपदेश वैशेषिक के उपदेष्टा ने भी नहीं दिया?[४] बहुत से क्या, हम सभी मनीषी बौद्ध नैयायिकों का आह्वान करते हैं, 'भारतीय काण्ट' धर्मकीर्ति का, आचार्य दिङ्नाग का, असङ्ग और वसुबन्धु का भी, आचार्यपाद नागार्जुन का भी, तथा अन्य अनेक बौद्ध आचार्यों का भी, उसी प्रकार हम आह्वान करते हैं भगवान् वात्स्यायन से लेकर (भगवान् अक्षपाद को तो बुद्ध की तरह छोड़ना ही होगा—हमें आचार्यों से ही यहां विशेष सम्बन्ध है, ऋषियों से नहीं) उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र और उदयन आदि मनीषियों को भी। तो फिर गौतमीय न्याय-परम्परा के आचार्यों के प्रति श्रद्धास्वरूप हम उन्हें अर्पित करते हैं भगवान् बुद्ध के वे दो अनुत्तर उपदेश जो उन्होंने एक बार कालामों को और एक अन्य बार प्रजापती गौतमी को दिये थे,[५] और मनीषी बौद्ध आचार्यों की सेवा

---

(१) दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तराभावात् अपवर्गः। न्यायसूत्र १।१।२

(२) न्यायभाष्य ४।२।३८,४१

(३) न्यायभाष्य ४।२।४७; ४।२।४६

(४) देखिए वैशेषिक सूत्र ४।२।३

(५) कालामों से भगवान् ने यही कहा था कि उन्हें प्रत्येक बात को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस कर ही उसे स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिये। इसके बाद भगवान् ने उनसे पूछा था कि क्या राग, द्वेष और मोह का उत्पन्न होना मनुष्य के सुख और कल्याण के लिये होता है? जब कालामों ने इसका उत्तर 'न' दिया तो भगवान् ने उपदेश दिया

में अर्पित करते हैं हम भगवान् न्यायभाष्यकार के ये शब्द जिनमें सद्धर्म के अविरोधी शास्ता के मूलतम सिद्धान्त कितनी स्पष्टता के साथ प्रस्फुटित हुए हैं 'रागद्वेषासूयेर्ष्यामायालोभादिभिः दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचति। वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि। मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यञ्चेति। सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय। अथ शुभा। शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च। वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायञ्चेति। मनसा दयामस्पृहां श्रद्धाञ्चेति। सेयं धर्माय[1] ॥' जिन दो बुद्ध-प्रवचनों की ओर ऊपर संकेत किया गया है उनका नैयायिक संस्करण (यदि ऐसा हम कह सकें) बिलकुल उपर्युक्त न्यायभाष्यकार के शब्दों में रक्खा है और हम कह सकते हैं कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है, इस सम्बन्ध में दोनों में भेद नहीं है। उनके तर्कों सम्बन्धी विभिन्नताओं को जब हम प्रख्यापित करते हैं तो इस एकता की सुदृढ़ और मौलिक चट्टान पर खड़े होकर ही हमें ऐसा करना चाहिए। अन्यथा हमारे पथभ्रष्ट हो जाने का भय है, जैसा कि न होना चाहिए। सत् को सत् और असत् को असत् करके दिखाना न्याय-दर्शन का तात्पर्य है।[2] उसी को विभज्य व्याकरण करके 'विभज्यवादी' बुद्ध ने दिखाया है, अतः हमें भी विवेकशील होकर उनके मूल मन्तव्यों को जानने का प्रयत्न करना चाहिए, तर्क के कांटों पर तो नहीं गिरना चाहिए। अनात्मा में, अनात्म पदार्थों में, आत्मग्रह करना, मैं हूं, ऐसी बुद्धि करना, न्याय-दर्शन के अनुसार भी मोह है, अहंकार है, मिथ्याज्ञान है।[3] इसकी निवृत्ति से ही वह वास्तविक तत्वज्ञान से निःश्रेयस की आशा रखता है और यदि

कि तो फिर इन्हें छोड़ देना चाहिये। महाप्रजापती गोतमी से भगवान् ने कहा था कि जो भी धर्म असंग्रह, विराग और शान्ति, के लिये हैं वे शास्ता के शासन हैं और आचरणीय हैं और उनके विपरीत अनाचरणीय।

(१) न्यायभाष्य १।१।२

(२) किं पुनस्तत्वम्। सतश्च सद्भावोऽसतश्च असद्भावः। न्यायभाष्य उपोद्घात। 'विभज्यवादी' बुद्ध के लिए देखिए चतुर्थ प्रकरण।

(३) किं पुनस्तन्मिथ्याज्ञानम्—अनात्मन्यात्मग्रह : अहमस्मीति मोहः—अहङ्कारश्च। न्याय भाष्य ४।२।१; मिलाइए इसे बुद्ध द्वारा उपदिष्ट 'अनात्मवाद' से जिसका विवरण चतुर्थ प्रकरण में दिया जा चुका है।

इसी 'मैं हूं' की बुद्धि के अनात्मा में, अनात्म पदार्थों में, करने से, आत्म-उपादान करने से, आत्माभिनिवेश करने से यदि बुद्ध ने दुःख का उद्भव बताया है, उसे अविद्या कह कर पुकारा है और उसके ही निरोध से दुःख के आत्यन्तिक निरोध की सम्भावना दिखाई है, तो फिर बुद्ध-शासन और मौलिक न्याय की साधनाओं में क्या विभेद है? मनुष्य जिन वस्तुओं से बंधता है और जिनसे मुक्त होता है, उनके विषय में विभेद कहां है?

ऊ—बौद्ध दर्शन और सांख्य-योग

उपोद्घात

बौद्ध और सांख्य दर्शनों के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या भारतीय दर्शन का एक अत्यन्त मनोज्ञ और महत्वपूर्ण विषय है। कपिल के समान सृष्टि के तत्वों का विवेचक और विचारक यदि इस जगत् ने नहीं देखा, तो शाक्यमुनि के समान जीवन का शास्ता और मानव की समस्याओं का निदानज्ञ 'उत्तम भिषक्' भी इस संसार में आविर्भूत नहीं हुआ। सांख्य और योग अथवा सांख्य-योग दर्शन बौद्ध दर्शन से अनेक बातों में समानता रखते हैं, जिन पर सांख्य-योग दर्शन पर कुछ परिचयात्मक कहने के बाद हम अभी प्रकाश डालेंगे।

सांख्य-योग दर्शन पर तात्विक दृष्टि से संक्षिप्त विचार

सांख्य और योग दर्शन दो भिन्न-भिन्न दर्शन नहीं, बल्कि एक ही दर्शन हैं। 'सांख्ययोगी पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'। यह गीताकार की एक अन्य अर्थ में कही हुई वाणी इन दोनों व्यवस्थित दर्शन प्रणालियों के विषय में बिलकुल ठीक है। जैसा कि भगवान् पञ्चशिख ने अपने सूत्र में कहा है, 'दर्शन एक ही है, ख्याति ही दर्शन है'[1], इस सूत्र के प्रकाश में हम समग्र भारतीय दर्शन परम्परा को ही व्याख्यात कर सकते हैं, किन्तु सांख्य और योग इन दो दर्शनों के लिए तो यह प्रकृति-पुरुष-विवेक रूपी ख्याति निश्चय ही प्राणस्वरूप है। प्रकृति और पुरुष की अन्यता का ज्ञान होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा सिद्धान्त सांख्य ने समग्र मानसिक और भौतिक जगत् का अध्ययन कर प्रतिपादित किया है। यह प्रकृति-पुरुष विषयक विवेक प्राप्त कैसे हो, जिस पर निःश्रेयस

---

(१) 'तथा च सूत्रम्। एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्' योगसूत्र-व्यासभाष्य १।४ में उद्धृत।

आश्रित है, इसी का मार्ग बताना योग का काम है। योग अपनी दार्शनिक परिस्थिति के लिए सांख्य पर आश्रित है और सांख्य अपने समग्र ज्ञान का उद्भाव करके भी उससे मुक्ति रूपी फल को प्राप्त करने के लिए एक साधना विशेष की अपेक्षा रखता है, जो अपने समग्र रूप में योग-दर्शन में निहित है, यद्यपि उसका कुछ प्रारम्भिक रूप स्वयं सांख्य सूत्रों में भी प्रतिबिम्बित हो गया है। अतः दोनों दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं। एक यदि विशुद्ध ज्ञान पक्ष को लेकर सत्य की गवेषणा में प्रवृत्त होता है, तो दूसरा उसकी खोज से लाभ उठाकर उसका एक व्यावहारिक स्वरूप उस ज्ञान को साक्षात्कार करने के लिए मार्ग के रूप में रख देता है। फिर एक बात और है। सांख्य दर्शन ने, कम-से-कम उसके 'मौलिक्य' स्वरूप ने, प्रकृति और पुरुष से ही सब काम निकाल कर ईश्वर के सिद्ध करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं समझी है, किन्तु बाद में चल कर सांख्य दर्शन ने अपनी साधना में 'ईश्वरप्रणिधान' को एक महत्वपूर्ण स्थान देकर इस कमी को पूरा कर दिया। इसलिए इस दर्शन को 'सेश्वर सांख्य' की संज्ञा मिली। यही योगदर्शन है। यह तथ्य इन दोनों के एक ही दर्शन होने की अथवा आपस में अत्यन्त व्यापक भाव से मिले रहने की सूचना देता है।

जैसा कि हमने अभी कहा, बौद्ध दर्शन और सांख्य दर्शन के पारस्परिक तात्त्विक सम्बन्ध का प्रश्न भारतीय दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सांख्य और बौद्ध दर्शन के ऐतिहासिक और तात्विक सम्बन्ध की समस्या

सांख्य दर्शन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवतः उपनिषदों की यथार्थवादी प्रवृत्तियों को लेकर उसका जन्म हुआ, अतः अपने मूल रूप में वह निश्चय ही प्राग्बौद्धकालीन है। बौद्ध जातक कहानियां कपिल के नाम का निर्देश करती हैं। बुद्ध की जन्मभूमि 'कपिल-वस्तु' कपिल ऋषि के आश्रम-स्थान पर ही बसाई गई थी (सौन्दरनन्द १।५७)। स्वयं 'किंकुसलगवेसी' शाक्यकुमार प्रथम बार जिन आचार्य के पास साधना के लिए गए थे, वे सांख्य दर्शन के समान ही उपदेश करते थे। 'बुद्धचरित' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बुद्ध के पूर्व गुरु 'अराड' (पालि आलार कालाम) सांख्यवादी ही थे,[१] यद्यपि कुछ ईश्वरवादी

(१) जिनके सिद्धान्तों का कुछ वर्णन देखिए 'श्रूयतामयमस्माकं सिद्धान्तः शृण्वतां वर। यथा भवति संसारो यथा चैव निवर्तते ॥ प्रकृतिश्च

के रूप में। कपिल-सम्प्रदाय के शारद्वतीपुत्र (सारिपुत्र–उपतिष्य) नामक संन्यासी का वर्णन अश्वघोष ने बुद्धचरित (१७।४) में किया है। यही बाद में चलकर बुद्ध के अग्रणी शिष्य हुए। चौथे प्रकरण में 'प्राग्बौद्धकालीन दर्शन-व्यवस्था' के प्रसंग में ६२ मिथ्या दृष्टियों का विश्लेषण उपस्थित करते हुए हम उसमें एक विचार-प्रणाली का 'शाश्वतवाद' के रूप में वर्णन कर चुके हैं जिसके लिये आनञ्जसप्पाय सुत्त (मज्झिम निकाय) भी द्रष्टव्य है। यह सिद्धांत सांख्य के अनुकूल है और बुद्ध के आविर्भाव के समय प्रचलित था।

विकारश्च जन्म मृत्युर्जरैव च। तत्तावत्सत्वमित्युक्तं स्थिरसत्व परेहि तत् ॥ तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद। पञ्च भूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥ विकार इति बुद्धयस्व विषयानिन्द्रियाणि च। पाणिपादं च वाचं च पायूपस्थं तथा मनः ॥ अस्य क्षेत्रस्य विज्ञानात् क्षेत्रज्ञ इति संज्ञि च। क्षेत्रज्ञ इति चात्मानं कथयन्त्यात्मचिन्तकाः ॥ सशिष्यः कपिलश्चेह प्रतिबुद्धिरिति स्मृतः......, जायते जीर्यते चैव वाध्यते म्रियते च यत्। तद् व्यक्तमिति विज्ञेयमव्यक्तं तु विपर्ययात् .....अज्ञानं कर्म तृष्णा च ज्ञेयाः संसारहेतवः......अविशेषं विशेषज्ञ प्रतिबुद्धाप्रतिबुद्धयोः। प्रकृतीनां च यो वेद सोऽविशेष इति स्मृतः ॥ नमस्कारवषट्कारौ......अनुपाय इति प्राज्ञैरुपायज्ञ प्रवेदितः..... अनयाविद्यया बालः संयुक्तः पञ्चपर्वया। संसारे दुःखभूयिष्ठे जन्मस्व-भिनिषिच्यते....इहैभिर्हेतुभिर्धीमन् जन्मस्त्रोतः प्रवर्तते....' इस प्रकार अश्वघोष-रचित 'बुद्धचरित' के अनुसार शाक्यकुमार को अराड ने उपदेश दिया था। इस विषय में बुद्धचरित का बारहवां सर्ग 'अराडदर्शनो नाम' अत्यन्त पठनीय है (जोह्नस्टन का संस्करण, पृष्ठ १२८-१४४)। हम जानते हैं कि अराड (पालि आलार कालाम) की शिक्षाओं ने बुद्ध को सन्तुष्ट नहीं किया था, यद्यपि वे आदर उनका अन्त तक करते रहे। श्रीमती रायज डेविड्स लिखती हैं––"He is by some, today, in accordance with certain records, reckoned to have been of the Sankhyan School. He knew of its teachings but he did not teach them. He was a devotee of the very opposite practice to the clear systematic thinking taught in that school—the practice of rapt musing called in the books झान"–गोतम दि मैन, पृष्ठ २५

किन्तु एक बात यह है कि सांख्य दर्शन का जो व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध है, वह बुद्ध के काल से काफी पीछे का है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसा की तरह सांख्य ने भी बौद्ध विज्ञानवाद का खूब खण्डन किया है। सांख्य दर्शन की भारत में एक बड़ी लम्बी ऐतिहासिक परम्परा है। सांख्य के आदि वक्ता पुरातन कपिल महर्षि[1] तो निश्चित इतिहास के विषय हैं ही नहीं, उनकी दर्शन प्रणाली का भी स्वरूप बहुत शताब्दियों तक प्रायः अस्पष्ट ही रहा। उपनिषदों में प्रायः हम सांख्य के समग्र रूप के दर्शन करते हैं, किन्तु वहां वह एक व्यवस्थित विचार प्रणाली नहीं है। सांख्य के प्रथम बीज तो हम ऋग्वेद में ही पाते हैं।[2] श्वेताश्तर उपनिषद् तो सांख्य के प्रायः सभी मूलभूत सिद्धान्तों का अत्यन्त विशद रूप से वर्णन करती ही है[3], बृहदारण्यक आदि प्राचीनतम उपनिषदों में भी सांख्यमतानुकूल पुनर्जन्मवाद, दुःखवाद और 'पुरुष' के विचार मिलते हैं[4]। कठोपनिषद् भी अव्यक्त से 'महान् आत्मा' आदि का उद्गम दिखाकर सांख्य विकासवाद के मार्ग को प्रशस्त करती है[5] और प्रश्नोपनिषद् में भी सांख्योक्त मनोविज्ञान के बीज वर्तमान हैं[6]। अतः 'उपनिषत्प्रभवत्व' सांख्य का निर्विवाद है, किन्तु यहभी निश्चित है कि इसकी मौलिक मान्यता स्वरूप प्रकृति और पुरुष के द्वैत का एवं 'पुरुषबहुत्व' का औपनिषद ज्ञान के साथ, जो अधिकांश में ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान पर प्रतिष्ठित है, कुछ सम्बन्ध नहीं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उपनिषदों की यथार्थवादी प्रवृत्तियों को लेकर ही सांख्यदर्शन का उदय हुआ। बुद्ध के समय में तो हम देख

---

(१) सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः पुरातनः। हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। महाभारत।

(२) देखिए ऋ० १०।८२।५-६

(३) देखिए १।४।; ४।५; १।१०; ४।१०; ३।१२; ४।१; ६।१३ आदि

(४) बृहदारण्यक० २।४।१४; ३।४।२; ४।३।१५; मुण्डक० ३।१।१

(५) ३।१०-११; ६।७-११; मिलाइये छान्दोग्य० ६।९।६; ६।१५।२

(६) प्रश्न० ४; डायसन ने इस विषय को अपनी 'फ़िलॉसफ़ी ऑफ दि उपनिषद्स' में 'ऑरीजिन ऑफ़ दि इवोल्यूशनरी सीरीज़' (विकास की श्रेणियों का उद्गम) शीर्षक से विवेचन करते हुये बड़े विद्वत्तामय ढंग से दिखाया है, जो अनुसंधित्सु पाठकों के द्वारा वहां द्रष्टव्य है।

ही चुके हैं कि सांख्यदर्शन की परम्परा वर्तमान थी और बुद्ध उससे अवश्य बहुत कुछ प्रभावित हुए होंगे। पालि सुत्तों और बाद में मिलिन्द प्रश्न में सांख्ययोग (संख्यायोगो) का वर्णन मिलता है। किन्तु आज तक कोई गम्भीर विद्वान् बरनफ के उस कथन से सहमत नहीं हो सका है जिसके अनुसार बौद्ध दर्शन केवल सांख्य सिद्धान्तों का ही प्रवर्त्तन मात्र है और न बैवर महोदय की आज उस हास्यास्पद कल्पना से ही सहमत होना शक्य है, जिसके अनुसार कपिल और बुद्ध एक ही व्यक्ति हैं[१]। महाभारत, गीता और अनुगीता में सांख्य सिद्धान्तों को प्रायः एक ईश्वरवादी स्वरूप दे दिया गया है और 'पुरुषबहुत्व' का अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया गया है एक 'पुरुषोत्तम' के रूप में। वर्तमान 'सांख्य प्रवचन सूत्र' अत्यन्त प्राचीन नहीं है। सम्भवतः वह चौदहवीं शताब्दी की रचना है[२] और इसी प्रकार न अत्यन्त प्राचीन है 'तत्वसमास' ही। ईश्वरकृष्ण-रचित 'सांख्य कारिका', जो सम्भवतः तीसरी शताब्दी ईस्वी की रचना है, सांख्य दर्शन का एक प्रामाणिक ग्रन्थ मानी जाती है। अन्य प्राचीन साहित्य कालविप्लुत हो गया है। यहां 'सांख्यप्रवचन सूत्र' और 'सांख्यकारिका' को ही आधार मानकर विवेचन करेंगे।

सांख्य दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए बौद्ध दर्शन के साथ उसकी तुलना करते चलें। प्रथम तो यही बात द्रष्टव्य है कि सांख्य दर्शन जिस लक्ष्य को लेकर चलता है, वही बिलकुल बौद्ध दर्शन का भी है। सांख्य विचारक कहते हैं कि यहां दुःखत्रय का अभिघात है, अतः उसके निरोध के लिए जिज्ञासा करनी चाहिए।[३] मूल समस्या का इस प्रकार सामने से होकर पकड़ लेना तथागत या फिर इसी सांख्य दर्शन रूप 'पवित्र, अग्रय और गुह्य पुरुषार्थज्ञान' का प्रवचन करने वाले किसी प्राचीन 'परमर्षि' का ही काम था।[४] 'यदि दुःख जगत् में न होता, तो शास्त्र-विषय ही

(१) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४७२

(२) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी , जिल्द दूसरी, पृष्ठ २५१

(३) दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। सांख्यकारिका १, मिलाइये अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। सांख्यसूत्र १।१; अत्यन्त दुःख निवृत्या कृतकृत्यता। सांख्य प्रवचन सूत्र ६।५

(४) मिलाइये 'एतत् पवित्रमग्रचं'...सांख्यकारिका ७०;...पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा प्रोक्तम्। सांख्यकारिका ६९

न होता ।[1] यह उक्ति वैसे तो सभी भारतीय दर्शनों के लिए ठीक है, विशेष प्रयोजनवती तो यह सांख्य दर्शन और जिसने चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया, उसी के दर्शन के लिए है। फिर यह दुःख का निरोध आत्यन्तिक ही होना चाहिए। यदि किन्हीं प्रकार के दुःखों की निवृत्ति होकर किन्हीं अन्य की नहीं हुई अथवा जो दुःख एक बार निवृत्त हो गए, उनकी फिर उत्पत्ति हो गई, तब तो दर्शन का प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः दुःख की निवृत्ति ऐकान्तिक और आत्यन्तिक होनी चाहिए। सांख्यकार का विचार है कि इस प्रकार की दुःख की निवृत्ति 'दृष्ट' पदार्थों के द्वारा सम्भव नहीं है।[2] इनसे तो दुःखों का तांता लगा ही रहेगा। यदि एक बार इनसे दुःख हट भी जाएँगे तो फिर उनकी अनुवृत्ति होना आवश्यक है।[3] दुःख का सम्यक् निरोध तो तभी हो सकता है जब अविद्या के बीज दग्ध कर दिए जायं जिससे कि उनमें से दुःख के कुल्हे फिर उपज ही न सकें।[4] सांख्याचार्यों का एक क्रान्तिकारी उद्घोष यह भी है कि 'दृष्ट' से तो दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती, वह 'आनुश्रविक से भी होनी असम्भव है[5]। वैदिक कर्मकाण्ड हमें नहीं बचा सकता। वह तो स्वयं 'अविशुद्धि' 'क्षय' और 'अतिशय' से युक्त है।[6] उस वैदिक कर्मकाण्ड का विपरीत मार्ग ही 'श्रेयान्' है[7]। कौन विपरीत

---

(१) 'एवं हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत यदि दुःखं नाम जगति न स्यात्'। कारिका १ पर तत्वकौमुदी ।

(२) दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् । सांख्यकारिका १

(३) न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्ति दर्शनात् । सांख्यसूत्र १।२

(४) सांख्य दर्शन के अनुसार दुःख एक 'गुण' है, जिसका विनाश नहीं किया जा सकता। हां, इस ढंग से उसका आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निरोध किया जा सकता है।

(५) दृष्टवदानुश्रविकः। सांख्यकारिका २

(६) स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।

(७) तद्विपरीतः श्रेयान् । सांख्यकारिका २; मिलाइये विवेकान्निःशेष दुःख-निवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् । सांख्य प्रवचन सूत्र ३।८४

मार्ग ? वही जो 'व्यक्त' (महाभूत) 'अव्यक्त' (प्रधान, प्रकृति) और 'ज्ञ' ('पुरुष') के ज्ञान से निष्पन्न होता है। वैदिक कर्मकाण्ड का यह निश्चय ही अत्यन्त तीव्र प्रतिवाद है। इतनी दूर तो सम्भवतः बुद्ध भी नहीं गए ! 'श्रेयान्' शब्द को लेकर आचार्य मैक्समुलर ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि यहां वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा में ही प्रकृति-पुरुष-विषयक विज्ञान की श्रेष्ठता दिखाई गई है, अतः 'तद्विपरीतः श्रेयान्' कहने का तात्पर्य यह है कि उसके विपरीत जो है वह अधिक अच्छा है और वैसे वैदिक कर्मकाण्ड भी अच्छा है[1]। यदि सांख्याचार्य को इतना समन्वय ही अपेक्षित होता तो वेह वैदिक कर्मकाण्ड को 'अविशुद्धि', 'क्षय' और 'अतिशय' से युक्त कभी नहीं बतलाते। फिर भी सांख्य दर्शन की सत्य के ज्ञापक के रूप में वेद में श्रद्धा है । यहां सांख्यकार की एक विरुद्ध स्थिति अवश्य दिखाई पड़ती है, किन्तु निश्चय ही इस विषय में एक समन्वयात्मक दृष्टि-कोण लिया जा सकता है। सांख्य को तीन प्रमाण अभिप्रेत हैं, यथा दृष्ट, अनुमान और आप्तवचन, क्योंकि उसके विचार में अन्य दर्शनों में प्रतिपादित और सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव इन तीनों में प्रायः हो जाता है[2]। प्रमेय की सिद्धि बिना प्रमाण के नहीं होती। इस प्रकार कौन-कौन से प्रमाण उपर्युक्त तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भावित जाते हैं, इसको सांख्यसूत्र और सांख्यकारिका के विभिन्न व्याख्याकारों ने विभिन्न-विभिन्न प्रकार से दिखाया है। श्री विष्णु वेंकटेश सोवनी महोदय की तैयार की हुई यह तालिका[3] यहां उपयोगी सिद्ध होगी :—

---

(१) देखिए सोवनी : 'ए क्रिटीकल स्टडी ऑफ़ दि सांख्य सिस्टम' पृष्ठ १५

(२) दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ सांख्यकारिका ४

(३) ए क्रिटीकल स्टडी ऑव दि सांख्य सिस्टम, पृष्ठ १७; जैसा कि इस तालिका से ज्ञात होगा, कभी-कभी एक ही व्याख्याकार ने अनेक प्रकार से एक प्रमाण को व्याख्यात किया है और अनेक प्रकारों से ही कभी-कभी अन्य प्रमाणों का किसी एक में अन्तर्भाव किया है ।

प्रमाण जो अन्तर्भावित होते हैं	दृष्ट या प्रत्यक्ष में	अनुमान में	शब्द या आप्त वचन में	जिनके अनुसार य प्रमाण नहीं हैं
उपमान	वाचस्पति	वाचस्पति माठर जयमंगला विज्ञान भिक्षु	गौडपाद वाचस्पति जयमंगला	
अर्थापत्ति		गौडपाद वाचस्पति जयमंगला		
अभाव	वाचस्पति विज्ञानभिक्षु जयमंगला	माठर	गौडपाद	चन्द्रिका
सम्भव		वाचस्पति माठर जयमंगला	गौडपाद चन्द्रिका	वाचस्पति
ऐतिह्य		माठर	गौडपाद चन्द्रिका विज्ञानभिक्षु	
प्रतिभा	जयमंगला	जयमंगला चन्द्रिका	जयमंगला गौडपाद	जयमंगला

इस तालिका से बौद्ध आचार्यों और नैयायिकों के द्वारा प्रमाण मीमांसा के क्षेत्र में किए गए महान् विचार की तुलना पर हम दोनों की परिस्थिति को समझ सकते हैं। हां, अभी सांख्य परिभाषाओं की कुछ निरुक्ति करना और आवश्यक होगा। सांख्य दर्शन के अनुसार 'प्रतिविषयाध्यवसाय' ही दृष्ट अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण[1] है। बुद्धि के अन्धकार के अभिभूत हो जाने पर जो सत्व-समुद्रेक होता है, वही सांख्य दर्शन में 'अध्यवसाय' कहा जाता है; यही 'वृत्ति, और 'ज्ञान' भी कहलाता है। यही प्रमाण है[2]। यहां सांख्य दर्शन के अनुसार ही यह कहा जा सकता है कि बुद्धितत्व

(१) प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं। कारिका ५

(२) बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरति ज्ञानमिति चाख्यायते। इदं तावत्प्रमाणम्। सांख्यकारिका ५ पर तत्व कौमुदी।

तो प्राकृत है, अतः अचेतन है, तो फिर उसका अध्यवसाय भी क्या घटआदि की तरह अचेतन ही नहीं होगा? क्या बुद्धितत्व के सुखादि परिणाम भी अचेतन नहीं होंगे? किन्तु ऐसा नहीं है। 'पुरुष' यद्यपि सुखादि में अनुषंग नहीं रखने वाला है, किन्तु वह चेतन है। वह 'पुरुष' ही बुद्धितत्ववर्ती सुखादि से और उसमें प्रतिबिम्बित होकर उसकी छाया से स्वयं ही ज्ञान-सुख-आदि-वाला-सा हो जाता है। इसलिए चेतन महत्व तत्व की छायापत्ति से अचेतन बुद्धि भी और उसका अचेतन अध्यवसाय भी चेतन के समान हो जाता है[1]। सांख्य के इस तर्क को हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए। क्योंकि इसी पर उसके विकासवाद का समस्त सिद्धान्त और इसी पर उसका मोक्ष-सम्बन्धी सिद्धान्त दोनों आश्रित हैं। अनुमान की व्याख्या इस दशन ने तीन विभागों में की है, जो कि बिलकुल वैसे ही हैं जैसे न्याय के, यथा 'पूर्ववत्' 'शेषवत्' और 'सामान्यतो दृष्ट'। सांख्य दर्शन ने इन तीन प्रमाणों का नाम से निर्देश नहीं किया है (सांख्य कारिका में), अतः व्याख्याकारों ने अपनी.अपनी अलग व्याख्याएं की हैं। 'आप्तश्रुति' को सांख्य दर्शन में 'आप्तवचन' (या शब्द) कहा गया है[2]।

सांख्य विचारकों का कहना है कि सामान्यतः तो दृष्ट या प्रत्यक्ष प्रमाण से स्थूल पदार्थों का ज्ञान हो जाता है और जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं उनकी सिद्धि हम अनुमान से कर सकते हैं, किन्तु जो परोक्ष वस्तु इन दोनों से भी सिद्ध नहीं होती, किन्तु जो होती है, वह फिर 'आप्त वचन' या आप्ता-

---

(१) मिलाइये, बुद्धितत्वं हि प्राकृतत्वादचेतनम्, इति तदीयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनो, घटादिवत्। एवं बुद्धितत्वस्य सुखादयोऽपि परिणामभेदाः अचेतनाः। पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गी चेतनः। सोऽयं बुद्धितत्ववर्तिना ज्ञान-सुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति चेतनोऽनुगृह्यते। चितिच्छायापत्याऽचेतनाऽपि बुद्धिस्तदध्यवसायोऽप्यचेतनश्चेतनवद्भवतीति। सांख्य कारिका ५ पर तत्वकौमुदी। मिलाइये, तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनवदिव लिंगम्। गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः। सांख्य कारिका २०

(२) ......त्रिविधमनुमानमाख्यातं तल्लिंगलिंगिपूर्वकम्। आप्तश्रुतिराप्त वचनं च। कारिका ५; 'तल्लिंगलिंगिपूर्वकम्' पर व्याख्याकारों में बड़ा विभेद है।

गम' से ही सिद्ध होती है।[1] इन्हीं अपने प्रमाणों के आधार पर सांख्य विचारकों ने समग्र बाह्य और आन्तरिक जगत् का सूक्षतम पर्यवेक्षण कर अपना तत्वज्ञान स्थापित किया है, जिसके अनुसार समस्त चराचर जगत् के अन्तिम तत्वों का चतुर्विधि विभागीकरण किया गया है, (१) जो अर्थ केवल प्रकृति है, (२) जो केवल विकृति है, (३) जो प्रकृति और विकृति दोनों है, (४) जो न प्रकृति है, न विकृति।[2] प्रकृति का अर्थ है करने वाला (प्रकरोतीति प्रकृतिः)। इसी को सांख्य दर्शन में 'प्रधान' कहा गया है। प्रकृति अर्थ का क्या है? मूल प्रकृति। मूल प्रकृति ही ऐसा अर्थ या तत्व है, जो करने वाला है। सत्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था ही प्रकृति अथवा 'प्रधान' है। यह 'प्रधान' केवल करने वाला या 'प्रकृति' है और स्वयं 'अविकृति' है अर्थात् किसी अन्य का विकार नहीं है। विश्व के समग्र कार्य-संघात का यह मूल है, अतः इसे 'मूल प्रकृति' कहा जाता है, इसका फिर दूसरा कोई मूल नहीं है,[3] इस प्रकार 'मूल प्रकृति, ही वह पहला तत्व है जो केवल 'प्रकृति' (अर्थात् करने वाला, स्वयं किसी का कार्य या विकार नहीं) है और स्वयं किसी का विकार नहीं (अविकृति)। केवल विकृति क्या है? सोलह की संख्या में परिमित जो चीजें हैं, वही केवल विकृति हैं, यथा पञ्च महाभूत और ग्यारह इन्द्रियां। इनको केवल 'विकृति' इसलिए कहा गया है कि ये स्वयं तो विकार हैं, किन्तु किसी अन्य को करने वाले (अर्थात् प्रकृति) ये नहीं हैं।[4] यहां पञ्च

---

(१) सामान्यतस्तु दृष्टात् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् । सांख्य कारिका ६

(२) कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिदर्थो विकृतिरेव, कश्चित्प्रकृति-विकृतिः, कश्चिदनुभयरूपः । सांख्यकारिका ३ पर तत्वकौमुदी ।

(३) मूलप्रकृतिरविकृतिः । सांख्यकारिका ३; प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानम्, सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था, सा अविकृतिः प्रकृतिरेवेत्यर्थः । मूलञ्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः । विश्वस्य कार्यसंघातस्य सा मूलम्, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति । उपर्युक्त पर तत्वकौमुदी ।

(४) षोडकस्तु विकारो । कारिका ३; षोडशसंख्या परिमितो गणः षोडशकः ......पञ्चमहाभूतानि एकादश इन्द्रियाणीति षोडशको गणो विकार एव न प्रकृतिरिति । उपर्युक्त पर तत्वकौमुदी ।

महाभूतों और ग्यारह इन्द्रियों को जो केवल विकार और स्वयं किसी को न करने वाले कहा गया है, तो उसका तात्पर्य केवल यही है कि ये अन्य तत्वों को फिर उत्पन्न नहीं करते। 'तत्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वमिहाभिप्रेतम्'। अतः पृथ्वी आदि तत्व गौ और वृक्षों आदि को तो उत्पन्न करते हैं और फिर वे गौ और वृक्ष स्वयं दूध और बीजों को उत्पन्न करते हैं, किन्तु इससे पृथ्वी आदि के 'अ-प्रकृति' (अर्थात् स्वयं न करने वाले, कारण न बनने वाले) के रूप में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि गौ और वृक्ष आदि या दूध और बीज आदि पृथ्वी आदि तत्वों से भिन्न तत्व नहीं हैं। अतः पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत और ग्यारह इन्द्रियां स्वयं तो विकार अथवा 'विकृति' हैं, किन्तु फिर वे किन्हीं अन्य तत्वों को करने वाले के रूप में 'प्रकृति' नहीं हैं। ऐसे तत्व कौन से हैं जो दोनों 'प्रकृति' और 'विकृति' हैं? ये हैं सात महदादि वर्ग। ये अन्य तत्वों को करने वाले तो हैं ही साथ में स्वयं अन्य तत्वों के आप भी विकार हैं, इसलिए इन्हें कहा जाता है 'प्रकृति और विकृति।' जैसे इनमें से एक महत्तत्व को लीजिए। यह अहंकार का 'प्रकृति' है अर्थात् अहंकार नामक एक स्वतन्त्र तत्व को उत्पन्न करने वाला है, और स्वयं यह मूल प्रकृति का 'विकृति' या विकार भी है, क्योंकि मूल प्रकृति ने ही इसे किया है। ऐसा कौन तत्व है जो न 'प्रकृति' है और न 'विकृति'। अर्थात् जो न तो किसी अन्य तत्व को उत्पन्न करता है और न जो स्वयं किसी अन्य तत्व का विकार ही है? ऐसा तत्व है 'पुरुष'। इस प्रकार इन चार विभागों में तत्वों का निदर्शन सांख्य दर्शन करता है।[1] ये तत्व कुल संख्या में मिलकर २५ हैं, यथा १ मूल प्रकृति जो 'अविकृति' है + ७ महदादि जो 'प्रकृति-विकृति' हैं + १६ जिनमें पञ्चमहाभूत और ग्यारह इन्द्रियां सम्मिलित हैं और जो केवल 'विकृति' वा विकार हैं + १ पुरुष जो 'न प्रकृति है न विकृति'। इस प्रकार ये पच्चीस तत्व हैं। इन्हीं पच्चीस तत्वों को लेकर सांख्य ने सृष्टि-क्रम का विकास दिखाया है। पहले उसने 'प्रधान' या प्रकृति के अस्तित्व में कारण दिखाये हैं और इसके लिए सत्कार्यवाद को भी प्रख्यापित किया है[2]। फिर 'प्रधान' कैसा है, इसका लक्षण किया है, 'व्यक्त' और

(१) मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः । कारिका ३

(२) कारिकाएँ ८-१०

'अव्यक्त' का क्रमशः वैधर्म्य और साधर्म्य दिखाते हुए फिर तीन गुणों अर्थात् सत्व, रजस् और तमस् का स्वरूप-निर्देश किया है[1]। तदनन्तर 'कारणमस्त्यव्यक्तम्' ऐसा कहकर अनेक कारणों से यह दर्शन प्रधानकारणवाद की स्थापना करता है[2] जो उसका एक अत्यन्त मौलिक और महत्वपूर्ण सिद्धान्त है और जिसका निराकरण करने के लिए भगवान् शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में निश्चय ही बड़ा कष्ट उठाया है। 'पुरुषोऽस्ति' इस प्रकार 'पुरुष' के अस्तित्व में भी अनेक प्रमाण देकर सांख्य अनेक प्रमाणों के आधार पर 'पुरुष बहुत्व' को भी प्रख्यापित करता है और दिखाने का प्रयत्न करता है उसके 'साक्षित्व', 'कैवल्य', 'माध्यस्थ्य' 'द्रष्टत्व' और 'अकर्तृ भाव' को भी[3]। फिर 'प्रकृति' और 'पुरुष' का सांख्य दर्शन अपूर्व संयोग करता है, जो दार्शनिकों के दिमाग को उलझन और परेशानी में डालने वाली एक चीज है।[4] चेतन को तो सांख्य ने अकर्ता बना दिया और कर्ता को बना दिया अ-चैतन्य और फिर दोनों का अन्धे और पंगु के समान संयोग कराके न केवल दिखा दी पुरुष के द्वारा प्रकृति को देखने एवं इस प्रकार अपनी कैवल्य स्थिति सम्पादन करने की सम्भावना ही, किन्तु समस्त सर्ग-क्रम का व्यवस्थित उपक्रम भी। यह सर्ग-क्रम सांख्य-कारिका में बाईसवीं कारिका से लेकर चौवनवीं कारिका तक बड़े विशद रूप से वर्णित है जिसमें पूर्वोक्त तत्वों के लक्षण, उत्पत्ति-क्रम आदि स्पष्ट रूप से व्याख्यात किए गए हैं। यह सर्ग-क्रम और इसका विस्तृत वर्णन सांख्य दर्शन में तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है, किन्तु हमें तो बौद्ध दृष्टिकोण से ही सब बातों को महत्वपूर्ण और अमहत्वपूर्ण यहाँ समझना है और चूंकि बौद्ध दर्शन सृष्टि की उत्पत्ति

---

(१) कारिकाएँ १०-१४

(२) कारिकाएँ १५-१६

(३) कारिकाएँ १७-१९

(४) मिलाइये, 'न हि प्रधानस्याचेतनस्यौत्सुक्यं सम्भवति। न च पुरुषस्य निर्मलस्य निष्कलस्यौत्सुक्यम्। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।२।६; तथा प्रधानस्याचैतन्यात् पुरुषस्य चौदासीन्यात्तृतीयस्य च तयोः सम्बन्धयितुरभावात् सम्बन्धानुपपत्तिः। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।२।७

के विषय को लेकर अधिकांश में प्रवृत्त नहीं होता, इसलिए सांख्य के विकासवाद के सिद्धान्त को हम यहां पूर्णरूप से निरूपित करना आवश्यक नहीं समझते, केवल यह तालिका[1] देकर ही सन्तोष करते हैं:

१-पुरुष

२-प्रकृति (अव्यक्त)

३-बुद्धि या 'महान्'	१०-मन
	११-१५ पञ्च बुद्धीन्द्रियां ('चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि)
४-अहंकार	१६-२० पञ्च कर्मेन्द्रियां ('वाक्पाणि-पादपायूपस्थान्')
५-९ पञ्चतन्मात्रायें (शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)	२१-२५ पञ्च महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश)

अभी आगे न चल कर जितनी भूमि हम चल आए हैं उसी के संबंध को बौद्ध दर्शन की दृष्टि को कुछ निरूपित करें। सबसे पहले इस विकास की श्रेणी में हम देखते हैं कि 'प्रधान' रूप 'मूल प्रकृति' है जिसका फिर और कोई मूल नहीं। इस दृष्टिकोण से देखने पर निश्चय ही यह प्रलोभन हो सकता है कि यह 'मूलप्रकृति' कहीं उस बौद्ध 'अविद्या' से तो संबंध या समानता नहीं रखती जो 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सबसे पहले प्रत्यय के रूप में स्मरण की जाती है और जिसके आगे प्राणियों के पूर्वकोटि का पता (स्वयं तथागत के शब्दों में ही) नहीं चलता। हम पहले कह चुके हैं कि 'प्रतीत्य समुत्पाद' का उपदेश तथागत के द्वारा कारणवाद की समस्या को हल करने के लिए नहीं दिया गया था[2], अतः उस रूप में उसकी समानता भी किसी अन्य सिद्धांत से नहीं की जा सकती। बौद्ध 'अविद्या' को हमें सांख्याचार्यों के

---

(१) यह तालिका सांख्य-योग सिद्धान्तों के अनुकूल है; वैसे 'सांख्यकारिका' के अनुसार सर्ग-क्रम इस प्रकार चलता है—पुरुष+प्रकृति—उससे महान्[1]-महान् से अहंकार—अहंकार से सोलह का वर्ग (ग्यारह इन्द्रिय और पञ्च तन्मात्राएँ)—पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत = २५:
प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ।।कारिका २२

(२) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का निरूपण।

'प्रधान' से कभी मिलाने के विभ्रम में नहीं पड़ना चाहिए, इसके लिए हमें आचार्य बुद्धघोष ने बहुत पहले ही आगाह कर दिया है। अपने 'विसुद्धिमग्ग' ग्रंथ में इन 'अट्ठकथाचरिय' ने सांख्य योग के प्रकृति और पुरुष के द्वैतवाद का प्रत्याख्यान किया है और प्रकृतिवादियों की 'मूलप्रकृति' से 'अविज्जा' की समानता दिखाने का कड़ा विरोध किया है।[1] किन्तु जो 'परिणामिनित्यत्व' का भाव सांख्य विकासवाद में निहित है, वही नित्य समुत्पन्न और नित्य निरुद्ध होने वाले बौद्ध 'धर्मों' में भी है, और जैसा कि हम अभी आगे देखेंगे, दोनों में ही उनके प्रति 'अनात्मभाव' करने में ही कल्याण का मार्ग माना गया है, बौद्ध दर्शन में तो प्रतीत्य समत्पन्न पञ्चस्कन्धों में और सांख्य दर्शन में 'परिणामिनित्य' प्रकृति के विकारों में। कर्न ने जो बौद्ध 'अविद्या' की समता सांख्य 'प्रधान' से, संस्कारों की समता बुद्धि से, विज्ञान की समता अहंकार से, नाम-रूप की समता तन्मात्राओं से, षडायतन की समता इन्द्रियों से, और समग्र 'प्रतीत्य समुत्पाद' की ही समता सांख्योक्त 'प्रत्ययसंघ' से दिखाने का प्रस्ताव किया है[2], उसे हम अधिक ठीक नहीं समझते। जब तक हम यह न देखें कि सांख्य दर्शन में 'बुद्धि', 'अहंकार', 'तन्मात्रायें' और 'इन्द्रियां' किन अर्थों में प्रयुक्त की गई हैं तब तक हम यह नहीं कह सकते कि क्रमशः बौद्ध दर्शन में निरूपित 'संस्कार', 'विज्ञान', 'नामरूप' और 'षडायतनों' से

---

(१) देखिए पीछे स्थविरवादी तत्त्वदर्शन के प्रसंग में प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन।

(२) देखिए उनका मैनुअल ऑफ़ इंडियन बुद्धिज्म, पृष्ठ ४७, पदसंकेत ६; जैकोबी ने भी इसी प्रकार समता दिखाने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार सांख्य के 'गुण' बौद्ध दर्शन के 'धर्म' के अनुरूप हैं, तथा अन्य समता इस प्रकार है--

अविद्या--सांख्य दर्शन की प्रकृति के समान।
संस्कार--महत् के समान।
विज्ञान--बुद्धि " "
नामरूप--अहंकार" "
षडायतन--एकेदशेन्द्रियगण + तन्मात्र पञ्चक

स्पर्श--कदाचित् कर्मेन्द्रिय ? देखिए बेलवेलकर : ब्रह्मसूत्र--नोट्स, पृष्ठ ७८

उनका क्या संबंध है।[1] किन्तु यह तो एक बड़ा लम्बा विषय होगा। भारतीय दर्शन में मनोविज्ञान की दृष्टि से दो ही दर्शन सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, बौद्ध दर्शन और सांख्य दर्शन (जिसने प्रायः औपनिषद मनोविज्ञान को ही एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है, जिसे अन्य 'आस्तिक' दर्शनों ने भी बिना किसी विवाद के अपने प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया है)। यहां सांख्य दर्शन में निहित मनोविज्ञान की एक अत्यन्त संक्षिप्ततम झलक देने के सिवाय हम और कुछ नहीं कर सकते। सबसे पहले चक्षुरादि इन्द्रियां स्थूल कारण या साधन हैं। ये ऐन्द्रिय संस्कारों को केन्द्र की ओर ले जाने के लिए इन्द्रियों को प्रदान करती हैं। तब मन इन्द्रियों तथा बाह्य साधनों अर्थात् भौतिक नेत्र, श्रोत्र, आदि से संयुक्त होता है। मन उन संस्कारों को और आगे बढ़ाता है एवं उन्हें बुद्धि के सामने उपस्थित करता है। बुद्धि उन पर विचार करती है, उनका अवगाहन करती है[2]। तभी अहंकार की भावना चमक उठती है जो आत्माभिमान प्रकट करती है। इसके पश्चात् यह सब क्रिया-प्रतिक्रिया पुरुष के सम्मुख उपस्थित होती है[3], जो ज्ञान का वास्तविक अधिष्ठान है। बुद्धि जब ठीक निर्णय कर लेती है, तो उसे कार्यान्वित करने के लिए मन को दे देती है।[4] मन पांच कर्मेन्द्रियों के द्वारा बुद्धि के निश्चयों का पालन करता है। यही संक्षेपतः सांख्य मनोविज्ञान है। इस उपर्युक्त वर्णन के प्रकाश में हमें यह भी देख लेना चाहिए कि 'अध्यवसाय'[5]

---

(१) फिर इस विषय में एक कठिनाई और यह है कि बौद्ध पारिभाषिक अर्थ भी, 'संस्कार' आदि के सुनिश्चित नहीं। जिन अर्थों में वे 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन में प्रयुक्त किए गए हैं और जो उनका वहां प्रयोजन है, उससे विभिन्न ही व्याख्या और दृष्टिकोण उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन में पाते हैं, अतः सम्यक् तुलनात्मक अध्ययन की एक कठिनाई बढ़ जाती है और सिवाय दोनों परिस्थितियों के केवल सामने रख देने के और कोई चारा नहीं बचता।

(२) सान्तः करणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्। कारिका ३५

(३) कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति। कारिका ३६

(४) सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः। कारिका ३७

(५) सर्वो व्यवहर्ताऽऽलोच्य मत्वाऽहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मयेत्यध्यवस्यति, ततश्च प्रवर्तत इति लोकसिद्धम्। तत्र योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसन्निधानादापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायः बुद्धेः असाधारणो व्यापारः तदभेदा बुद्धिः। कारिका २३ पर तत्वकौमुदी।

को ही साख्य में 'बुद्धि' (अध्यवसायो बुद्धिः), 'अभिमान[1] को ही 'अहंकार' (अभिमानोऽहंकारः) और बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनों के ही संकल्पक इन्द्रिय[2] को 'मन' (उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च) कहा है। इस विषय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात जो बौद्ध दर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते समय हमें याद रखनी चाहिए वह यह है कि प्रकृति और पुरुष के, द्रष्टा और दृश्य के, जड़ और चैतन्य के संबंध को ठीक तरह से समझाने के लिए ही सांख्यकार ने अपने मनोविज्ञान का विधान किया है ताकि प्रकृति और उसके विकारों की प्रतिच्छाया से पुरुष उसमें 'अहं' की भावना न करने लगे, ताकि प्रकृति के ही संसरण, बंधन और मोक्ष में वह अपना संसरण, बन्धन और मोक्ष न मानने लगे। इसीलिए परमर्षि ने यह सब 'पुरुषार्थहेतुक', 'निमित्तनैमित्तक' प्रसंग कहा है और इसीलिए इन सभी मनोवैज्ञानिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के बीच में होकर उन्हें कहना पड़ा है 'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्'।[3] हम बुद्ध के द्वारा निरूपित समग्र विज्ञान में 'चित्त', 'चेतसिक' और 'रूप' के रूप में अथवा 'कुशल', 'अकुशल और 'अव्याकृत' के भागों में तो बंटा देखते हैं और नदी के स्रोत की तरह (नदिसोतो विय) उनका बहना भी देखते हैं जिनमें 'अहं' बुद्धि कभी न करने का भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिया, किन्तु 'पुरुषार्थ एव हेतुः' जैसी कोई आवाज

---

(१) यत् खलु आलोचितं मतं च तत्र 'अहमधिकृतः' 'शक्तः खल्वहमत्र' 'मदर्था एवामी विषयाः' 'मत्तो नान्योऽत्राधिकृतः कश्चिदस्ति' 'अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमानः सोऽसाधारण व्यापारत्वादहंकारः। तमुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति 'कर्तव्यमेतन्मया' इति निश्चयं करोति। सांख्य कारिका २४ पर तत्व कौमुदी।

(२) एकादशस्विन्द्रियेषु मध्ये मन उभयात्मकम्, बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेः। ......आलोचितमिन्द्रियेण 'वस्त्विदम्' इति संमुग्धम् 'इदमेवम्, नैवम्' इति सम्यक् कल्पयति विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति यावत्.... ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया बुद्धयाऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता। सोऽयं संकल्प लक्षणो व्यापारो मनसः समानासमानजातीयाभ्यां व्यवच्छिन्दन् मनो लक्षयति। कारिका २७ पर तत्वकौमुदी।

(३) सांख्य कारिका ३१

हम वहां कदाचित् नहीं सुनते। वहां तो 'एवं पञ्चस्कन्धेषु किं लब्धं किं हृतं भवेत्' ऐसी ही साधना की ध्वनि की प्रधानता है। सांख्य का दृष्टिकोण अधिक संग्रहात्मक है, किन्तु उसमें व्यावहारिकता कम है और बौद्ध दृष्टिकोण जब कि नैतिक अभिव्याप्ति से अपने मनोविज्ञान को ओत-प्रोत कर देता है तो चित्त चेतसिकों के प्रतीत्य समुत्पन्न भाव को ही वह सत्य का अंतिम स्वरूप मानने की ओर प्रस्ताव सा करता जान पड़ता है जैसा कि सम्भवतः वास्तव में नहीं है। सांख्य दर्शन के सर्ग-क्रम का निदर्शन करते-करते हम दोनों के मनोवैज्ञानिक चिन्तनों में चले गए, अब हम फिर उसी पर लौटते हैं क्योंकि उससे एक बड़ी महत्वपूर्ण समस्या चिपटी हुई है। सांख्य-मतानुसार सर्ग-क्रम का विशद विवेचन करने के बाद ही 'सांख्यकारिका' में यह महत्वपूर्ण कारिका आती है 'इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः। प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः'[1]। यहां हमें केवल 'इत्येष प्रकृतिकृतो' इतने से ही तात्पर्य है। जब एक बार सर्ग-क्रम निरूपण में सांख्याचार्य प्रवृत्त हुए तो निश्चय ही उन्हें इसका तो उत्तर देना ही था कि आखिर यह सब किया किसने है? और इसका उनके पास निर्भीक उत्तर है, 'इत्येष प्रकृतिकृतः'। बुद्ध तो सर्ग आदि के प्रश्नों में ही नहीं पड़े, बल्कि उस विषयक जिज्ञासा को ही उन्होंने असंगत जिज्ञासा कहा और केवल दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के मार्ग का ही आचरण करने को कहा, किन्तु सांख्याचार्य जिन्होंने दुःख की निवृत्ति के लिए 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान' को ही परम 'श्रेयान्' मार्ग माना, तो फिर वे उसके उत्तर देने में तथागत की तरह उदासीनता कैसे धारण कर सकते थे? इसलिए उन्होंने तथागत से भी अधिक निर्भीकता के साथ, किन्तु निश्चय ही उनके मौन से कम गम्भीरता के साथ, उत्तर दिया 'इत्येष प्रकृतिकृतः'। तथागत के लिए तो चाहे यह 'प्रकृतिकृतः' हो तब भी और चाहे न हो तब भी, चाहे ईश्वरकृत हो या न हो तब भी, चाहे 'ब्रह्मकृत' हो या न हो तब भी, परम आश्वासन है[2], किन्तु सांख्य के लिए तो 'इत्येष प्रकृतिकृतः' न होने पर उसकी समग्र व्यवस्था ही टूट जाती है, उसके विचार का विशाल प्रासाद ही गिर पड़ता है। वेदान्त के आचार्यों ने इसी प्रकार उसे गिरा-गिरा कर अपने में एक प्रकार से उसे अन्तर्भावित कर लिया है और हम देख

(१) कारिका ५६

(२) देखिए चौथे प्रकरण में 'क्या सम्यक् सम्बुद्ध निरीश्वरवादी हैं?' पर विवेचन।

चुके हैं कि यह प्रवृत्ति सबसे पहले महाभारत में ही शुरू हो गई थी जहां कि सांख्य अपने 'मौलिक्य' निरीश्वरवाद के स्वरूप को छोड़ कर ईश्वरवाद की ओर प्रवण हो गया है। 'मौलिक्य सांख्य' दर्शन स्पष्टरूप से निरीश्वरवादी है। वह महदादि भूतों को केवल प्रकृति के द्वारा किया हुआ मानता है। वह उन्हें ईश्वर के द्वारा किया हुआ नहीं मानता, ब्रह्म को उनका उपादान कारण नहीं मानता और नहीं वह यह मानता है कि ये अकारण उत्पन्न हो गए हैं। वह उन्हें केवल प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुआ मानता है।[1] यह तो सांख्य निरीश्वरवाद के लिए केवल एक कारिका का साक्ष्य है, एक अन्य खोई हुई कारिका का भी साक्ष्य द्रष्टव्य है, जिसे लोकमान्य तिलक ने इस प्रकार खोज निकाला है—'कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा। प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालस्वभावश्च।'[2] हां सांख्य प्रवचन सूत्र के 'ईश्वरासिद्धेः'[3] को लेकर यह भली प्रकार कहा जा सकता है कि सूत्रकार ने 'ईश्वर सिद्धेः' ही कहा है 'ईश्वराभावात्' नहीं, अतः सम्भवतः वह ईश्वरवादी रहे हों, किन्तु जिस दृष्टिकोण से वे ज्ञान के अनुसंधान में प्रवृत्त हुए हैं, उसके प्रति सच्चे रहते हुए वे सम्भवतः ईश्वर कर्तृवाद की सिद्धि में प्रवृत्त नहीं हो सकते थे। कुछ-कुछ कुमारिल के ही दृष्टिकोण से सांख्य प्रवचन सूत्र में ईश्वर के कर्तृत्व का निषेध किया गया है। निश्चय ही सृष्टि के सृजन करने से ईश्वर की आप्तकामता में अन्तर आता है और जो इच्छा कर सकता है, वह पूर्ण कैसे हो सकता है? अपूर्ण को ईश्वर कैसे मानें?[4] आप्तकाम को किसी इच्छा से उद्वेलित हुआ कैसे मानें! निश्चय ही यह समस्या भारतीय दर्शन में जिस प्रकार भगवान् सांख्याचार्य को उसी प्रकार आचार्य कुमारिल जैसे मीमांसक को[5] और आचार्य

(१) 'महदादिभूतः प्रकृत्यैव कृतो नेश्वरेण, न ब्रह्मोपादानो, नाप्यकारणः। अकारणत्वे ह्यत्यन्ताभावोऽत्यन्तभावो वा स्यात्। न ब्रह्मोपादानः चितिशक्तेरपरिणामात्। नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतो, निर्व्यापारस्याधिष्ठातृत्वासम्भवात्....' इत्यादि। सांख्यकारिका ५६ पर तत्वकौमुदी।

(२) देखिए बाल गंगाधर तिलक : गीता रहस्य, पृष्ठ १६३

(३) सांख्य सूत्र १।९९ सांख्य प्रकृतिवाद और इनके खंडन के लिये देखिये सौन्दरनन्द १६।१७; बुद्धचरित सर्ग १८

(४) मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः। सांख्य प्रवचन सूत्र १।९३; उभयथाप्यसत्करत्वम्। वहीं १।९४

(५) देखिए आगे इसी प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और मीमांसा दर्शन' पर विचार।

गौडपाद[1] जैसे अद्वैत वेदान्ती को भी उद्वेलित करती है। करुणा की भावना से प्रवृत्त होकर रचना असम्भव है, यह तर्क सांख्यप्रवचनसूत्रकार, कुमारिल और बुद्ध तीनों का ही समान है[2]। बुद्ध की तरह सांख्याचार्य भी कर्म को ही इसके लिए पर्याप्त मानने का प्रस्ताव रखते हैं।[3] प्रमाण शास्त्र से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा भी सांख्य का मत है।[4] जितने भी ईश्वर के गुणों का वर्णन है, उन्हें सांख्य दर्शन केवल मुक्त आत्माओं के ही गुण मानता है[5], कुछ-कुछ उसी भावना में जिस प्रकार मीमांसक उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण करने वाली श्रुतियों को केवल अनुष्ठानकर्ताओं की प्रशंसा करने वाली मानते हैं[6]। शिव, विष्णु आदि देवों में भी सांख्य की कुछ विशेष श्रद्धा नहीं है, उनको आचार्य शंकर की तरह वह भी एक निम्न कोटि में डाल देता है[7]। उत्तरकालीन आचार्यों ने अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार सांख्य दर्शन के अनीश्वरवाद को लेकर उस पर बड़ी लीपापोती की है और कुछ हालतों में उसकी कमियों को पूरा भी किया है। वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु और नागेश ने प्रायः इस प्रकार की प्रवृत्तियों में विशेष भाग लिया है। पुरुष के कैवल्य की आवश्यकता के लिए प्रकृति अपने आप किस प्रकार कार्य में प्रवृत्त हो सकती है, इस कठिनता को देख वाचस्पति मिश्र ने इसके लिए ईश्वर के

---

(१) देखिए आगे इसी प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन' पर विचार।

(२) कुमारिल के मत के विषय में आगे देखिए 'बौद्ध दर्शन और पूर्वमीमांसा' का विवेचन, बुद्ध के दृष्टिकोण के लिए मिलाइये पीछे 'क्या सम्यक् सम्बुद्ध अनीश्वरवादी हैं ?पर विचार; देखिये बुद्धचरित १८।२०-२९

(३) देखिए सांख्यप्रवचन सूत्र ५।१ 'नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः'। यह मत बौद्ध दर्शन के अनुकूल है।

(४) प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः। सांख्य प्रवचन सूत्र ५।१२

(५) मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा। सांख्यप्रवचन सूत्र १।९५; मिलाइये वहीं ३।५४-५६ भी।

(६) देखिए आगे 'बौद्ध दर्शन और पूर्वमीमांसा' का दर्शन विवेचन।

(७) देखिए सांख्य प्रवचन सूत्र, ३।५७; शंकर का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा 'मायामात्रमेतत् यत् परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनम्। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।१।१

अधिष्ठान तत्व को स्वीकार कर लिया है[1] जो सांख्य की मूल भावना के विपरीत है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य अनीश्वरवाद की अपने मतानुकूल व्याख्या करने एवं उसकी संगति लगाने में एक प्रकार से हद ही कर दी है। कभी तो वे कहते हैं कि सांख्य अनीश्वरवाद केवल एक उग्र 'प्रौढ़िवाद' है, यह दिखाने के लिए कि यह दर्शन बिना ईश्वर के भी ठहर सकता है। कभी वे कहते हैं कि यह उन लोगों के लिए, जो ईश्वर में श्रद्धा नहीं जमा सकते हैं, केवल आश्वासन के लिए एक 'अभ्युपगमवाद' है अर्थात् वास्तविक उपदेश का उनकी सहूलियत और शान्ति के लिए कुछ नीचा करना है। कभी वे यह भी कहते हैं कि सांख्य दर्शन का प्रवर्तन केवल मूढ़बुद्धियों के विमोहन के लिए हुआ है, पापियों के ज्ञान में प्रतिवन्ध डालने के लिए है। कभी वह सांख्य सिद्धांतों की वेदान्त से एकात्मता भी दिखाते हैं और कभी करते हैं 'पुरुष बहुत्व' को 'एकं ब्रह्म' की कोटि में लाने का प्रयत्न भी[2]! इस प्रकार भारतीय दर्शन में हम एक अद्भुत वात देखते हैं। न केवल वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु आदि ने ही किन्तु अन्य अनेक आचार्यों ने निश्चित रूप से निरीश्वरवादी सांख्य (जैसा कि वह सांख्यकारिका में विशेषतः उपलब्ध है)को तो लाने की कोशिश की है भिन्न उपायों से ईश्वरवादी की कोटि में और सम्यक् सम्बुद्ध, जिनके विषय में कभी कोई निष्पक्ष विचार करने पर यह कहने का दावा नहीं कर सकता कि वे अनीश्वरवादी हैं, उनको सदा डालने का प्रयत्न किया है न केवल 'नास्तिक' की ही किन्तुअनीश्वरवादी की कोटि में भी। इसका रहस्य क्या है ? हमारी समझ में इसका रहस्य सांख्य के इन शब्दों में विद्यमान है--'आप्तश्रुतिराप्तवचनं हि'। सांख्याचार्य ने जब एक बार वेद के प्रामाण्य को स्वीकार कर लिया तो हिन्दू-जनता निश्चिंत हो गई, फिर वह उनके उपदेशों में किसी-न-किसी प्रकार समन्वय-समाधान कर लेगी। वेद के लिए वह ईश्वर को छोड़ सकती है, क्योंकि वेद रहेगा तो ईश्वर की सिद्धि तो किसी-न-किसी प्रकार कर ही ली जायगी, किन्तु वेद के चले जाने पर तो ईश्वर सदा के लिए ही चला जाता है। 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।' उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने ईश्वरवाद का कड़ा प्रत्याख्यान कर उसे भगवान् बुद्ध पर

---

(१) ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थं प्रतिबन्धापनय एव व्यापारः। राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफ़ी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३१९, पद संकेत १ में उद्धृत।

(२) देखिए सांख्य प्रवचन भाष्य १।६९; ३।६६; ३।५७; ५।१२

भी आरोपित कर दिया जो सम्भवतः ठीक नहीं था। कुछ भी हो, यदि सांख्य दर्शन में अनीश्वरवादियों के लिए आश्वासन है, जैसा कि विज्ञान-भिक्षु ने हमें ठीक ही बताया है, तो हम कह सकते हैं कि उस आश्वासन की मात्रा बुद्ध के विचार में कुछ कम नहीं है और उसे हमें लेना चाहिए। अब हम दोनों दर्शनों के संसार, पुनर्जन्म, मोक्ष और आचारतत्व सम्बन्धी विचारों पर आते हैं। संसार और दुःख की भावनायें सांख्य दर्शन में बौद्ध दर्शन की तरह ही व्यापक हैं। 'जरामरण-कृत दुःख को चेतन पुरुष पाता है जब तक कि उसके लिंग शरीर की निवृत्ति नहीं हो जाती। इसलिए स्वभाव से ही दुःख है[१]।' 'न कुत्रापि कोऽपि सुखीति[२] संसरण तो नित्य लगा ही हुआ है, फिर सुख कहां से हो? किन्तु संसरण यदि यह वास्तव में बद्ध प्राणी का ही हो तब तो उसकी निवृत्ति ही अशक्य है। 'न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेश विधिः[३]।' जो स्वभाव से ही बद्ध है उसके लिए मोक्षसाधन के उपदेश की विधि व्यर्थ है। अतः संसरण तो वास्तव में पुरुष नहीं करता, प्रकृति करती है[४] और पुरुष उसके व्यापारों में, जिनकी प्रतिच्छाया बुद्धि में पड़ती है, 'अहं' के रूप में ग्रहण कर लेता है और यही उसके बन्धन का कारण होता है। यदि पुरुष बुद्धि में पड़े प्रकृति के प्रतिबिम्ब को देख सके कि यह व्यापार प्रकृति का है तो उसका वास्तविक अ-कर्तृभाव स्फुरण होने लगता है और उसे कैवल्य की प्राप्ति होती है।

सांख्य ने इस अपने मन्तव्य को बड़ी अच्छी तरह से दिखाया है। प्रेक्षकवत् होकर जब पुरुष प्रकृति को देखता है और साक्षात्कार करता है कि किस प्रकार इसके व्यापारों का उपचार मुझमें हो रहा है, तो प्रकृति सहम जाती है और सदा के लिए निवृत्त हो जाती है। प्रकृति और पुरुष के संबंध का (जो पुरुष के ही विमोक्षार्थ था[५]) सदा के लिए ध्वंस हो जाता है, फिर कृतकृत्यता सम्पादित

(१) तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः। लिंगस्याविनिवृत्तेस्तस्माद्दुःखं स्वभावेन। सांख्य कारिका ५५

(२) सांख्य सूत्र ६।७

(३) सांख्य सूत्र १।७

(४) तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ सांख्य कारिका ६२

(५) पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्। कारिका ५८; मिलाइये पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य। कारिका ५७

हो जाती है। सांख्यकारिकाकार ने प्रकृति को एक सुकुमार कुलवधू के समान माना है जो पर-पुरुष को देखते ही सहम कर छिप जाती है कि कहीं यह फिर मुझे न देख ले[1]। अथवा वह एक नर्तकी है जो रंगमंच पर अपना नृत्य दिखाकर वापस चली जाती है[2]। 'देख ली मैंने' इस प्रकार एक (पुरुष) उपेक्षक हो जाता है और 'देख ली गई मैं' इस प्रकार दूसरी (प्रकृति) विरमण कर जाती है, संयोग यदि दोनों में बाद में बना भी रहे तो भी फिर सर्ग का प्रयोजन नहीं रहता[3]। जिसको प्रकृति और पुरुष की विभिन्नता की ख्याति (ज्ञान) हो गई उसको शब्दादि योग बन्धन में नहीं डाल सकते क्योंकि उसमें जो पुनर्जन्म के बीज रूप 'मैं' और 'मेरा' थे वे तो दग्ध कर दिए गए, फिर पुनः सर्ग का प्रयोजन क्या रहा? यही केवल विशुद्ध ज्ञान है। सांख्यकारिका के मार्मिक शब्दों में इस ज्ञान की उत्पत्ति का यह उपाय है—'एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहम् इत्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।'[4] ये शब्द भारतीय तत्वचिंतन में अत्यन्त स्मरणीय एवं बौद्ध मन्तव्य की सांख्य-चितन के साथ तुलना करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जब सांख्य के मतानुसार तत्वाभ्यास किया जाय तो इस प्रकार की बुद्धि का स्फुरण होता है 'नास्मि, न मे नाहं'। 'नास्मि' का अर्थ है कि पुरुष सदा इस प्रकार अनुभव करे कि मेरे अन्दर कोई भी बाह्य या आध्यात्मिक व्यापार नहीं है। "नास्मि इत्यात्मनि क्रियामात्रं निषेधति' (तत्वकौमुदी)। 'न मे' का अर्थ है कि मेरे अन्दर स्वामिता नहीं है। कर्तृत्व का निषेध ही 'नाहम्' का रहस्य है।[5] इसके जानने से सम्पूर्ण ज्ञान हो

(१) प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति। या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य। कारिका ६१

(२) 'रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्। पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः। कारिका ५९

(३) दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमिति विरमत्यन्या। सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य। कारिका ६६

(४) कारिका ६४

(५) यह व्याख्या वाचस्पति मिश्र की सांख्य तत्व कौमुदी के अनुसार है। अन्य व्याख्याओं के लिए देखिए डा० झा और शर्मा का सांख्यतत्व-कौमुदी का संस्करण, बोधिनी भाग (नोट्स इस कारिका पर)।

जाता है। यही 'अपरिशेष' ज्ञान है, संशय और विपर्यय से रहित, अतः सदा विशुद्ध। 'नास्मि न मे नाहम्' ये शब्द कितनी गहराई से भारतीय अध्यात्म-साधना में छिपे पड़े हैं और विभिन्न प्रकारों से उसकी प्रतिष्ठा को कायम करते हैं, यह अध्ययन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। निश्चय ही गीता भी कहती है कि 'नाहं किंचित् करोमि' इस प्रकार की भावना करो। इस पर और उसके समस्त अनासक्तिवाद पर हम 'बौद्ध दर्शन और गीता' के प्रसंग में आयेंगे। योग भी कहता है 'द्रष्ट्रदृश्ययोः योगो हेयहेतुः(८-१७) ॥[1] महर्षि गार्ग्यायिन भी कहते हैं 'अहमेतत् न' और वेदान्ती भी कहते हैं, 'नाहं देहो'। अतः प्रकृति और पुरुष के विच्छेद को अपने-अपने प्रकारों से प्रायः सभी कल्याण का मार्ग समझते हैं। भक्त भी तो गोस्वामी तुलसीदास जी को प्रतिनिधि बना कर विवशतापूर्वक यही भाव दिखाते हैं 'जड़ चेतनहिं ग्रन्थि पड़ि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई'। इतना ही नहीं, भारतीय विचारों से प्रभावित मुसलमान साधक भी 'हौं हौं करत सबै मति खोई' इस प्रकार इस गम्भीर दार्शनिक सिद्धांत का प्रख्यापन करने लगते हैं। अस्तु, सांख्य जब कहता है कि प्रकृति के धर्मों को पुरुष को अपने में आरोपित नहीं करना चाहिए, बल्कि उनमें नास्मि, न मे, नाहं की भावना करनी चाहिए और जब भगवान बुद्ध कहते हैं 'भिक्षुओ! जितना भी रूप है, जितनी भी वेदना है, जितनी भी संज्ञा है, जितने भी संस्कार हैं, जितना भी विज्ञान है, चाहे भूतकाल का हो, चाहे वर्तमान का, चाहे भविष्यत् का, चाहे अपने अन्दर का हो, चाहे बाहर का, चाहे स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, चाहे बुरा हो चाहे भला, चाहे दूर हो अथवा समीप—वह 'न मेरा है, न वह मैं हूँ, न वह मेरा आत्मा है[2]', तो इनमें साधना का विभेद क्या है, यह समझ में नहीं आता। रूप वेदना आदि पंचस्कन्ध भी तो एक प्रकार से प्रकृति के ही व्यापारों का विभागीकरण है, दोनों स्थूल और सूक्ष्म का। सांख्य अपने पच्चीस तत्वों में यदि 'नास्मि न मे नाहं' का तत्वाभ्यास करने का आदेश देकर पुरुष की विमुक्ति का मार्ग देखता है तो तथागत हमें पंचस्कन्धों में, 'न वे मेरे हैं, न वे मैं

---

(१) मिलाइये, विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः २।२६ तथा विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ४।२५ भी।

(२) संयुत्त० २१।५ देखिए चतुर्थ प्रकरण में अनात्मवाद का विवेचन।

हूँ, न वे मेरे आत्मा हैं' इस प्रकार आत्मा-अनात्मा की विवेक-ख्याति के द्वारा ही तो निर्वाण का उपदेश करते हैं? इस अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा। बौद्ध दर्शन में जिस प्रकार निर्वाण और परिनिर्वाण का विभाजन है और अन्य भारतीय दर्शनों में (मीमांसा को छोड़कर) जिस प्रकार जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति का विधान है, उसी प्रकार सांख्य भी जीते जी भी मुक्त पुरुष की कल्पना करता है। सम्यक् ज्ञान प्राप्त होने पर भी यदि संस्कारवश शरीर चलता रहे तो उसके कर्माशयप्रचय भी फिर फल लाने के योग्य नहीं रहते, क्योंकि उनके बीज तो पहले ही दग्ध किए हुए रहते हैं। अतः शरीर केवल तब तक पहले जोर से चलाए गए चाक के समान चलता है जब तक कि उसके पहले के कर्म विपाक शान्त न पड़ जायँ[१] और. उनके शान्त होने पर तो (औपनिषद मन्तव्य के अनुसार ही[२]) शरीर के उच्छेद हो जाने पर 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' पुरुष ऐकान्तिक और आत्यन्तिक कैवल्य को ही प्राप्त होता है[३] और इसी को योग ने 'स्वरूप प्रतिष्ठा[४] भी कहा है। इस प्रकार हमने सांख्य के कैवल्य या मोक्ष के रूप को देखा। कैवल्य को 'स्वरूप प्रतिष्ठा' कह कर 'योग' उसे कुछ अधिक निश्चितता प्रदान करता है और कदाचित् वेदान्त की दिशा में उसे ले जाने का कुछ उपक्रम भी। सांख्य के लिए तो जो कुछ सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है वह है केवल प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध की उच्छित्ति ही और वही उसके लिए पुरुषार्थ है[५], किन्तु योगदर्शन प्रकृति से उसकी उच्छित्ति सम्पादन

---

(१) सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ। तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः। कारिका ६६

(२) देखिए 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये। छान्दोग्य० ६।१४।२

(३) प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥ कारिका ६७

(४) पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। योगसूत्र ४।३४

(५) यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः। सांख्यसूत्र ६।७०
(अन्तिम सूत्र)

करके भी फिर परमात्मा से 'योग' करने के लिए भी अत्यन्त लालायित है। वह वियोग का उपदेश देता हुआ भी 'योगी' है, यही उसकी सांख्य और वेदान्त दर्शन के बीच मध्यस्थता और साक्षिभाव भी है। इस प्रकार हम योगदर्शन पर आते हैं, किन्तु अभी सांख्यदर्शन और बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में ही एक बात और कह दें। सांख्य-सूत्रों में यद्यपि साधना मार्ग का भी वर्णन है (इसके बिना वह अपूर्ण दर्शन ही होता, जैसा कि कम-से-कम आचार तत्व के विषय में कोई भारतीय दर्शन नहीं है) किन्तु वह अत्यन्त अल्प है और इसी के लिए सांख्य के पूरक दर्शन योग का आविर्भाव भी हुआ है। सांख्य सूत्र अपने साधना-मार्ग में सतत उद्यम का[१], अननुकूल से बचने का[२], आशाबद्ध न होने का[३] और संसार के भोगों में दुःख दोषानुदर्शन करने[४] का उपदेश देते हैं जो सर्वथा बुद्ध-मन्तव्य के अनुकूल ही है। परम तत्व की प्राप्ति में देश और काल आदि का नियम उनके अनुसार नहीं है[५] और भगवान् बुद्ध ने जो कुछ बोधिराजकुमार से कहा था उसके यह मत अनुकूल ही है[६]। मलिन चित्त में उपदेश के बीज का प्ररोह भगवान् सांख्यसूत्र-कार भी नहीं मानते[७] और भगवान् तथागत ने तो इस तथ्य पर बहुत

(१) आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । सांख्यसूत्र ४।३ नोपदेश श्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्थाऽते विरोचनवत् । नहीं ४।१७

(२) असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् । सांख्य सूत्र ४।८; विरक्तस्य हेय दानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् । वहीं ४।२३

(३) निराशः सुखी पिंगलावत् । वहीं ४।११

(४) दोषदर्शनादुभयोः । वहीं ४।२८; मिलाइए न भोगाद्रागशान्तिः मुनिवत् । वहीं ४।२७ वैराग्यादभ्यासाच्च । वहीं ३।३६

(५) न कालनियमो वामदेववत् । सांख्य सूत्र ४।२०; तीव्रसंवेगानामासन्नः । योगसूत्र १।२१; अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः । सांख्य सूत्र ६।२२; न स्थाननियमश्चित्त प्रसादात् । सांख्यसूत्र ६।३१; वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः । वहीं ३।३१; मिलाइए यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् । ब्रह्मसूत्र ४।१।११ तथा देखिए वहीं ४।१।१,३,५

(६) देखिए बोधिराजकुमार सुत्त (मज्झिम-निकाय); मिलाइये बुद्धचरित १६।५

(७) न मलिनचेतस्युपदेशबीज प्ररोहोऽजवत् । सांख्य सूत्र ४।२९; नाभास-मात्रमपि मलिनहर्षणवत् । वहीं ४।३०

जोर दिया ही है। श्रुति के सम्बन्ध में सांख्यसूत्रकार एक स्थान पर कहते हैं कि श्रुति का विरोध रागियों के लिए वैराग्य का कारण नहीं होता[1] और श्रुति के विरोध से कुतर्की को आत्मलाभ नहीं होता[2] किन्तु दूसरी जगह 'नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः[3]' ऐसा भी कहते हैं। ये सब बातें अत्यन्त विचारणीय हैं। सांख्यसूत्रों ने अपने पांचवें अध्याय में 'न सर्वोच्छित्ति[4]' 'एवं शून्यमपि'[5] आदि रूप से शून्यवाद या 'अभाव' वाद का तथा अन्य अनेक सिद्धान्तों का खण्डन किया है जो उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदायों के सिद्धान्तों से वहुत कुछ समानता रखते हैं। चूंकि सभी 'आस्तिकवादी' दर्शनों के इस विषयक तर्क प्रायः एक से ही हैं और 'वौद्ध दर्शन और वेदान्त' के पारस्परिक सम्बन्ध दिखाने के प्रसंग में हम शंकर के द्वारा किए गए वौद्ध सम्प्रदायों के प्रत्याख्यानों पर आएँगे ही, अतः यहां इनका निरूपण न कर हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि सांख्य एक यथार्थवादी और जगत् की वास्तविकता में विश्वास करने वाला दर्शन है, अतः उन विज्ञानवादियों अथवा चेतनाद्वैतवादियों से इसका गहरा भेद है जो भौतिक पदार्थों को चेतना की धारा में ही परिणत करने के पक्षपाती हैं। इस प्रकार हमने बौद्ध दर्शन के साथ सांख्य दर्शन का कुछ अध्ययन किया, ऐतिहासिक रूप में भी और तात्विक रूप में भी। जवकि उनके विचारों में एक गहरी समानता है, उनके कुछ पारस्परिक विभेद भी हैं, जिन पर हम दृष्टिपात कर चुके हैं। भगवान् तथागत जब कि जीवन की गम्भीर समस्याओं को लेकर जीवन के एक शास्ता के रूप में हमारे सामने आते हैं तो सांख्यकार अधिकतर प्रकृति-पुरुष गवेषणा ही करते हैं जिसमें ज्ञान और विचार तो उपलब्ध होता है किन्तु हृदय नहीं मिलता, मानवता की अनुभूतियों के साथ एकात्मता नहीं मिलती, और यह दर्शन की एक बड़ी आवश्यकता है। कपिल मुख्यतः सृष्टि के

(१) न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः। सांख्यसूत्र ६।५१
(२) श्रुति विरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः। सांख्यसूत्र ६।३४
(३) नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम्। सांख्य-सूत्र १।८२
(४) न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात्। सांख्यसूत्र ६।७८
(५) सांख्य सूत्र ६।७९

विचारक हैं और बुद्ध मानव-जीवव के। वैसे इन दोनों के दर्शनों ने मनुष्य के स्वतंत्र विचार को बड़ा प्रोत्साहन दिया है, बुद्ध के समान कपिल के सिद्धान्त में मानवीय मस्तिष्क की स्वतंत्र शक्ति की अनुभूति है और इस दृष्टि से दोनों ही दर्शन भारतीय दर्शन में अद्वितीय स्थान प्राप्त करते हैं, ऐसा हम कह सकते हैं। अब हम योग दर्शन पर आते हैं।

बौद्ध दर्शन और योग सूत्र

योग दर्शन साधना का दर्शन है। अतः वह एक 'मार्ग' है और इस अर्थ में वह बुद्ध के मार्ग से एक बड़ी समानता रखता है। किन्तु फिर भी उसकी तात्विक परिस्थिति बौद्ध दर्शन के समान न होकर सांख्य दर्शन की ही है, अथवा जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, वह उसका एक उत्तर भाग ही है। विभिन्न तात्विक परिस्थितियों के होते हुए भी दो दर्शन अपने साधना-मार्ग में कितने समान हो सकते हैं, इसका एक अनुत्तर उदाहरण हम बौद्ध दर्शन और योग दर्शन में पाते हैं। यहां हमें साधना का जो मार्ग बुद्ध के उपदेशों में निहित है, उसकी तुलना पातञ्जल योग में निहित साधना से करनी है जो 'राजयोग' भी कहलाती है और जिससे अतिरिक्त मन्त्रयोग, लययोग और हठयोग ये तीन विभाग योग के और उपलब्ध होते हैं[१] जिनके विवेचन में हम यहां सम्भवतः नहीं जा सकेंगे, किन्तु चतुर्थ अध्याय में मन्त्रयान और वज्रयान आदि बौद्ध धर्म के जिन सम्प्रदायों का वर्णन हम कर आए हैं, उनकी प्रवृत्तियां ही योग के इन तीन विभागों का उपलक्षण करती हैं, इतना ही इनके लिए यहां कहना पर्याप्त होगा।

'योग' शब्द 'युज्' धातु से व्युत्पन्न है, अतः इसका अर्थ होता है 'युक्त करना'। इस अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद तथा अनेक उपनिषदों में उपलब्ध होता है[२], ऋग्वेद में हम मुनियों को तपस्या करते देखते हैं[३] और 'तपस्' की

(१) यह योग का चतुर्विध विभाग योगतत्व उपनिषद् में उपलब्ध होता है। योग के एक छः प्रकार के विभाग के लिए देखिए मैत्रायणी उप० ६।१८

(२) ऋ० १।३४।९; ७।६७-८; ३।२७।११; १०।३०।११; १०।११४।९; ४।२४।४; १।५।३; १।३०।७; शतपथ ब्राह्मण १४।७।१।११; मैत्रायणी० ६।१०; देखिए राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलासफ़ी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३२९ 'योग' के 'साधन' के अर्थ में रूप को हृदयंगम करने के लिए देखिए गीता० ३।३

(३) देखिए ऋ० १०।१३६

महिमा के वर्णन भी वहां ही उपलब्ध हैं[1]। उपनिषदों में भी ध्यान और समाधि के[2], तप और ब्रह्मचर्य के[3], तथा इन्द्रियों आदि को आत्मा में लय करने के[4] अनेक वर्णन हैं जिनमें योग के बीज वर्तमान हैं और जिन सब को व्यवस्थित स्वरूप ही योगसूत्रों में प्राप्त हुआ है। पतञ्जलि के पूर्व योग की एक प्रक्रिया रही होगी, यही तथ्य सम्भवतः योगसूत्रों का प्रथम सूत्र 'अथ योगानुशासनम्' बतलाता है। इस प्रकार भगवान् पतञ्जलि योग शास्त्र के उद्भावक न होकर केवल उसके 'अनुशासन' करने वाले ही हैं, ऐसा कहा जा सकता है, उनके महत्त्व को विना घटाए हुए। पातञ्जल योगसूत्रों का रचना-काल ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की चौथी शताब्दी तक हो सकता है, ऐसा विद्वानों का मत है[5]। अतः अधिकांश में योग-दर्शन, जैसा कि वह पतञ्जलि के योग-सूत्रों में उपलब्ध है, बुद्ध के उत्तर काल का ही है। किन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, योग का मार्ग बुद्ध के पहले भी प्रचलित था और उसी को एक व्यवस्थित स्वरूप पातञ्जल योग-सूत्रों के रूप में बाद में चलकर मिला। अन्य किन कारणों से भी वर्तमान योग-सूत्र पूरा का पूरा प्राग्बौद्धकालीन नहीं हो सकता, इसके प्रति कुछ उत्प्रेक्षण हम आगे जब इन साधन-मार्गों की तुलना कर उनके पारस्परिक खण्डन-मण्डन पर आएँगे, तब करेंगे। योगसूत्र चार भागों या पादों में विभक्त हैं, यथा (१) समाधि पाद, (२) साधन पाद, (३) विभूतिपाद और (४) कैवल्य पाद। यहां यही ढंग सम्भवतः उपयुक्त होगा कि हम योग-सूत्रों के दर्शन का वर्णन क्रमशः उनके चार पादों की विषय-वस्तु के निरूपण के

---

(१) देखिए ऋ० ३।३।९।१० तथा मिलाइये प्रथम प्रकरण में 'अध्यात्म-ज्ञान का अधिकारी कौन' विषय पर विचार।

(२) देखिए बृहदारण्यक० ४।१४; ३।५; ४।४; तैत्तिरीय० १; कठ० ३।१२; प्रश्न० ५।५

(३) देखिए छान्दोग्य० ३।१७।४; बृहदारण्यक० १।२।६; ३।८।१०; तैत्तिरीय० १।९।१; ३।२।१; ३।३।१; तैत्तिरीय ब्राह्मण० २।२।३।३; शतपथ ब्राह्मण ११।५।८।१;

(४) देखिए कठ० ३।१०-१३; ६।७-११; पूर्ण विस्तार के साथ इसके विवरण के लिए देखिए इसी प्रकरण में पीछे उपनिषदों के मनोविज्ञान का वर्णन।

(५) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३४१, पद संकेत २; मिलाइए दासगुप्त : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ २३० भी।

द्वारा करते चलें और साथ ही बुद्ध या बौद्ध मन्तव्य के साथ उसकी समता और असमता दिखाते चलें। हां, जिन तथ्यों पर संग्रहात्मक दृष्टि से विचार करना होगा, उन पर तो यह क्रम-भंग करके भी उसी तरह विचार करना ही होगा।

सर्व प्रथम तो इस प्रसंग में हमें यह कह देना चाहिए कि जिस प्रकार समग्र बुद्ध-शासन चार आर्य सत्यों पर प्रतिष्ठित है[१], उसी प्रकार योग-मार्ग भी दुःख, समुदय, निरोध और निरोध-मार्ग, इस चतुर्विध समस्या के विभाजन को लेकर ही प्रवृत्त होता है। उसका मन्तव्य है कि यह संसार दुःख-बहुल है, अतः हेय है, फिर वह कहता है कि प्रधान-पुरुष का संयोग ही हेय का हेतु है, अतः उस संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति ही हान है, और सम्यग्दर्शन ही हानोपाय है[२]। अतः न केवल बिखरे हुए सिद्धान्तों में ही बुद्ध-मार्ग और योग-मार्ग की समानता है, बल्कि अपनी मूलभूत बातों में भी दोनों दर्शन मिलते हैं। यहां यदि हम पातञ्जल योग के ऋण को बुद्ध पर आरोपित कर कुछ-कुछ कुमारिल की भाषा में ऐसा कहने को लालायित हों कि बौद्धों ने तो सब हमसे ही लिया हुआ है[३], तो हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि निश्चित ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर वर्तमान योग-सूत्र (और उसके ऊपर व्यास भाष्य का तो कहना ही क्या), बुद्ध के बाद के युग की रचना है और यदि बौद्ध प्रभाव को ही हम योग दर्शन पर अंकित करना चाहें तो हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि योग दर्शन तो एक 'अनु-शासन' मात्र है, अतः पूर्व से भी उसकी परम्परा चली आ सकती है। जो बात निश्चित रूप से कही जा सकती है और जो एक तुलनात्मक रूप से अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को रुचती भी है, वह यह है कि समग्र भारतीय साधना में अनन्त काल से जो विचार-धारा प्रसरण करती आ रही है, उसी का एक रूप बुद्ध के विचार के रूप में प्रकटित हुआ है और उसी का अन्य रूप योग-दर्शन में भी है। आश्चर्य कि उसी के एक रूप को भारतीय चिकित्सा शास्त्र ने भी प्रकट किया है[४]। दर्शन-विद्या भी तो एक प्रकार का अनुत्तर चिकित्सा-शास्त्र ही है। वह भी मानव के रोगों का इलाज करता है[५]। तब फिर वह भी चिकित्सा-शास्त्र के समान

(१) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'बुद्ध, धर्म, संघ' का विवरण।

(२) दुःखबहुलः संसारो हेयः प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः हानम्, हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। व्यासभाष्य २।१५

(३) देखिए आगे 'बौद्ध दर्शन और पूर्व मीमांसा'।

(४,५) यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्। रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति।

ही चतुर्व्यूह क्यों न हो[1] ? कहने की आवश्यकता नहीं कि बौद्ध दर्शन और योग-दर्शन ने इस तत्व को भली प्रकार समझा है और इस प्रकार दोनों ने समान रूप से एक ही सामान्य भारतीय परम्परा का प्रवर्तन किया है। फिर भी चार आर्य सत्यों का सिद्धान्त मूलतः बुद्ध धर्म की देन है, और सभी भारतीय दर्शनों के बिना किसी अपवाद के उसे स्वीकार किया है[2], ऐसा भी कहा जा सकता है। 'अद्वितीय भिषक्' (अनुत्तरो भिसक्को) की पदवी चूंकि समग्र भारतीय साधना में केवल बुद्ध ने ही धारण की, अतः चिकित्साशास्त्र की चतुर्व्यूहता जैसे उनके चार आर्य सत्यों पर घटती है वैसे पातंजल दर्शन पर नहीं। अतः कुछ न कुछ बौद्ध ऋण तो योग-सूत्रों पर मानना ही पड़ेगा, फिर चाहे आयुर्वेद की चतुर्व्यूहता बुद्ध-पूर्व युग की ही क्यों न हो। अस्तु, दुःख की व्यापकता पर दोनों दर्शन अत्यधिक जोर देते हैं। योग-दर्शन 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः[3]' कह कर प्रथम आर्य-सत्य की कुछ कम गम्भीर व्याख्या नहीं करता, किन्तु उसकी निवृत्ति के उपाय को लेकर साधना-पक्ष में जब कि वह बुद्ध के अनुकूल मार्ग पर ही चलता है, अपने तात्विक पक्ष में वह सांख्य-सम्मत 'शाश्वतवाद' को ही सम्यक् दर्शन और मुक्ति का मार्ग समझता है[4] जिसके समर्थन में अथवा खण्डन में बुद्ध का कोई प्रयोजन नहीं। बुद्ध न तो शाश्वतवादी हैं और न अशाश्वतवादी ही क्योंकि उन्होंने इन दोनों अतियों को छोड़ कर 'मध्यमा प्रतिपद्' का मार्ग निकाला है, जो शाश्वतवाद की सिद्धि होने पर भी अथवा न होने पर भी कायम रह सकता है। यहां हम पहले साधन-पक्ष को लें जो दोनों दर्शनों की एक प्रकार से आत्मा है।

एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय एवेति। व्यासभाष्य २।१५

(१) दार्शनिक मानसिक रोगों के चिकित्सक होते हैं, इस विचार के लिए देखिए पीछे पृ० १४३-१४४

(२) देखिये चेरवास्की : दि कन्सेप्शन ऑव बुद्धिस्ट निर्वाण, पृष्ठ ५४-५५ (लेनिनग्राड, १९२७)

(३) परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। योगसूत्र २।१५

(४) तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हतीति। हाने तस्योच्छेदवादप्रसंगः। उपादाने च हेतुवादः। उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम्। व्यासभाष्य २।१५

चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है[१]। किन्तु चित्त क्या है और उसकी वृत्तियां क्या हैं और उनके निरोध से क्या तात्पर्य है, इन बातों पर भी तो आवश्यक रूप से विचार करना ही ठहरा, यदि योग को अपनी तात्विक स्थिति रखनी है। और यह कार्य योगदर्शन ने किया भी है। किन्तु उसने ध्यान या समाधि के रूप में ही इस समस्या पर विचार किया है, जब कि 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन में, जैसा कि हमने पहले देखा, उसकी 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' कर्ममयी व्याख्या की गई है। योगदर्शन के अनुसार चित्त की पांच भूमियां हैं, क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। सांख्यों ने जिसे 'महत्' कहा है, उसे ही योग 'चित्त' कह कर पुकारता है। अतः वाचस्पति मिश्र के साक्ष्य पर इसमें अन्तःकरण भी स्वतः उपलक्षित है ही[२]। बौद्ध मनोविज्ञान में चित्त का क्या स्वरूप है, इसके लिए तो चतुर्थ प्रकरण ही द्रष्टव्य है। प्रकाश (प्रख्या), प्रवृत्ति और स्थिति युक्त होने से चित्त त्रिगुणात्मक है[३]। चित्त के समष्टि और व्यष्टि स्वरूपों को लेकर द्विविध विभाग भी है, यथा 'कारण चित्त' और 'कार्य-चित्त'। रजस् और तमस् के निरोध के द्वारा चित्त को उसके 'कारण चित्त' स्वरूप में अनुप्रवेश करा देना ही योग का लक्ष्य है। चित्त के द्वारा ही हम बाह्य पदार्थों के संसर्ग में आते हैं[४], अतः चित्त और बाह्य पदार्थों की हम एक ही साथ अनुभूति नहीं कर सकते[५] और न दो विचार साथ ही उत्पत्ति में आ सकते हैं[६]। चित्त के व्यापारों के कारण ही यह भव-चक्र निरन्तर आवर्तन हुआ चला जा रहा करता है। इसी के कारण कामनाएँ, अहंकार आदि उत्पन्न होते हैं और पुरुष बन्धन में पड़ता है। अतः चित्त की वृत्तियों का निरोध अत्यन्त आवश्यक है। चित्त की वृत्तियां पांच हैं यथा, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। ये पुनः दो स्वरूपों वाली होती हैं, यथा क्लिष्ट और अक्लिष्ट[७]। क्लिष्ट वे हैं जो क्लेश

---

(१) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र १।२

(२) चित्त शब्देन अन्तःकरणं बुद्धिम् उपलक्षयति।

(३) चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्। व्यासभाष्य० १।२

(४) द्रष्टव्य योगसूत्र २।६, १७,२०

(५) द्रष्टव्य योगसूत्र ४।२० व्यास भाष्य-सहित।

(६) द्रष्टव्य योगसूत्र ४।१९ व्यास भाष्य-सहित।

(७) वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। योगसूत्र १।५; प्रमाण-विपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः। योगसूत्र १।६

की कारण हैं और कर्माशय प्रचय में जो क्षेत्रीभूत हो गई हैं, इनके अतिरिक्त जो ज्ञान की कारण तथा क्लेश करने वाली नहीं हैं, वे वृत्तियां अक्लिष्ट हैं[1]। इस विभाग की कुछ समानता हम 'कुशल' और 'अकुशल' चित्तों से कर सकते हैं, किन्तु इस समानता को हमें अधिक बढ़ाना नहीं चाहिए। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ही पांच क्लेश हैं[2]। अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म पदार्थों में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मा की ख्याति अथवा भावना करना ही अविद्या है[3]। कहने की आवश्यकता नहीं कि चतुरार्य सत्य सम्बन्धी अज्ञान जो 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन में अविद्या का पर्यायवाची है[4], इस योग की 'अविद्या' की परिभाषा से बहुत कुछ सम्बन्ध रखता है। यह कहना कि दुःख को जो सुख करके माने, दुःख के समुदय को जो सुख का समुदय माने, दुःख के निरोध को जो उसके विपरीत माने और दुःख निरोध गामी मार्ग को जो न जाने, बिलकुल उसी तरह कहना है जैसे कि अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा मानना। पञ्चस्कन्ध अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी क्लेश रूप ही हैं, फिर उनमें सुख की कल्पना, उन अनात्म पदार्थों में 'आत्मा' की कल्पना, उन अनित्य पदार्थों में नित्य की कल्पना करना यह भी तो अविद्या स्वरूप ही सब भगवान् ने बताया था, 'इसे कहते हैं भिक्षुओ! मतवाद में जा पड़ना.... यह सब अविद्या ही अविद्या है' ऐसा कह कर[5]। अतः जिस नैतिक अर्थ में अर्थात् अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म पदार्थों से उनके विपरीत पदार्थों के पृथक् करने की भावना में योग दर्शन 'अविद्या' का अर्थ लेता है, उस अर्थ में वह 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन में निहित 'अविद्या' (जहां कारणवाद से उसका कोई सम्बन्ध नहीं) के कुछ समान ही है, क्योंकि यथा अविद्या से संस्कारों आदि के

---

(१) मिलाइये, क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः। व्यासभाष्य १।५

(२) अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। योगसूत्र २।३

(३) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्याशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। योगसूत्र २।५

(४) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' विवेचन; देखिए स्थविर ज्ञानातिलोक के 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक के अन्त में 'पटिच्चसमुप्पाद' का विवेचन भी।

(५) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'अनातमवाद' का विवेचन।

बीच में होते हुए जन्म, जरा, मरण, दुःख, मानसिक उद्वेग आदि का 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन प्रख्यापन करता है उसी प्रकार योग-दर्शन की भी यह अप्रतिहत आवाज़ है 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्'[१] अर्थात् अविद्या ही इन उपर्युक्त अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप क्लेशों की प्रसवभूमि है और ये अस्मिता आदि भी चार प्रकार से कल्पित हो सकते हैं, यथा प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। इस विषय को बिना आगे बढ़ाए (यह बहुत आगे बढ़ाया जा सकता है, बौद्ध मनोविज्ञान के सहारे) हम आगे चलते हैं। दृक् और दर्शन की शक्तियों की एकात्मता ही अस्मिता है[२]। बौद्ध दर्शन में 'अहं' भाव की उत्पत्ति पञ्चस्कन्धों से कैसे उठ खड़ी होती है, यह चतुर्थ प्रकरण में ही द्रष्टव्य है[३]। यहां पर हम बौद्ध दर्शन की विशेष समानता योग दर्शन से नहीं दे सकते। बौद्ध दर्शन निषेधात्मक दिशा में अधिक पग बढ़ाए चला जाता है जब कि योग का सभी प्रयत्न एक स्थिर तत्व की स्थापना करने के लिए ही है। सुख या उसके साधन में गर्द्ध, तृष्णा या लोभ रखना ही योग के अनुसार राग है[४] और दुःख या उसके साधन में, प्रतिघ, मन्यु, जिघांसा या क्रोध रखना ही द्वेष है[५]। 'ऐसा कभी न हो कि मैं कभी न होऊँ, मैंतो सदा होऊँ ही' इस प्रकार जो स्वभावतः ही सब प्राणियों का अभिनिवेश है,(बौद्ध आत्मोपादान की कितनी समानता है—कुछ उत्तरकालीन बौद्ध आचार्य तो इसको 'आत्माभिनिवेश' कहते भी हैं[६]) वही 'अभिनिवेश' कहलाता

(१) योगसूत्र २।४

(२) दृग्दर्शनशक्तयोकात्मतेवास्मिता। योगसूत्र २।६, मिलाइये, पुरुषो दृक्शक्तिबुद्धिः दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। उक्त पर व्यास भाष्य।

(३) 'अनात्मवाद' के विवेचन में।

(४) सुखानुशयी रागः। योगसूत्र २।७; सुखे तत्साधने वा यो गर्द्धस्तृष्णा लोभः स रागः। उक्त पर व्यासभाष्य।

(५) दुःखानुशयी द्वेषः। योगसूत्र २।८; दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः। उक्त पर व्यासभाष्य।

(६) 'आत्मवाद', 'सत्काय दृष्टि', 'आत्मग्रह', 'आत्मदृष्टि', 'आत्माभिनिवेश', ये सब बौद्ध दर्शन में पर्यायवाची शब्द हैं, देखिये पं० विधुशेखर भट्टाचार्यः दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ७८, पदसंकेत ३०

है[१]। यहां तक तो दोनों समान हैं, किन्तु आगे दोनों अलग-अलग रास्ता ले लेते हैं। बुद्ध कहते हैं कि जब 'आत्मा' नाम का कोई पदार्थ इन बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों में मिलता ही नहीं तो 'अभिनिवेश' किसके लिए बढ़ाना, जब 'मैं' वास्तव में है ही नहीं तो शोक किसके लिये करना, सच्ची समाधि तो लगनी है। इसके व्यतिरिक्त योग कहता है कि जब वास्तविक स्वरूप शाश्वत, स्वच्छ, आत्म स्वरूप और सुख स्वरूप है तो फिर अनित्य, अशुचि, अनात्म और दुःख पदार्थों में अभिनिवेश क्यों करना ? यहां भी तो समाधि लगनी ही है। 'एक गांठि कई फेरे।' अब हम वृत्तियों पर लौटते हैं। प्रमाण को योगसूत्र ने एक वृत्ति के रूप में लिया है और उसके तीन प्रकार किए हैं, यथा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम[२]। अन्य वृत्तियों में मिथ्याज्ञान ही संक्षेपतः विपर्यय[३], वस्तुशून्यत्व होने पर भी शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धन मात्र व्यवहार ही विकल्प[४], अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति ही निद्रा[५] और अनुभूत विषयों का ग्रहण ही स्मृति है[६]। इन सब उपर्युक्त वृत्तियों के निरोध के द्वारा ही सम्प्रज्ञात और बाद में असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है जो योग दर्शन का मुख्य लक्ष्य है। किन्तु इस पर आने से पूर्व हम साधन को देखें, जो भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

हम जानते हैं कि बुद्ध के समय में अनेक प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थीं। बुद्ध ने भी उरुवेला में अनेक प्रकार की तपस्याएँ की थीं जिनका वर्णन हम चतुर्थ प्रकरण में कर चुके हैं। बुद्ध योगी थे। स्वयं आचार्य शंकर ने उन्हें अपने एक स्तोत्र में 'योगिनां चक्रवर्ती' कहा है। बुद्ध-धर्म की व्याख्या

योग : बौद्ध और पातञ्जल

---

(१) स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः। योगसूत्र २।९; सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मानभूवं भूयासमिति .... यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः। कस्मात् समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोः मरणदुःखानुभवादियं वासना। उक्त पर व्यासभाष्य।

(२) द्रष्टव्य योगसूत्र १।७

(३) द्रष्टव्य योगसूत्र १।८

(४) द्रष्टव्य योगसूत्र १।९

(५) द्रष्टव्य योगसूत्र १।१०

(६) द्रष्टव्य योगसूत्र १।११

योग की एक शाखा के रूप में भली प्रकार की जा सकती हैं। उनके मार्ग की पातञ्जल योग से क्या समानता है, यही अब हमें देखना है। योगदर्शन अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध सम्भव मानता है[१] और हम देख चुके हैं कि बुद्ध ने निर्वेद के प्राप्त कराने के लिए ही अनात्मवाद का उपदेश दिया था। फिर सम्यक् सम्बुद्ध 'सम्यक् प्रधान' वादी थे, इस पर भी यहां जोर देने की जरूरत नहीं। अभ्यास बुद्ध-धर्म का सार है और उसी पर वह प्रतिष्ठित है। योग दर्शन का मत है कि दीर्घकाल तक तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा से सेवन किया हुआ अभ्यास और सभी विषयों में वशीकार संज्ञा रूप वैराग्य[२] ही संप्रज्ञात समाधि के कारण होते हैं। यह सम्प्रज्ञात अथवा सालम्बन समाधि चार श्रेणियों में विभाजित की गई है, यथा (१) सवितर्क, (२) वितर्कविकल सविचार, (३) विचारविकल सानन्द तथा (४) आनन्द-विकल केवल अस्मिता मात्र[३]। देखिए इस चतुर्विध संप्रज्ञात समाधि की बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट इन चार ध्यानों से कितनी समानता है: "भिक्षुओ! भिक्षु चित्त के उपक्लेश, प्रज्ञा को दुर्बल करने वाले पांच बन्धनों को छोड़, काय वितर्क से रहित हो, बुरे विचारों से रहित हो, प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विचरता है, जिसमें वितर्क और विचार हैं तथा जो एकान्त वास से उत्पन्न होता है और जिसमें प्रीति और सुख रहते हैं। भिक्षुओ! प्रथम ध्यान में वितर्क रहता है, विचार रहता है, प्रीति रहती है, सुख रहता है और रहती है चित्त की एकाग्रता'। 'और फिर भिक्षुओ! भिक्षु वितर्क और विचारों के उपशम से अन्दर की प्रसन्नता और एकाग्रता रूपी द्वितीय ध्यान को प्राप्त होता है, जिसमें न वितर्क होते हैं, न विचार, जो समाधि से उत्पन्न

(१) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। योगसूत्र १।१२

(२) जिसको ही वह ज्ञान की पराकाष्ठा और कैवल्य का ही एक प्रकार से अपर नाम कहता है 'ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकम् कैवल्यमिति'। व्यासभाष्य १।१६; अभ्यास और वैराग्य की परिभाषाओं के लिए देखिए क्रमशः योगसूत्र १।१३ एवं १।१५

(३) वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः। योगसूत्र १।१७; तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारस्तृतीयो विचारविकलः सानन्दः चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः। उक्त पर व्यासभाष्य।

होता है और जिसमें प्रीति तथा सुख रहते हैं'। 'और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु प्रीति से भी विरक्त हो उपेक्षावान् बन विचरता है। वह स्मृतिमान्, ज्ञानवान् होता है और शरीर से सुख का अनुभव करता है। वह तृतीय ध्यान को प्राप्त करता है जिसे पण्डितजन उपेक्षावान्, स्मृतिवान्, सुखपूर्वक विहार करने वाला कहते हैं'। 'और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु सुख और दुःख, दोनों के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य दोनों के पहले से अस्त हुए रहने से, चतुर्थ ध्यान को प्राप्त करता है जिसमें न दुःख होता है न सुख और केवल उपेक्षा तथा स्मृति की परिशुद्धि ही होती है'[१]। यदि लक्ष्य एक हो और साधन एक हों तो दूर-दूर नहीं जा सकते। फिर असंप्रज्ञात समाधि[२] के लिए भी जिन पांच साधनों यथा श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा का विधान योग दर्शन में किया गया है[३], वे बिलकुल वैसे-के-वैसे ही तो बुद्ध के उपदेशों पांच इन्द्रियों के रूप में निहित हैं। इतना ही नहीं चित्त के प्रसादन के लिए जिन चार भावनाओं यथा मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावनाओं का उपदेश योग-दर्शन में दिया गया है[४], वे भी बिलकुल उसी रूप में 'चार ब्रह्म विहारों' के रूप में बुद्ध के उपदेशों में रखी हुई हैं, जिनके विषय में यहां कुछ बताने की जरूरत नहीं है। इसी प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप जो योग के आठ अंग हैं, इनमें से भी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह रूप जो यम हैं जो जातिदेशकालसमयानवच्छिन्न सार्वभौम महाव्रत हैं, शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान (इसको तो छोड़कर) रूप जो नियम हैं[५], वे भी सब बोधिपक्षीय धर्मों में तो क्या केवल आर्य अष्टांगिक मार्ग में ही निहित हैं, ऐसा मर्मज्ञ जन जान सकते हैं। इनके फलों का भी जो

(१) चूलहत्थिपदोपम सुत्त (मज्झिम निकाय); महावेदल्लसुत्त (मज्झिम निकाय); भगवान् बुद्ध ने सम्बोधि लाभ करते हुए किस प्रकार इन चारों ध्यानों की प्राप्ति की थी, इसके लिए देखिये ब्राह्मण वेरञ्जक सुत्त (अंगुत्तर० ८।१।२।१) तथा चौथे प्रकरण में देखिये 'बुद्ध-धर्म-संघ' भी।

(२) जिसका स्वरूप इस प्रकार है 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। योगसूत्र १।१८

(३) श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्। योगसूत्र १।२०

(४) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्। योगसूत्र १।३३

(५) देखिए योगसूत्र २।२९-३२

वर्णन है[१] वह भी योग दर्शन का जैसा ही प्रायः बुद्ध के द्वारा वर्णित हुआ है और विशेष बात यह है कि दोनों इसी जन्म में साक्षात्करणीय वस्तुओं को लेकर चलते हैं यथा योग में 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः[२], उसी प्रकार भगवान् तथागत के द्वारा भी 'भिक्षुओ ! जो कोई भिक्षु इन चार स्मृति-प्रस्थानों की सात वर्ष तक भावना करे उसे दो फलों में से एक फल की प्राप्ति अवश्य होगी .... छः वर्ष, पांच वर्ष, सप्ताह भर भी भावना करे.... इत्यादि[३] ।'

भगवान् बुद्ध ने आनापान-सति के रूप में प्राणायाम का उपदेश दिया ही था[४] यद्यपि साधारण पुरुषों के लिए उनका शील और अप्रमाद का ही उपदेश था। भगवान् पतञ्जलि ने भी यमनियमादि के बाद ही इस प्रसंग को उठाया है और फिर अत्यन्त साधारण रूप में ही इस पर अपने सूत्रों में विचार किया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बौद्ध साधना मार्ग और पातञ्जल मार्ग में व्यावहारिक रूप से विभेद नहीं है। जो व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति, दर्शन-अलब्ध- भूमिकत्व, अनवस्थित्वऔर चित्तविक्षेप रूपी अन्तराय एवं इनके साथ होने वाले दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास और विक्षेप[५] रूपी विघ्न एक पातञ्जल योगी के लिए हैं उसी प्रकार वे बौद्ध मार्ग पर चलने वाले साधक के लिए भी हैं, भेद केवल इतना ही है कि वह (बौद्ध) उन्हें या तो पांच नीवरण यथा कामच्छन्द, व्यापाद स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा कह कर पुकारता है या दस संयोजन यथा सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शील व्रत परामर्श, कामराग, व्यापाद, रूप-राग, अरूप-राग, मान, उद्धतता और अविद्या के रूप में देखकर उनसे बचने का प्रयत्न करता है। तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी मार्ग उस साधना के लिए अपेक्षित है जहां से जाता हुआ मनुष्य पातंजल सूत्रों की भाषा में ही कह सके 'ततः परमावश्तेन्द्रियाणां'[६] वह मार्ग भगवान् पतञ्जलि समान के भगवान् बुद्ध को भी सम्मत है। एक विशेष बात जो योग सूत्रों में मिलती है वह है 'ईश्वर प्रणिधान' का वैकल्पिक महत्व। 'ईश्वरप्रणिधान' को भगवान् पतञ्जलि ने

(१) देखिए योगसूत्र २।३५-४५
(२) योगसूत्र २।३५
(३) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ निकाय)
(४) देखिए आनापाण सति सुत्त (मज्झिम निकाय)
(५) देखिए योगसूत्र १।३०-३१
(६) योगसूत्र २।५५

समाधि की प्राप्ति में सहायक माना है और उसको एक 'पुरुष विशेष' कह कर परिभाषित किया है, उसमें 'निरतिशय सर्वज्ञ बीज' का होना बताया है, पूर्वजों का भी उसे गुरु बताया है और उसके वाचक प्रणव के जप और उसके अर्थ भावन से दिखाई है प्रत्यक् चेतना के अधिगम एवं योग के मार्ग में सभी अन्तरायों के अभाव की सम्भावना, अतः उनके क्रियायोग में तपस् और स्वाध्याय के साथ ईश्वर प्रणिधान ने भी एक आवश्यक स्थान पाया है[1]। बुद्ध ने इसके विना ही अपना काम चला लिया है। इस प्रकार हमने अलग-अलग बातों को लेकर बौद्ध और पातंजल साधन-मार्ग की कुछ समानताओं को दिखया है। समष्टिगत रूप में यह समानता और भी आश्चर्यकारी है। शील, समाधि और प्रज्ञा के वर्गीकरण में बौद्ध योग वर्गीकृत है और इसका अन्तर्भाव योग के आठ अंगों में भली प्रकार दिखाया जा सकता हैं, बिलकुल उसी क्रम के साथ। योग की वैराग्य और अनित्य, अशुचि और दुःख की भावनाएँ बौद्ध विपस्सना (विदर्शन) के ही रूपान्तर मात्र हैं जो बौद्ध ध्यान-योग की आधार-स्वरूप है। इसी प्रकार योग का समाधि का द्विविध वर्गीकरण प्रायः बौद्ध उपचार समाधि और अर्पणा समाधि के समान ही है। भगवान् पतञ्जलि ने अनेक प्रकार की विभूतियों का वर्णन भी अपने सूत्रों के तृतीय पाद में किया है, किन्तु आध्यात्मिक मार्ग में उन्हें बाधक स्वरूप ही माना है[2]। सम्यक् सम्बुद्ध ने विभूतियों की सम्भावना को स्वीकार किया था और स्वयं उनमें अनेक विभूतियों की विद्यमानता थी किन्तु उनका प्रदर्शन उन्हें सह्य न था। हम जानते हैं कि सुनक्खत्त लिच्छविपुत्त तो उन्हें इसीलिए छोड़कर चला गया था कि भगवान् कोई ऋद्धि-प्रतिहार्य नहीं दिखाते। इस विषय में पतञ्जलि और बुद्ध एकमत हैं। योगसूत्र में कहा गया है कि जब मनुष्य प्रकृति और पुरुष के विवेक को प्राप्त कर लेता है तो उसकी इस प्रकार की सभी भावनाएँ कि 'मैं कौन था? मैं कैसे था? यह क्या है? यह कैसे है? हम क्या होंगे? हम कैसे होंगे?' निवृत्त हो जाती हैं[3]। इस तथ्य के

(१) देखिए योगसूत्र १।२३-२९ एवं २।१

(२) देखिए योगसूत्र ३।३७; ३।५०-५१

(३) विशेष दर्शिन आत्म भाव भावना विनिवृत्तिः। योगसूत्र ४।२५;.....तत्र आत्मभावभावना कोऽहमासं कथमहमासं किंस्विदिदं कथंस्विदिदं के वा भविष्यामः कथं भविष्याम इति। सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तते ॥ उक्त पर व्यासभाष्य।

प्रकाश में हम न केवल बुद्ध के मौन को ही किन्तु सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों को अव्याकृत कर अपने शिष्यों को सदा मूल वस्तु का आचरण करने की आज्ञा देने को अच्छी तरह समझ सकते हैं। योगसूत्रों में कर्म को जीवन का नियामक तत्त्व स्वीकार किया गया है[१]। पूर्वजन्म को भी वे मानते हैं[२]। जिस उच्चत मानसिक दशा में उन्होंने क्लेश और कर्म की निवृत्ति मानी है, सभी मलों की निवृत्ति से ज्ञान की अनन्तता मानी है और गुणों की समाप्ति रूप 'धर्म मेघ' समाधि की अवस्था मानी है, उस सबके समान रूप भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट ध्यान मार्ग में मिल सकते हैं, जिनको हम चतुर्थ प्रकरण में उपनिषदों के मनोविज्ञान और अंशतः चतुर्थ प्रकरण में के प्रसंग में उद्धृत कर चुके हैं। कैवल्य के विषय में हम जो कुछ सांख्य-दर्शन के प्रसंग में कह चुके हैं, उसे यहां भी समझना चाहिए। अब हम योगसूत्रों में उपलब्धउत्तरकालीन बौद्ध दर्शन-सम्प्रदायों के खण्डन पर आते हैं।

योगसूत्र ३।५२ में[३] सौत्रान्तिकों के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है कि काल क्षणों का एक क्रम मात्र है और योगसूत्र ४।१५–१७ में[४] विज्ञानवाद का खण्डन उपलब्ध होता है।

दोनों की दार्शनिक परिस्थिति

काल का विषय योगदर्शन में संयम का निरूपण करते हुए आता है। योगदर्शनकार का कहना है कि क्षण और उनके क्रमों पर संयम करने से विवेक से उत्पन्न ज्ञान प्राप्त होता है। 'क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्'[५] किसी द्रव्य का अपकर्ष करते-करते जब अन्त में उसका अपकर्ष नहीं हो सकता तब वह परमाणु

---

(१) क्योंकि, क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। योगसूत्र २।१२; सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। योगसूत्र २।१३

(२) द्रष्टव्य योगसूत्र ४।९

(३) जाति लक्षण देशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः। ३।५२

(४) यथा क्रमशः, वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः; न चैकचित्त-तन्त्रं चेद्वस्तु तत्प्रमाणकं तदा किं स्यात्; तदुपरागपेक्षित्वापेच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्। 'वैनाशिक' मत के खण्डन के लिए व्यासभाष्य ४।२१ भी द्रष्टव्य है।

(५) ३।५१

कहलाता है, इसी प्रकार काल का भी अपकर्ष करते-करते जब अन्तिम दशा पर पहुंच जाते हैं जिससे परे कि उसका अपकर्ष नहीं हो सकता, तब उसे क्षण कहते हैं। अथवा उतने कालमात्र को हम क्षण कह सकते हैं जितनी देर में कि एक परमाणु अपने पूर्व स्थान को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर पहुंचता है।

इन क्षणों के प्रवाह का निरन्तर चलते रहना ही उनका क्रम है। क्षण और उनके क्रमों का वस्तुतः समाहार नहीं है अर्थात् वे वस्तुओं के समाहार नहीं हैं। मुहूर्त, दिन और रात केवल बुद्धि समाहार हैं। इस प्रकार यह काल स्वयं वस्तु-शून्य होता हुआ भी, केवल बुद्धिनिर्माण मात्र होता हुआ भी, और मस्तिष्क में केवल शब्दज्ञान के रूप में आता हुआ भी, उन मनुष्यों को जिनकी प्रवृत्तियां बहिर्मुख हैं, वस्तुसत् या वस्तुस्वरूप सा दिखाई देता है। किन्तु क्षण तो सत्ताशील वस्तु की ही श्रेणी में आता है और वह क्रम का आलम्बन करने वाला है। क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। (व्यास भाष्य ३।५१)। यह क्रम ही क्षणों के एक के बाद एक के आने के भाव (आनन्तर्य) पर व्यवस्थित होता है। उसी को काल जानने वाले योगी काल कहते हैं। अतः क्षण तो वास्तव में एक सता-शील वस्तु है, क्रम इसको एक मात्र आधार देता है और वह आधार ही केवल बुद्धिनिर्माण है, क्षण नहीं। जो क्षण भूत हैं या जो भावी हैं, वे सब परिणामान्वित ही हैं और उस एक ही क्षण से लोक परिणाम का अनुभव करता है और उसी एक क्षण से उपारूढ़ ये सब धर्म हैं। उस क्षण और उसके क्रम के संयम से उनका साक्षात्कार होता है और फिर उससे विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है जिसके द्वारा योगी क्षण-भेद का अपनी बुद्धि से अवगमन करता है जबकि साधारण जन जाति, लक्षण और देश के विभेदों से ही वैसा करने में समर्थ होते हैं।[1] बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध योग का प्रधान तर्क यह है कि असत् की विद्यमानता नहीं है और सत् का विनाश नहीं है, अतः अतीत और अनागत वस्तुतः ही सत्ता रखते हैं। भविष्यत् वह है जो अनागत में व्यक्त होने वाली वस्तु है और जो अनुभूत वस्तु है वही अतीत है और जो व्यापार इस समय उपारूढ़ है वह वर्तमान है। ये तीनों ही वस्तुएं

(१) विस्तार से इस विषय में योग दर्शन की दृष्टि को देखने के लिए व्यासभाष्य ३।५१-५२ द्रष्टव्य हैं।

ज्ञान की ज्ञेय हैं। यदि ये वस्तुएं वास्तव में होती ही नहीं, तो ज्ञान ही कैसे उत्पन्न हो जाता? ज्ञेय वस्तु के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव है? अतः अतीत और अनागत भी स्वरूपतः हैं ही। (त्रयं चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति। व्यासभाष्य ४।१२)। फिर कर्मों के फल की दृष्टि से भी योग दर्शन सत्ता के तीन मार्गों यथा भूत्, वर्तमान और भविष्यत् की वास्तविक स्थिति को स्वीकार करता है[१]। वह अभाव से भी उनके उद्गमन को सम्भव नहीं मानता।[२] विज्ञानवाद के विरुद्ध योग दर्शन का सबसे तीव्र शब्द यह है 'परिणामैकत्वात् वस्तुतत्वम्'[३] अर्थात् प्रख्या, (प्रकाश,) क्रिया और स्थितिशील गुणों का करण (इन्द्रियों) के रूप में एक ही परिणाम होता है। पृथ्वी परमाणु शब्द का परिणाम है जो मूर्ति के साथ अवस्थित है। यह तन्मात्रा का ही अवयव है। इन परमाणुओं के एक परिणाम ही पृथिवी, गौ, वृक्ष, पर्वत आदि हैं। अतः कोई ऐसा अर्थ तो नहीं है जो विज्ञान के बिना हो। किन्तु ज्ञान अर्थ के बिना भी हो सकता है, यथा स्वप्नादि में कल्पितज्ञान। (नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः। अस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितम्। व्यासभाष्य ४।१४)। अतः विज्ञानवादियों की ही ओर स्पष्ट लक्ष्य कर व्यास भाष्य में कहा गया है 'अनया दशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु। स्वप्नविषयोपमं तु न परमार्थतोऽस्ति इति ये आहुस्ते तथेति। प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानवलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः'[४] इन्हीं विज्ञानवादियों की ओर लक्ष्य कर एक अन्य स्थान में व्यासभाष्य में ही कहा गया है 'केचिदाहुः। ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात् सुखादिवदिति। त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरक्षणेषु वस्तु-

---

(१) किञ्च भोगभागीयस्य वाऽपवर्गभागीयस्य वा कर्मण फलमुत्पित्सु यदि निरूपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठान न युज्येत। सतश्च फलस्य निमितं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वोपजनने सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहं कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति। व्यासभाष्य ४।१२

(२) देखिए व्यासभाष्य ४।१२ ही।

(३) योगसूत्र ४।१४

(४) " ४।१४ ही।

स्वरूप मेवापह्नवते'[१] । ये विज्ञानवादी योग दर्शन के लिये 'अनुकम्पनीय' प्राणी हैं[२]। इन सबका उत्तर योग सूत्र और व्यासभाष्य में इसी प्रकार दिया गया है कि बाह्य पदार्थ के एक होने पर भी चित्त के भेद होने से उनके मार्ग विभिन्न हो सकते हैं।[३] वस्तु तो एक ही रहती है, उसके विषय में विचार चाहे बदलते रहें। किन्तु इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह एकचित्तपरिकल्पित है अथवा अनेकचित्तपरिकल्पित है। वह तो केवल स्वप्रतिष्ठ है, ऐसा ही कहा जा सकता है। एक ही वस्तु से किसी के चित्त में सुख पैदा है, किसी के चित्त में दुःख पैदा होता है, अथवा जिन जिन दृष्टिकोणों से मनुष्य उसे देखते हैं, वह वैसी ही भावनाओं का उद्रेक उनके चित्त में करती है। इस प्रकार विचारों और वस्तुओं की तो सत्ता का पन्थाः ही भिन्न-भिन्न है। 'नानयोः सङ्करगन्धोऽप्यस्तीति' (व्यासभाष्य ४।१५) इनमें सम्मिश्रण का गंध मात्र भी नहीं है। अतः वस्तु किसके विचार या चित्त से परिकल्पित कही जा सकती है? (कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितम्? व्यासभाष्य ४।१५)। यदि वस्तु एक चित्त के अधीन होती तो उस चित्त के व्यग्र या विरुद्ध होने पर उस वस्तु का भी कोई प्रमाण नहीं होता, क्योंकि न वह किसी दूसरे चित्त के सम्बन्ध में आती और न उसका अनुभव होता। फिर चित्त से जिन पदार्थों का सम्पर्क नहीं होता वे तो अस्तित्व में ही आए किसी प्रकार नहीं कहे जा सकते, और योगभाष्य की मधुर व्यंग्योक्ति में 'एवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि नागृह्येत' जब पीठ ही नहीं होगी तो उदर कहां से ग्रहण कर लिया जायगा? अतः योगदर्शन ने विज्ञानवाद का खण्डन कर अपना यही सिद्धान्त स्थापित किया है कि वस्तु स्वप्रतिष्ठ है और वह सर्वपुरुष-साधारण है, चित्त भी स्वप्रतिष्ठ है और वह भी प्रतिपुरुष प्रवर्तन करता है। चित्त और वस्तु के सम्बन्ध से ही उपलब्धि होती है, जो पुरुष का भोग है[४]।

---

(१) व्यासभाष्य ४।१५

(२) मिलाइये विज्ञानवादियों की ओर ही संकेत करके 'अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं नास्ति खलु अयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति।' अनुकम्पनीयास्ते । योगभाष्य ४।२३

(३) वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः । योगसूत्र ४।१५

(४) तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि चाचित्तानि प्रतिपुरुषः

वास्तव में योगशास्त्र के अनुसार चित्त केवल बाह्य वस्तु से उपरञ्जित मात्र होता है और जिस किसी विषय के द्वारा चित्त उपरक्त हो जाता है वही विषय उसका ज्ञात हो जाता है और जो ऐसा नहीं होता वह अज्ञात रहता है[1]। वस्तु के ज्ञात और अज्ञात स्वरूप होने से चित्त परिणामशील होता है, किन्तु वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता का अपलाप तो किसी प्रकार किया ही नहीं जा सकता।

इस प्रकार हमने योग-दर्शन और बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध को देखा। हमने साधना-पक्ष में दोनों में एक अद्भुत एकता पाई। केवल पातञ्जल

उपसंहार

योग में हमने ईश्वरप्रणिधान को भी समाधि-भावना की सहायतार्थ एक स्थान लेते हुए पाया, किन्तु यह केवल सहायतार्थ ही, प्रधान रूप में कभी नहीं। सम्भवतः भगवान् पतञ्जलि ने ऐसा अपने योग को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए किया हो, अथवा 'तस्य वाचकः प्रणवः' ऐसा कहना उनका अपने योग को औपनिषद ओंकार की उपासना (माण्डूक्य उपनिषद् द्रष्टव्य) में मिलाने के प्रयत्न स्वरूप ही सम्भव हो सका हो और 'पुरुष विशेष' कहना वे सांख्य के तत्वदर्शन के प्रति भक्ति के कारण न छोड़ सके हों। किन्तु यह सब कल्पना भी हो सकती है। जो बात हमारे लिए यहां महत्वपूर्ण है वह यह है कि योग दर्शन के साधना मार्ग में जबकि ईश्वर-प्रणिधान का विकल्प से स्थान है, तथागत ने उसकी आवश्यकता को अनुभूत नहीं किया है। अन्य सब बातों में दोनों के मार्ग प्रायः समान हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से जो विभेद योग और सौत्रान्तिक और योगाचार बौद्ध दर्शन-सम्प्रदायों के दृष्टिकोण में है वह भी हमने देखा है। विभिन्न तात्विक बुनियादों पर भी खड़े हुए दर्शन जब जीवन के एक विशुद्धिमार्ग को खोजने के लिए प्रवृत्त होते हैं तो वे अत्यन्त दूर नहीं जा सकते, इसकी एक अनुत्तर मिसाल हमें बौद्ध और योग दर्शनों में मिलती है, जो इनके तुलनात्मक अध्ययन की सम्भवतः सबसे बड़ी देन भी है।

प्रवर्तन्ते तयोः सम्बन्धात् उपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति। व्यासभाष्य ४।१६

(१) तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्। योगसूत्र ४।१७

ए—बौद्ध दर्शन और पूर्व मीमांसा

पूर्व मीमांसा को भी भारतीय दर्शन का एक अंग मिलने का सौभाग्य प्राप्त हो गया, यह केवल उसकी और समग्र भारतीय विचार-परम्परा की वेद-भक्ति के कारण। वैसे तो व्याकरण आदि को भी दर्शन मानकर हम पाणिनि-दर्शन आदि जैसी बात कह सकते हैं (यहां भारतीय व्याकरण शास्त्र के दर्शनत्व का प्रत्याख्यान करने का हमारा उद्देश्य नहीं)[१] किन्तु यदि जीवन की गहनतम समस्याओं का तात्विक निरूपण करने वाली विद्या को ही 'दर्शन' कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि पूर्व मीमांसा में 'दर्शनत्व' कम है। किन्तु मीमांसा के आचार्यों के सामने ऐसी बात कहना कुछ भयावह है। प्राचीन परम्परा में भारतीय दर्शन के विचारकों में जितने अधिक पांडित्यसम्पन्न और तर्कशील आचार्य मीमांसकों में हुए हैं, उतने सम्भवतः नैयायिकों को छोड़ और किसी परम्परा में नहीं हुए, और नैयायिकों और मीमांसकों का प्राचीन सम्बन्ध भी सम्भवतः एकात्मता का ही है, ऐसा कुछ विद्वान् विचार करने का प्रस्ताव करते हैं। कुछ भी हो, शंकर जैसे महान् तार्किक दार्शनिक को भी सबसे पहले मीमांसकों का ही प्रत्याख्यान करना पड़ा (ब्रह्मसूत्र-भाष्य चतुः सूत्री में) और बौद्धों की भी जो प्रबलतम मुठभेड़ें अन्य प्रतिद्वन्द्वी दर्शन सम्प्रदायों के आचार्यों से हुई उनमें नैयायिकों के बाद मीमांसकों ने ही सम्भवतः सबसे अधिक भाग लिया। अतः इस दृष्टि से मीमांसा की परम्परा भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। एक प्रकार से इसे वैदिक मत में विश्वास करने वालों की प्रहरीशाला ही कहना चाहिए जिसका विध्वंस करने का उत्तर-कालीन बौद्ध आचार्यों ने बार-बार प्रयत्न किया किन्तु सफल नहीं हो सके, यद्यपि उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इस दर्शन का कई बार पुनर्निर्माण और कभी-कभी तो नव-निर्माण भी करना पड़ा। कहने की आव-

उपोद्‌घात

(१) अपितु 'वैयाकरणाः हि प्रथमे विद्वांसः सर्वशून्यवादिनः वार्ताक्षौदुम्ब-रायणादीन् स्फोटवादेन निराचक्रुः यथा वेदान्तिनो ब्रह्मवादेन शून्यवा-दिनो माध्यमिकादीन्' लक्ष्मीपुरं श्री निवासाचार्य विरचित 'दर्शनोदय पृष्ठ १०१

श्यकता नहीं कि इन सबके परिणामस्वरूप ही दोनों दार्शनिक परम्पराओं, अर्थात् बौद्ध आचार्यों और पूर्व मीमांसकों, के विचारों का संशोधन हुआ और उनका मार्ग भी बहुत कुछ प्रशस्त हुआ । मीमांसा दर्शन के स्थापकों और उसकी महत्ता को प्रख्यापित करने वालों में आचार्य कुमारिल का नाम अमर रहेगा और बौद्धों के साथ उनकी जो अनेक मुठभेंड़े हुईं उनसे भारतीय विचार की परम्परा निश्चय ही बहुत कुछ विस्तृत हुई। 'कुमारिल' निश्चय ही भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास में एक बड़ा नाम है। इन मनीषी आचार्य के 'श्लोकवार्तिक' और 'तन्त्रवार्तिक' ग्रन्थ बौद्ध विचार की परिस्थिति के तीव्रतम खण्डन और कहीं-कहीं मण्डन भी उपस्थित करते हैं, जिनमें महान् तात्विक और ऐतिहासिक सम्पत्ति भरी हुई पड़ी है।

पूर्व-मीमांसा में दर्शनत्व और बौद्ध विचार के साथ उसका सम्बन्ध

पूर्व मीमांसा का उदय वैदिक काल में ही हुआ। वेद के अर्थों का निरूपण करने के लिए वाद-विवाद के रूप में प्रयत्न अत्यन्त प्राचीन काल में ही होने लगा था और उसी को एक व्यवस्थित स्वरूप महर्षि जैमिनि ने दिया। पूर्व मीमांसा का निश्चित विषय धर्म की जिज्ञासा करना एवं उसके स्वरूप का निर्णय करना है। 'धर्म' का यहां कोई विशेष व्यापक अर्थ नहीं है जैसा कि 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन में 'धम्म' शब्द का। मीमांसा में तो धर्म' से तात्पर्य केवल 'क्रिया का प्रवर्तक', 'यागादि' कर्म अथवा 'वेद प्रतिपाद्य प्रयोजनवद् अर्थ' से ही है[1] जिसके लिए इस समग्र दर्शन का प्रवर्तन हुआ है । धर्म के 'वेदप्रतिपाद्य' स्वरूप को आरम्भ से ही ग्रहण कर लेने के कारण मीमांसा दर्शन में वेद का कितना अधिक महत्व रहा, इसके बताने की जरूरत नहीं। वेद में प्रतिपादित ही जब धर्म है और धर्म की हमें गवेषणा करनी है, तो सबसे पहले हमारे लिए यही

---

(१) चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः । मीमांसा सूत्र १।१।२; चोदनेति प्रवर्तकशब्दो नाम । उपर्युक्त पर शाबर भाष्य; मिलाइये वहीं 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्; मिलाइये यागादिरेव धर्मः, तल्लक्षणं 'वेदं प्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इति । अर्थ संग्रह; किमाद्यपेक्षितैः पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ । तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिन् चोदनोच्यते । श्लोकवार्तिक० १।१।२।३

आवश्यक होता है कि हम वेद की गवेषणा करें। मीमांसकों ने ऐसा किया भी है। सबसे पहले उनका प्रश्न यही है 'अथ को वेदः' और इसका उत्तर वे देते हैं 'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः'। इस वेद का फिर विचार वे विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद इन पांच प्रकारों से करते हैं अर्थात् इन भागों के रूप में वे वेद को पञ्चविध स्वीकार करते हैं। इस विभाजन से यह स्पष्ट है कि वेद के उत्तर भाग अर्थात् ज्ञान काण्ड को वे विशेष महत्व नहीं देते अथवा यह उनका विषय ही नहीं है। स्वयं महर्षि जैमिनि के अनुसार वेद का क्रियापरत्व ही प्रसिद्ध है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह 'आनर्थक्य' की कोटि में ही आता है[1], हां यदि 'विधि' वाक्यों का प्रशंसार्थक होकर रहे तो वह वहां रह सकता है अन्यथा और किसी प्रकार उसका प्रमाण ग्राह्य नहीं है[2]। कहने की आवश्यकता नहीं कि वेद को ही सब 'धर्म' की प्रतिष्ठा मान कर और वेद के भी प्रधानतया यज्ञयागादिमय स्वरूप को अङ्गीकार कर पूर्व मीमांसक न केवल बौद्ध आचार्यों के ही सतत आक्रमण के विषय बने,[3] किन्तु वेद के ज्ञान-काण्ड की मीमांसा करने वाले उन अद्वैतवादी वेदान्ताचार्यों ने भी उनका सतत प्रत्याख्यान किया जिनका परिनिष्ठितवस्तु विषयक समग्र ज्ञान ही क्रिया अथवा विधि का अविषय होने के कारण[4] मीमांसकों ने यज्ञादि कर्म में अपेक्षित कर्ता या देवताओं के स्वरूप का प्रकाश करने वाले के रूप में या तो 'क्रिया-विधिशेषत्व' में डाल दिया था[5] अथवा डाल दिया था उसे 'स्ववाक्य-

(१) आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् । मीमांसा सूत्र १।२।१

(२) विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः । मीमांसा सूत्र १।२।७

(३) कर्मकाण्ड रूपी धर्म पर ही तो आक्रमण करने के कारण उन्होंने कनीषी आचार्य से सम्भवतः 'धर्मद्विषः' (धर्मद्विषो बौद्धाः) की संज्ञा भी पाई ।

(४) मीमांसकों के मत में तो जिसका भी क्रिया के लिए तात्पर्य है वही वेद का अर्थ है और इसके अतिरिक्त सब अनर्थक है । ब्रह्म तो एक परिनिष्ठित अर्थात् सदा स्थिर वस्तु है; जो स्थिर है उसमें क्रिया कहां और जहां क्रिया विषयत्व नहीं है, वह वेद का विषय कैसे ? अतः अक्रियार्थत्व के कारण ब्रह्मविषयक ज्ञान की भी वेद के मन्तव्य के रूप में अनर्थकता है, ऐसा मीमांसक मानते हैं ।

(५) यदि अनर्थकता नहीं मानते तो अधिक-से-अधिक यह कह सकते हैं कि स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म विषयक ज्ञान वेद में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जैसे

गतोपासनादिकर्मपरत्वं) की श्रेणी में[1] । फिर यदि उन्होंने किसी प्रकार ब्रह्म का शास्त्रप्रमाणकत्व स्वीकार भी किया तो कहा कि वह तो केवल 'प्रतिपत्तिविधिविषयतया' ही ब्रह्म का समर्पण करता है[2] । इस प्रकार ब्रह्म विषयक विचार को ही जब इन पूर्वमीमांसकों ने वेद में जमने नहीं दिया, तब फिर 'शास्त्रयोनित्वात्'[3] के बल पर ही ब्रह्म की सिद्धि करने वाले मनीषी वेदान्ताचार्य इनके साथ संघर्ष में कैसे न आते? मीमांसकों ने प्रतिपादित किया कि 'कर्मावबोधन' अर्थात् यज्ञयागादि का उपदेश देना ही वेद का एकमात्र उद्देश्य है[4] और यज्ञ यागादि का ज्ञान ही विधिपरक वाक्यों से आता है[5]। ऐसी परिस्थिति में मीमांसा ने यद्यपि वेद के पूर्वोक्त पञ्चविध भाग को लेकर खूब वादविवाद किया, किन्तु उसकी सीमा सदा यही रही कि धर्म के यज्ञयागादिमय स्वरूप से वह कभी आगे नहीं बढ़ सकी। अतः विशुद्ध दार्शनिक चिन्ता उसमें नहीं पनप सकी। हां, बाद में उसने भी एक स्थान पाया। किन्तु उस समय वह वेदान्त के क्षितिज को पहुंच चुकी थी। कुमारिल में हम इसी स्थिति

कि यज्ञ के विधान का वर्णन करते समय गौण रूप से यह भी कह दिया जाता है कि यह किस देवता के लिए है अथवा इसका करने वाला कौन है, उसी प्रकार यज्ञ के विधान के इन गौण विषयों को प्रख्यापित करने के लिए, प्रधानतः यज्ञ की विधि की सहायता के लिए, 'ब्रह्म' का भी देवता के रूप में वर्णन कर दिया गया है।

(१) यदि यह कहा जाय कि क्रियाविधि के अंग वेदान्त वाक्य कैसे हो सकते हैं, तो मीमांसक अधिक-से-अधिक यह कह देंगे कि अच्छा इन्हें 'उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं' में डाल दो अर्थात् यह मान लो कि ये ब्रह्म की उपासना रूप विधि अथवा क्रिया के ही उपदेश देने वाले हैं।

(२) अर्थात् उपासना विधि के आश्रित ही, जैसे कि क्रिया-विधि के सम्बन्ध में वेद यूप आदि का भी तो उपदेश करता है। सारांश यह कि ब्रह्मज्ञान स्वतन्त्र रूप से वेद में उपस्थित नहीं है।

(३) ब्रह्मसूत्र १।१।३

(४) दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम् । शाबरभाष्य १।१।१

(५) तस्य ज्ञानम् उपदेशः । पूर्वमीमांसा १।१।५; तद्गतानां क्रियार्थेन समाम्नायः । वहीं १।१।२५

को पाते हैं। जैमिनि ने मीमांसा सूत्र लिखे और ये सम्भवतः सबसे प्राचीन सूत्र हैं। भगवान् कुमारिल का मत है कि मीमांसा सूत्रों में कुछ बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन उपलब्ध होता है।[1] मीमांसा सूत्रों पर सबसे प्रथम उपलब्ध भाष्य शाबर का है[2] जिस पर अन्य सभी उत्तरकालीन मीमांसा सम्बन्धी साहित्य आधारित है। शाबर भाष्य में बौद्ध विज्ञानवाद और शून्यवाद का खण्डन मिलता है।[3] जैमिनि और शाबर के बाद सबसे अधिक प्रसिद्ध नाम मीमांसा के क्षेत्र में आचार्य कुमारिल का है। इन्होंने वेद के प्रामाण्य और पौरोहित्य की खोई हुई महिमा को फिर बढ़ाने की कोशिश की। बौद्धों से निश्चय ही इन्हें संघर्ष में आना ही पड़ा। बौद्धों को कुमारिल ने जितनी फटकारें बताई हैं और जिस तीव्र भाषा में उनका प्रत्याख्यान किया है, उसकी दूसरी मिसाल मिलना मुश्किल है। बौद्धों के इस प्रलाप को कि उनके ग्रन्थ भी प्रमाण कोटि में आ सकते हैं, उनके इस विचार को कि वेद का प्रामाण्य कसे हो सकता है ? कुमारिल ने बड़ी तीव्रता के साथ खण्डन किया है, यहां तक कि क्षत्रिय धर्म का अतिक्रमण कर बुद्ध के प्रव्रजित होकर ब्राह्मण-वृत्ति को स्वीकार करने की वर्णनिषिद्ध प्रवृत्ति की भी इन्होंने निन्दा की है[4]। इन्हीं कुमारिल के शिष्य, किन्तु अपनी बुद्धि की प्रखरता के कारण स्वयं इन्हीं से 'गुरु' नाम पाए हुए, प्रभाकर भी मीमांसा दर्शन के एक दीप्तिमान् विचारक हैं जिनका कुमारिल के समान एक सम्प्रदाय ही अलग है जो 'प्रभाकर' सम्प्रदाय या 'गुरु' मत कहा जाता है जबकि कुमारिल का मत

---

(१) देखिए श्लोकवार्तिक १।१।३, ५-६

(२) यद्यपि भर्तृमित्र, भवदास, हरि और उपवर्ष के इनसे भी पूर्व भाष्य थे, किन्तु आज ये अनुपलब्ध एवं कालविप्लुत हैं।

(३) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफ़ी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३७६, पदसंकेत २

(४) स्वधर्मातिरेकेण च क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्व प्रतिग्रहौ प्रतिपन्नौ..... बुद्धादेः पुनरयमेवातिक्रमोऽलंकार बुद्धौ स्थितः। येनैवमाह कलिकलुष-कृतानि यानि लोके मयि निपतन्तु विमुच्यतां तु लोक इति स किल लोकहितार्थं क्षत्रियधर्ममतिक्रम्य ब्राह्मणवृत्तिं प्रवक्तृत्वं प्रतिपद्य प्रतिषेधातिक्रमसमर्थैः ब्राह्मणैरननुशिष्टं धर्मं बाह्यजनानुशास्तिं धर्मपीडा-मप्यात्मनांगीकृत्य परानुग्रहं कृतवानित्येवं विधैरेव गुणैः स्तूयते।

'भाट्ट' मत कहलाता है। किन्तु हम तो यहां बौद्ध दर्शन का सम्बन्ध मीमांसा दर्शन के साथ दिखाते समय केवल संश्लेषणात्मक दृष्टि से ही विचार करेंगे और कुमारिल के मत का कुछ अधिक वर्णन करेंगे क्योंकि बौद्ध धर्म और दर्शन से वे ही अधिकतर संघर्ष में आए थे।

प्रामाण्यवाद, ईश्वर-वाद और नैतिक तत्व को लेकर बौद्ध और पूर्व-मीमांसा दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन

महर्षि जैमिनि को तीन प्रमाण स्वीकृत हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति को भी स्वीकार किया है और कुमारिल ने इन सबके ऊपर बढ़ा दिया है अनुपलब्धि को भी। ऐतिह्य और स्मृति को इस दर्शन में प्रमाण नहीं माना गया। मीमांसा के दार्शनिकों के अनुसार प्रत्यक्ष बुद्धि अर्थ-विषयक होती है न कि बुद्धि-विषयक। इसलिए प्रत्यक्ष पदार्थों का होता है न कि पदार्थों के ज्ञान का। संवित् (ज्ञान) संवेद्य नहीं हो सकती। संवित् की अनुभूति संवित् के ही रूप में हो सकती है, संवेद्य के रूप में कभी नहीं, इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान मात्र अनुमेय है, ज्ञान की उपस्थिति केवल अनुमान से ही जानी जाती है, ज्ञान दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है, किन्तु अपने को नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि बौद्ध सैद्धान्तिक इससे बिलकुल विभिन्न सिद्धान्त मानते हैं। उनके अनुसार विज्ञानों का प्रत्यक्ष होता है और पदार्थों का केवल अनुमान, किन्तु यहां तो वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान है और उनके ज्ञान या संवित् का केवल अनुमान। दोनों एक दूसरे के ठीक विपरीत सिद्धान्त हैं। प्रभाकर के अनुसार प्रत्यक्ष की हुई वस्तुएँ द्रव्य भी हो सकती हैं, गुण भी और जाति भी। प्रत्यक्ष प्रमाण को मीमांसकों ने भी दो भागों में बांटा है, यथा सविकल्पक प्रत्यक्ष और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष। कुमारिल के मतानुसार निर्विकल्पक ज्ञान में वस्तु की श्रेणी या जाति तथा विशेष धर्म की प्रतीति नहीं होती। प्रभाकर के मत में दोनों का अस्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। प्रभाकर और कुमारिल दोनों ही सामान्य की स्थिति को स्वीकार करते हैं और उसे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय बतलाते हैं। यह बात बौद्धों के मत के विपरीत है, क्योंकि वहां विशेष धर्म ही केवल अपनी स्थिति रखता है और सामान्य तो केवल कल्पना की चीज है 'विकल्पाकारमात्रं सामान्यम्'। कुमारिल और मीमांसाचार्य पार्थसारथि दोनों ने ही बौद्धों के इस मत को प्रत्याख्यान का विषय बनाया है। मीमांसकों के अनुसार प्रत्यक्ष दोनों ही 'अनुवृत्त'

और 'व्यावृत्त' होता है और बिना 'सामान्य' की स्थिति माने यह 'अनुवृत्त' प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है ? अतः सामान्य है। फिर यदि बौद्ध यह कहें कि सामान्य की सत्यता नहीं है क्योंकि विशेष धर्म से इसकी पृथक् अनुभूति ही नहीं होती, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह केवल कहना ही कि जो कुछ है, वह भिन्न अथवा अभिन्न होना ही चाहिए 'सामान्य' के वस्तुत्व को स्वीकार कर लेना है, क्योंकि जो 'है' वही तो भिन्न या अभिन्न हो सकता है! 'यद् वस्तु तद् भिन्नम् अभिन्नम् वा भवति।' मीमांसक 'सामान्य' को सादृश्य भी नहीं मानते। 'न च सादृश्यमेव सामान्यम्'। सामान्य और विशेष एवं अवयवी और अवयव को लेकर मीमांसकों ने बड़ा विचार किया है और कुमारिल और प्रभाकर दोनों के ही इस विषय में अलग-अलग महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं, किन्तु उनमें हम इस समय नहीं जा सकते। मीमांसक योग के द्वारा सत्य के प्रत्यक्ष करने में विश्वास नहीं करते। उनके लिए भूत और भविष्यत् की चीजें केवल वेद से ही जानी जा सकती हैं, जो उनके दर्शन की मूल प्रतिष्ठा है। अनुमान प्रमाण के विषय में शाबर का मत है कि जब दो वस्तुओं का सम्बन्ध ज्ञात हो जाय ताकि जब हम उनमें से एक को देखें तो दूसरी का ज्ञान हो जाय, तो यह बाद का ज्ञान ही अनुमान है। 'ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनाद् एकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः'। शाबर ने अनुमान को दो भागों में बांटा है, यथा प्रत्यक्षतोदृष्ट और सामान्यतोदृष्ट। अस्तु, अब हम शब्द प्रमाण पर आते हैं, जिसको लेकर मीमांसकों ने एक अत्यन्त महनीय और विस्तृत विचार उपस्थित किया है और जो हमारे दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मीमांसा का लक्ष्य ही धर्म अर्थात् वेद में निहित यज्ञ यागादि मय विधानों की व्याख्या करना है। यज्ञ विधानों की प्रक्रिया क्या है? किन यज्ञों को कब करना चाहिए, किस प्रकार करना चाहिए और किसलिए करना चाहिए?' आदि प्रश्नों के निर्णय के लिए मीमांसा दर्शन का आविर्भाव ही हुआ, अतः उसके प्रमाण को वह सर्वोपरि प्रधानता क्यों न देता? इसीलिए तो वेद को मीमांसकों ने अपौरुषेय और नित्य माना। अपौरुषेय, अर्थात् किसी पुरुष ने भी नहीं बनाया, ईश्वर ने भी नहीं बनाया। जिन शब्दों से वेद निर्मित हैं, वे नित्य हैं। शब्द मात्र की नित्यता सिद्ध करने के लिए मीमांसकों की अनेक युक्तियां हैं। उनके अनुसार शब्द वर्णसमूह का नाम है। प्रत्येक वर्ण सर्वव्यापक, निरवयव अतएव नित्य है। वेद में विधिसम्बन्धी

जितने वाक्य हैं (और उनके अतिरिक्त जैमिनि के मतानुसार तो सबकी ही अनर्थकता है!) उनका मिथ्यात्व कभी भी, किसी भी काल में अथवा किसी भी अवस्था में निष्पन्न नहीं हो सकता। वे सभी अवस्थाओं, कालों और स्थानों में स्वतन्त्ररूप से सत्य हैं[१]। वेदों का प्रामाण्य स्वतः ही है। अवैदिक जितने भी कथन हैं, उनमें आन्तरिक प्रामाण्य जैसी कोई वस्तु उपलब्ध नहीं हो सकती,[२] उनकी तो सिद्धि अनुमान से ही हो सकती है। वेदों के नित्य होने के कारग उनका कोई कर्त्ता नहीं, अतः उनमें कोई दोष नहीं और उनकी अप्रामाणिकता तो ध्यान में भी नहीं लाई जा सकती[३]। यदि मानवीय शब्दों के भी उच्चारण करने वाले आप्त पुरुष हों तो कुमारिल की घोषणा है कि वे भी शब्द प्रमाण की कोटि में आ सकते हैं। मीमांसक यह नहीं मानते कि वेद ईश्वर की रचना हैं। जब वेद नित्य ही हैं तो उनके निर्माण का सवाल ही नहीं उठता। मीमांसा सूत्रों[४] ने वेदों की नित्यता को बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादित किया है। मीमांसकों का कहना है कि ईश्वर अशरीरी है, अतः ग्रन्थ रचना जैसी वस्तु उससे नहीं बन सकती। यदि कहा जाय कि वह इसके लिए शरीर धारण करता है, तो फिर वह भी उन सभी कमियों और दोषों का शिकार हो जायगा जिनके मनुष्य हैं और फिर उसके वचनों का प्रमाण ही क्या रहेगा? फिर इस प्रकार की कोई परम्परा भी तो नहीं। ऋषियों के नाम उनमें पाए जाने से वेदों को हम उनकी रचनाएं नहीं कह सकते, क्योंकि उनके नामों का तात्पर्य केवल यही है कि उन्होंने स्वयं उनका अध्ययन और अध्यापन कराया। ऐतिहासिक नाम भी वेद में केवल प्राकृतिक शक्तियों का द्योतन करने के लिए ही अथवा सार्वभौम तत्त्वों को दिखाने के लिए

---

(१) देखिए शाबर भाष्य १।१।२; मिलाइये 'शब्द ब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते। तदप्यधिष्ठितं सर्वमेकेन परमात्मना'। तन्त्रवार्तिक।

(२) प्रकरण पञ्चिका ५।३०; कुसुमाञ्जलि ३।१६; मिलाइये, राधाकृष्णन्: इण्डियन फिलाँसफी, जिल्द दूसरी पृष्ठ ३८९

(३) श्लोकवार्तिक २।६२-६९

(४) यथा १।१।२४-३१; मीमांसकों के इस मत से कि ईश्वर ने वेद को नहीं बनाया, नैयायिक सहमत नहीं। देखिए उनके द्वारा मीमांसकों के तर्कों के प्रत्याख्यान के लिए सर्व दर्शन-संग्रह, अध्याय १२

ही आए हैं, अतः मीमांसा शास्त्र के अनुसार उनमें इतिहास नहीं है। बौद्धों के द्वारा इस विषय में कड़े प्रत्याख्यान किए जाने पर भगवान् कुमारिल ने भी निश्चय ही बड़े कड़े रूप से उत्तर दिए हैं। बौद्ध जब कुछ उपहास पूर्वक कुमारिल से पूछते हैं कि यदि वेद अकर्तृक होने के कारण कर्तृदोष से दूषित नहीं होते हैं तो वेद के समान ही बुद्ध-वाक्यों का भी प्रमाण मानो क्योंकि उनमें भी कर्तृत्व भाव का अभाव है। अकर्तृत्व या द्रष्टृत्त्व के रूप में ही बुद्ध ने उपदेश दिया है, उनके कर्तृत्व के रूप में नहीं। जो कुछ भी वेद प्रामाण्य की सिद्धि के लिए तुम कहते हो, वही सब हम बुद्ध-वाक्यों के विषय में कहते हैं, तो फिर उनका भी वेद वाक्यों के समान प्रामाण्य क्यों नहीं है[1]? इस पर कुमारिल तीव्र रूप से क्रोधित होकर उग्र स्वर में प्रतिवादियों का निराकरण करते हुए कहते हैं 'ये शाक्य, वैशेषिक और अन्य प्रतिकूलवादी जो श्रद्धावान् मीमांसकों के द्वारा विभ्रमित और भयान्वित कर दिए गए हैं, हमारे ही शब्दों को लेकर बकवाद करते हैं जैसे कि मानो छाया को ही वे पकड़ना चाहते हैं। वे कहते हैं कि उनके शास्त्र नित्य हैं, किन्तु वे मूढ़ बुद्धि हैं और केवल द्वेष के कारण ही वे इस बात का प्रचार करते हैं कि वेद पुराणतम ग्रन्थ नहीं हैं। ये कुतार्किक यह भी तो घोषणा करते हैं कि उनके कुछ सिद्धान्त, जैसे सर्व-मैत्रीभाव आदि (जिनको उन्होंने हमसे चुराया है) वेद में से उन्होंने नहीं लिए, जबकि बुद्ध के और कुछ वचन वेद के स्पष्ट विरुद्ध हैं...वे अपनी कठिनाई को छिपाने के लिए हमारे ही उन तर्कों का अनुकरण करते हैं जो हम वेद के नित्यत्व को प्रख्यापित करने के लिए

---

(१) अकर्तृकतया नापि कर्तृदोषेण दुष्यति।
वेदवद् बुद्धवाक्यादि कर्तृस्मरणवर्जनात्॥
बुद्धवाक्यसमाख्यापि प्रवक्तृत्वनिबन्धना।
तद्द्रष्टत्व निमित्ता वा काठकांगिरसादिवत्॥
यावदेवोदितं किञ्चिद्वेदप्रामाण्यसिद्धये।
तत्सर्वं बुद्धवाक्यानामतिदेशेन गम्यते॥ तन्त्रवार्तिक; मिलाइये,
सुगतो यदि धर्मज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतिभेदः कथं तयोः॥
पूर्ण विवेचन के लिए देखिए मैक्समुलर : हिस्ट्री आफ़ एन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर (पाणिनि ऑफ़िस संस्करण) पृष्ठ ५२

उपस्थित करते हैं। वे जानते हैं कि मीमांसकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि अतीत विषयों पर मनुष्य के कोई भी वचन प्रमाणत्व प्राप्त नहीं कर सकते, वे यह भी जानते हैं कि वेद के प्रमाणत्व का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता...इसलिए कुछ भी उत्तर देने में असमर्थ, उनके युक्तिहीन वचनों के विभ्रम के काट दिए जाने पर, वे उस मूर्ख दुलहे के समान हैं जो एक दुलहिन की कामना करता हुआ आकर कहता है 'मेरा कुल उतना ही उच्च है जितना तुम्हारा।'[१] इस प्रकार उग्र रूप से प्रत्याख्यान करते हुए आचार्य कुमारिल ने अन्त में यह कहकर भी उन्हें फटकारा है कि 'क्षणिकवाद' 'क्षणिकवाद' पुकारने वाले बौद्धों का शाश्वतवाद के विषय में बात करने का प्रयोजन ही क्या है? इसी प्रकार जब वेद के देवतातत्व को लेकर अहल्या और प्रजापति के अनाचार-प्रसङ्ग की बात कुमारिल को याद दिलाई जाती है तो वे एक कुशल मीमांसक की तरह झट कहने लगते हैं कि प्रजापति नाम है सूर्य का, उनकी कन्या है उषस् देवी और जब यह कहा जाता है कि उन्होंने उसके साथ प्रेम किया तो इसका तात्पर्य यही है कि सूर्योदय के समय सूर्य उषस् का पीछा करता हुआ दौड़ता है। इसी प्रकार कुमारिल अहल्या और इन्द्र के प्रसंग को यह कह कर व्याख्यात करते हैं कि अहल्या अर्थात् रात्रि इन्द्र रूपी सूर्य के द्वारा विभ्रमित और नष्ट कर दी जाती है, यही वेद का तात्पर्य है, व्यभिचार का प्रख्यापन करना नहीं।[२] मीमांसकों के कर्मकाण्डमय धर्म और उसके फल की सिद्धि किन्हीं निश्चित मानवीय बुद्धि के उपकरणों से नहीं हो सकती थी,

---

(१) तन्त्रवार्तिक; इस पर विशेष विवेचन के लिए देखिए मैक्समुलर: हिस्ट्री ऑफ़ एन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर (पाणिनि ऑफिस संस्करण) पृष्ठ ४३-४४

(२) प्रजापतिस्तावत्प्रजापालनाधिकारादादित्य एवोच्यते; स चारुणोदयवेलायामुषसमुद्यन्नभ्येति सा तदागमनादेवोपजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिष्यते। तस्यां चारुण किरणाख्य बीजनिक्षेपात् स्त्री पुरुष संयोगवदुपचारः। एवं समस्त तेजाः परमेश्वरत्वनिमित्तेन्द्रशब्दवाच्यः सवितैवाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्याशब्दवाच्यायाः क्षयात्मक जरण हेतुत्वाज्जीर्यत्यस्मादनेन वोदितेन वेत्यहल्याजार इत्युच्यते न परस्त्रीव्यभिचारात्।

अतः उनके लिए यह परम आवश्यक हो गया कि वे वेद के स्वतः प्रामाण्य को स्वीकार करें। फलतः उन्होंने किया भी ऐसा ही। प्रामाण्यवाद को लेकर उन्होंने जो विचार उपस्थित किया है उसमें उनका यही स्वतः प्रामाण्यवाद सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। स्वतः प्रामाण्य का अर्थ यह है कि ज्ञान का प्रामाण्य अपने साथ है[1]। ज्ञान की यथार्थता की परीक्षा के लिए ज्ञान से अतिरिक्त किस प्रकार के व्यवहार या आवश्यकता नहीं है। ज्ञान का उत्पन्न होना और उसकी यथार्थता होना एक ही बात है। इसके विपरीत नैयायिक मानते हैं कि ज्ञान की उत्पत्ति से उसकी यथार्थता भिन्न चीज है। यथार्थ ज्ञान की परीक्षा व्यावहारिक सफलता से होती है। यथार्थ ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी बिना व्यवहार के उसकी यथार्थता की पहचान नहीं हो सकती। यहां यह कह देना आवश्यक है कि मीमांसक भी न्याय-वैशेषिक की तरह जगत् की यथार्थवादी ही व्याख्या करते हैं, अतः वे उनकी तरह ही बौद्ध विज्ञानवाद के खण्डन में प्रवृत्त होते हैं[2]। वास्तव में तो बात यह है, जैसा कि हम पहले भी निर्देश कर चुके हैं, कि उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदायों में से प्रायः सभी क्षणिकवाद का किसी न किसी मात्रा में प्रख्यापन करने वाले हैं और उसी प्रकार प्रायः सभी 'आस्तिक' दार्शनिक आचार्यों की यह एक सामान्य प्रवृत्ति है कि वे सभी किसी न किसी प्रकार क्षणिकवाद का प्रत्याख्यान करते हैं और विज्ञानवाद और शून्यवाद के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठाते हैं। पूर्वमीमांसा वह दर्शन है जिसमें बौद्ध विज्ञानवाद का सम्भवतः तीव्रतम खण्डन उपलब्ध होता है। कुमारिल का कथन है कि जगत् को यथार्थ मानना उसके व्यवहार को चलाने की प्रथम शर्त है। जगत् की स्वतन्त्र सत्ता माने बिना कोई काम कहीं चल सकता।

---

(१) 'तत्र गुरूणां मते ज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वात् तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनैव गृह्यते। भट्टानां मते ज्ञानम् अतीन्द्रियं, ज्ञानजन्यज्ञातता प्रत्यक्षा, तथा च ज्ञानमनुमीयते। मुरारि मिश्राणां मते अनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते। सर्वेषामपि मते तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते'। सिद्धांत मुक्तावली; डा० राधाकृष्णन् की 'इण्डियन फ़िलॉसफ़ी', जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४०३, पदसंकेत १ में उद्धृत।

(२) मिलाइये 'अर्थविषया प्रत्यक्षबुद्धिर्न बुद्धिविषया। शाबर भाष्य, मीमांसा सूत्र १।१।४ पर।

विज्ञानवादियों की स्वप्न की मिसाल कहीं ठहरती नहीं। स्वप्न-पदार्थों का मिथ्यात्व जाग्रत् काल के पदार्थों की अपेक्षा से होता है। परन्तु यदि जाग्रत् जगत् ही नहीं है तो स्वप्न के पदार्थों को झूठा कहने से भी क्या आशय है? विज्ञान स्वयं विज्ञान को नहीं जान सकता, न दूसरा विज्ञान ही एक विज्ञान को जान सकता है। विज्ञान से हम पदार्थ का बोध कर सकते हैं, किन्तु विज्ञान तो स्वयं अनुमेय ही ठहरा। सब मानसिक अवस्थाएं भौतिक पदार्थों की ओर संकेत करती हैं। प्रत्येक मानसिक दशा का एक विषय अवश्य होना चाहिए। क्या निर्विषयक ज्ञान कहीं देखा या सुना गया? तो फिर विज्ञानवाद कहां ठहरता है? इस प्रकार के तर्कों से मनीषी आचार्य कुमारिल ने विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान किया है, अपनी स्वाभाविक प्रभावशाली भाषा में जिसके वीर्यवान् प्रवाह और तर्कखण्डन की भारतीय दर्शन में तुलना नहीं। शून्यतावादियों का भी प्रत्याख्यान आचार्य कुमारिल ने किया है और उनके द्वारा किए हुए संवृति और परमार्थ रूपी सत्य के द्विविध विभाग का खण्डन भी किया है[1] जिस पर ही विशेषतः आश्रित होकर बाद में आचार्य रामानुज ने स्वयं शङ्कर के 'व्यवहार' और 'पारमार्थिक' रूप सत्य के द्विविध विभाग का खण्डन किया। किन्तु इन सब खण्डन-मण्डनों से हमें अधिक विभ्रमित नहीं हो जाना चाहिए। कुमारिल ने एक सच्चे सत्यगवेषी परीक्षक के रूप में यह स्वीकार किया है कि विज्ञानवाद, क्षणभंगवाद और अनातमवाद उपनिषदों से ही उत्पन्न हुये हैं और उनका उद्देश्य राग-निवृत्ति ही है, अतः उन सबका प्रामाण्य है, वे सब प्रामाणिक दर्शन हैं।[2] भगवान् कुमारिल की यह उक्ति संसार के सत्य के

---

(१) संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतो न्वयम्। सत्यं चेत् संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम्॥ सत्यत्वं न च सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः। विरोधान्न तु हि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयोः॥ तुल्यार्थत्वेऽपि तेनैषां मिथ्या संवृति शब्दयोः। वञ्चनार्थं उपन्यासः लालावक्त्रासवादिवत्॥ नास्तिकपरिहारार्थं संवृतिः कल्पनेति च। कल्पनाऽपि त्वभिन्नस्य नैव निर्वस्तुके भवेत्॥ तस्माद्यन्नास्ति नास्त्येव यत्त्वस्ति परमार्थतः। तत्सत्यमन्यमिथ्येति न सत्यद्वय कल्पना। श्लोकवार्तिक (निरालम्बवाद)

(२) विज्ञानमात्रक्षणभंगनैरात्म्यवादानामपि उपनिषत्प्रभवत्वं विषयेष्वात्यन्तिकं रागं विनिवर्तयितुमित्युपपन्नं सर्वेषां प्रामाण्यम्। तन्त्रवार्तिक।

गवेषकों और उच्चतम निष्पक्ष विचारकों में उन्हें कितना ऊंचा बैठा देती है इसकी कुछ कल्पना हम नहीं कर सकते । कुमारिल जैसे आचार्य के द्वारा बौद्ध दर्शन का 'उपनिषत्प्रभवत्व' स्वीकार कर लेना निश्चय ही एक ऐसा तथ्य है जिसकी पूरी महत्ता को समझने का हमें यत्न करना चाहिए। भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए इससे अधिक महत्व-पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन और कोई नहीं हो सकता। अस्तु, अब हम पूर्व मीमांसा के ईश्वरवाद पर आते हैं।

पूर्वमीमांसक ईश्वरवादी नहीं, किन्तु 'अपूर्व'वादी हैं, देवबहुत्ववादी हैं। जैमिनि ने ईश्वर की समस्या को स्पर्श नहीं किया, बुद्ध की तरह ही, किन्तु एक बिलकुल विभिन्न प्रयोजन को लेकर । बुद्ध ने तो इसलिए नहीं किया कि उनके नैतिक आदर्शवाद में इतनी स्वयं परिपूर्णता थी कि वे उससे अनपेक्ष रह सकते थे और जैमिनि ने इसलिए नहीं किया कि यज्ञयागादि विधान उनके लिए भी स्वतः परिपूर्ण था क्योंकि एक विशेष विधि से करने पर वह स्वयं ही 'अपूर्व' के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति रूप फल-प्राप्ति करा सकता था, फिर ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता थी? ईश्वर को तो माना ही नहीं, पूर्व मीमांसकों ने सृष्टि और प्रलय को भी नहीं माना, जिसे अन्य सब 'आस्तिक' दर्शन प्रायः मानते हैं। 'यः सर्वज्ञः' आदि श्रुतियाँ भी यज्ञों के अनुष्ठाताओं की प्रशंसारूप ही मीमांसकों ने मानीं, ब्रह्म या ईश्वर के स्वरूप निर्णय सम्बन्धी नहीं। जिस प्रकार बुद्ध ने समग्र दृष्टि यज्ञयागादिमय कर्म-काण्ड और ईश्वर से हटा कर नैतिक आदर्शवाद में लगा रक्खी थी, उसी प्रकार विपरीत प्रकार से, किन्तु ईश्वर के प्रति समानता के भाव को लेकर, मीमांसकों ने वेद और उसके प्रतिपाद्य यज्ञयागादि को ही लिया और उसके अभिनिवेश में न केवल ईश्वर को ही, किन्तु किसी परिनिष्ठित वस्तु विषयक ज्ञान को भी (जो निश्चय ही स्वतन्त्र रूप से वेद में प्रतिपादित है) तथा सृष्टि और प्रलय को भी, वे बिलकुल भूल गए। कुमारिल ने ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व के विरोध में जो तर्क दिए हैं वे अपने एक अंश में बिलकुल वहीं हैं जो भगवान् बुद्ध ने दिए थे। भगवान् कुमारिल का कथन है कि बिना उद्देश्य के प्रवृत्ति नहीं हो सकती। फिर किस उद्देश्य से ईश्वर ने सृष्टि को बनाया? यदि उसके पास कोई उद्देश्य था तो फिर क्या वह अपूर्ण नहीं हुआ? फिर उसने ऐसी दुःखमय सृष्टि क्यों बनाई? जब वह सर्वशक्ति-मान् ही है तो क्या दुःख-रहित सृष्टि की वह रचना नहीं कर सकता था?

करुणा की प्रवृत्ति से तो उसने सृष्टि नहीं बनाई। जब प्राणी पहले थे ही नहीं तो 'कर्म' की भी संगति क्या लगेगी?[१] इस प्रकार कुमारिल ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ईश्वर का सृष्टि-कर्तृत्व निष्पन्न नहीं होता। किन्तु यह स्थिति अधिक नहीं चल सकती थी। जब विशुद्ध नैतिक आदर्शवाद पर आधारित तथागत का मार्ग ही मनुष्य के निर्बल हृदय को तृप्त नहीं कर सका तो कर्मकाण्ड पर प्रतिष्ठित अनेक देवताओं को मानने वाले इन मीमांसकों के लिए ही उनके एक प्रतिष्ठापक ईश्वर को मानने की आवश्यकता क्यों न पड़ती? स्वभावतः मीमांसा का भी एक महायान संस्करण हुआ। कुमारिल ने भी शिव की प्रार्थना की[२], लौगाक्षि भास्कर ने भी यज्ञयागादि विधान उसी को समर्पित करने की विनती की[३] और वेदान्तदेशिक ने तो मीमांसा का एक नवीन संस्करण ही निकाल दिया जिसकी दिशा कुछ-कुछ कुमारिल ही प्रख्यापित कर गए थे[४] और जो भारतीय दर्शन में 'सेश्वर मीमांसा' के नाम से प्रसिद्ध है। आतमवाद के सम्बन्ध में भी हमें पूर्वमीमांसा और बौद्ध दर्शनों को देख जाना चाहिए। महर्षि जैमिनि ने आत्म-सिद्धि करने का प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि यह उनके दर्शन के बाहर की चीज थी। दोनों मीमांसाओं के वृत्तिकार उपवर्ष भी ऐसा ही मानते थे और सम्भवतः भाष्यकार शाबर भी[५]। आचार्य कुमारिल ने कहा है 'इस प्रकार भाष्यकार (शाबर) ने नास्तिकवाद के निराकरण की इच्छा करते हुए आत्मा

---

(१) श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेप परिहार, एवं मिलाइये चतुर्थ प्रकरण में 'क्या सम्यक् सम्बुद्ध निरीश्वरवादी हैं' ? पर विवेचन।

(२) श्लोकवार्तिक के प्रारम्भ में 'विशुद्ध ज्ञान देहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे। श्रेयः प्राप्ति निमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे'॥

(३) सोऽयं धर्मो यदुद्दिश्य विहितः तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। ईश्वरार्पण-बुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। अर्थसंग्रह का उपसंहार।

(४) स्वयं अपने विषय में यह कह कर,
प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया॥

श्लोक वार्तिक १।१०

(५) देखिए मीमांसा-सूत्र-शाबरभाष्य १।१।५

के अस्तित्व को युक्ति पूर्वक प्रख्यापित किया है और वेदान्त के अध्ययन से भी इसी विचार की पुष्टि होती है[1]।' अस्तु, आत्मा के अस्तित्व की बात शाबर ने की क्योंकि उसके न रहने पर मृत्यु के उपरान्त यज्ञ-यागादि कर्मों का कुछ फल ही प्राप्त नहीं किया जा सकता, जिसके लिए पूर्व मीमांसा का समस्त उद्योग है। पूर्वमीमांसक आत्मा को शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि से भिन्न मानते हैं[2]। यही आत्मा शरीर के मरने के बाद स्वर्ग को जाता है[3]। शाबर के अनुसार आत्मा ही एक स्थिर ज्ञाता है जो अपने द्वारा ही स्वयं जानने योग्य है और जिसको न तो दूसरों के द्वारा दिखाया ही जा सकता है और न देखा ही जा सकता है। 'स्वसंवेद्य स भवति नासावन्येन शक्यते द्रष्टुं दर्शयितुं वा।' इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान के अतिरिक्त 'एक स्थायी ज्ञाता' भी है। 'ज्ञानातिरिक्तः स्थायी ज्ञाता वर्तते'। यही मीमांसा का विज्ञानवाद से महान् विभेद है। विज्ञानों की सन्तति को लेकर जो दर्शन (विज्ञानवाद) प्रवृत्त होता है, उसी के विरुद्ध कुमारिल की यह आवाज है कि बिना एक सामान्य प्रतिष्ठा माने हुए कर्म के नियम की क्या संगति लग सकती है? पुनर्जन्म की क्या व्याख्या होगी? अतः किसी स्थिर तत्व की स्थिति तो माननी ही पड़ेगी? बिना उसके माने सुख, दुःख, इच्छा, स्मृति आदि ही केवल 'आलय विज्ञान' के सहारे किस प्रकार समझे जा सकेंगे? इस प्रकार ज्ञान के अतिरिक्त एक स्थायी ज्ञाता तो मानना ही पड़ेगा। यहीं पूर्वमीमांसा विज्ञानवाद की नस पकड़ लेती है। मीमांसक आत्माओं की अनेकता मानते हैं। - बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुः ध्रुवः। नानाभूतः प्रतिक्षेत्रम् अर्थज्ञानेषु भासते[4]। प्रभाकर के मतानुसार आत्मा जड़ है, जिसमें ज्ञान, सुख, दुःख आदि गुण उत्पन्न होते हैं। उनके अनुसार वह कर्त्ता, भोक्ता और विभु भी है।

---

(१) इत्याह नास्तिक्य निराकरिष्णुः आत्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्तया। दृढ़त्वमेतद् विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्त निषेवणेन ।। श्लोकवार्तिक, आत्मवाद।

(२) मीमांसा सूत्र १।१।४

(३) मीमांसा सूत्र १।१।५

(४) देखिये सर्व सिद्धान्त सार संग्रह ६।२०६; मिलाइये--श्लोकवार्तिक, आत्मवाद।

'कर्त्ता भोक्ता जडो विभुरिति प्राभाकराः'। प्रभाकर की अपेक्षा कुमारिल के द्वारा की गई आत्मा की धारणा अधिक प्रशस्त है, ऐसा विद्वानों का अभिप्राय है। किन्तु आत्मवाद विषयक प्रभूत विचार को यहीं छोड़ (क्योंकि बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में इस विषय में जो कुछ कहना था वह तो कह ही दिया गया है) अब हम नैतिक तत्व पर आते हैं। यज्ञयागादि को ही सर्वोच्च मार्ग और स्वर्ग को ही सर्वोच्च गन्तव्य स्थान मानने वाले मीमांसा शास्त्र की नैतिक भावना कुछ ऊंची नहीं जान पड़ती, फिर चाहे वह भले ही कर्म का नित्य, काम्य और निषिद्ध के रूप में त्रिविध त्रिभाग करती हो। साध्य उसका बहुत ऊँचा नहीं है और साधन उसके कर्मकाण्डमय हैं। 'त्रिवर्ग' अर्थात् धर्म (कर्मकाण्ड) अर्थ और काम तक ही उसकी सीमा जाती है जिसकी बुद्ध के उच्च मार्ग से तो कोई तुलना ही नहीं उत्तरकालीन बौद्ध आचार्य भी ऐसे ध्येय को कभी सामने नहीं रख सकते थे। आचार्य कुमारिल को भी इससे आगे बढ़ना पड़ा, यद्यपि आत्मा आदि के सिद्धान्त प्रख्यापन करने में वे मीमांसा के बन्धनों को वहुत कुछ मानते रहे[1]। चूंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों की विचार-प्रणाली के साथ वुद्ध-मन्तव्य का तुलनात्मक विवेचन करते समय हम इस विषय पर काफ़ी प्रकाश डाल चुके हैं, अतः यहां विस्तार न करेंगे। केवल इतना ही कहना इष्ट है कि बुद्ध-मत की-सी नैतिक मार्मिकता पूर्व-मीमांसा दर्शन में उपलक्षित नहीं होती और चूंकि इस शास्त्र का एकमात्र विषय ही उस चीज़ का निरूपण करना है जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ था, अतः इन दर्शनों की परम्पराओं में यदि सदा वाद-विवाद होते रहे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अब दोनों दर्शनों के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों का कुछ मिलान कर इस विवरण को हम समाप्त करें। जैमिनि और शाबर ने मोक्ष की आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि स्वर्ग ही उनके सामने सर्वोच्च आदर्श था और 'यागादिजन्यः स्वर्गजनकः कश्चन गुणविशेषः[2]' अपूर्व ही था उनका सर्वोत्तम आश्वासन ! किन्तु बाद के मीमांसकों ने उसके स्वरूप पर विचार किया है। फिर भी जैसे अन्य दर्शनों में जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति, अपर निःश्रेयस और पर निःश्रेयस तथा बौद्ध दर्शन में इन्हीं के अनुरूप निर्वाण

---

(१) एक वेदान्ती के रूप में कुमारिल के स्वरूप को समझने के लिए देखिए सर्व सिद्धान्त सार संग्रह।

(२) भीमाचार्य की अपूर्व की परिभाषा, देखिए उनका न्यायकोश।

और परिनिर्वाण की भावनाएँ पाई जाती हैं, वैसी कोई बात मीमांसा दर्शन में उपलब्ध नहीं होती। यह उसकी एक विशेषता है। प्रभाकर के मतानुसार देह का जब आत्यन्तिक उच्छेद हो जाय और धर्म और अधर्मों का निःशेष परिक्षय हो जाय, तब वह मोक्ष होता है[1]। शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि से युक्त आत्मज्ञान से साधना करने पर शारीरिक जीवन से मुक्ति मिल जाती है। कुमारिल के मतानुसार मोक्ष परम आत्मा की प्राप्ति की अवस्था मात्र है[2] और कुमारिल का यह भी तात्पर्य है कि मोक्ष तब तक शाश्वत नहीं हो सकता जब तक कि वह निषेधात्मक न हो[3]। इस विरोधात्मक प्रख्यापन में हम सम्भवतः तथागत के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण का स्पष्टीकरण देख सकते हैं। किन्तु फिर भी कुमारिल मोक्ष को भाव रूप मानते हैं। परन्तु समानता अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती।

इस प्रकार पूर्वमीमांसा दर्शन को बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में हमने देखा। दोनों के सर्वोत्तम तत्व ही हमने सामने रक्खे। अनेक बातों में दोनों की विभिन्नता पाई, बल्कि यों कहना चाहिए कि दोनों के दृष्टिकोण को ही विपरीत पाया। किन्तु किन बातों में? ज्ञान के उपकरणों और परिधानों में ही, उसके स्वरूप में नहीं। मीमांसा तो अपने बन्धन में बँधे रहने के कारण इच्छा रहते भी कुछ नहीं कह सकी, क्योंकि वह 'पूर्व' की ही जो मीमांसा थी। जैमिनि, शाबर और उपवर्ष इन सब ने इसी परम्परा को रक्खा। कुमारिल ज़रूर कुछ बाहर निकल आए, किन्तु ज्ञान-मार्ग में प्रवेश नहीं कर सके वे भी। उनका भी आत्मवाद वेदान्त कोटि को नहीं पहुँचा। बौद्ध आचार्यों ने मीमां-

---

(१) आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मनिबन्धनपरिक्षयो। तत्वालोक (शालिकनाथ कृत)।

(२) परमात्मप्राप्त्यवस्थामात्रम्। तथा विस्तार से श्लोकवार्तिक में इस प्रकार 'ज्ञानं मोक्षनिमित्तं च गम्यते नेन्द्रियादिना। आत्मा ज्ञातव्य इत्ये- तन्मोक्षार्थं न च चोदितम्॥ तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वाभावेन मुच्यते। न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम् न च क्रियायाः कस्या- श्चिदभावः फलमिष्यते। तत्र ज्ञातात्मतत्वानां भोगात् पूर्वक्रियाक्षये॥ उत्तर प्रचयाभावाद्देहो नोत्पद्यते पुनः। तदभावे न कश्चिद्धि हेतुस्तत्राव- तिष्ठते॥

(३) देखिए श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार।

सकों के तीव्र प्रत्याख्यान किए और उनके उत्तर में उन्हें वे ही मिले, बल्कि सम्भवतः कुमारिल के हाथों तो तीव्रतर ! किन्तु उनको यही आश्वासन कम न होना चाहिए कि उनके प्रतिकूल दर्शन का भी उन अप्रतिम 'नास्तिक्य-निराकरिष्णुः' (यह उपपद कुमारिल ने शाबर के लिए प्रयुक्त किया है, किन्तु उनके लिए भी यह प्रयुक्त किया जा सकता है।) आचार्य के द्वारा 'उपनिषत्प्रभवत्व' मानकर अपने ढंग से महत्व स्वीकार किया गया और उसी प्रकार मीमांसकों को भी बौद्ध आचार्यों का कुछ कम कृतज्ञ न होना चाहिए जिनके सत आगाह करने के फल स्वरूप ही वे सम्भवतः यज्ञादि की फल-प्राप्ति के विमोह से अपने मन को हटाकर उसे निष्काम यज्ञ में जोड़ने वाले हुए। दोनों ने एक दूसरे का विरोध कर एक दूसरे को दान ही दिया है, जिससे दोनों का ही कल्याण और दोनों का ही मार्ग प्रशस्त हुआ है।

ऐ—बौद्ध दर्शन और वेदान्त

'वेदान्त' शब्द से तात्पर्य भारतीय दर्शन में अपने पारिभाषिक अर्थों में उपनिषदों और उनके उपकारी शारीरक सूत्र आदि शास्त्रों से है[1]। उपनिषदें प्राचीनतम वेदान्त-ग्रन्थ हैं। वे ज्ञान के चरम निष्कर्ष हैं जिन्हें भारतीय मनीषा ने प्राप्त किया है। उपनिषदों के दर्शन का विकास विभिन्न ऋषियों ने किया था, यह हम पहले देख चुके हैं। अतः उनके प्रज्ञानों में जहां-तहां विभिन्नता भी है। सृष्टि-क्रम-चिन्तन को लेकर भारी मतभेद उपनिषदों के ऋषियों में था। उपनिषदों के दर्शन को एक समन्वित रूप देने का प्रयत्न सर्व प्रथम ब्रह्मसूत्र में किया गया। ब्रह्मसूत्र का ही दूसरा नाम शारीरक-सूत्र या वेदान्त-सूत्र भी है। 'शारीरक' शब्द का अर्थ है शरीर में रहने वाले जीव का विवेचन करने वाला शास्त्र। शरीर में उत्पन्न अर्थात् जीव। 'शरीरमेव शरीरकम्। शरीरके भवः शारीरकः जीवः'। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र जीव-शास्त्र या आत्म शास्त्र है। गीता को भी प्रायः वेदान्त-ग्रन्थ माना जाता है, क्योंकि वह स्वयं उपनिषदों रूपी गायों से कृष्ण द्वारा दुहा हुआ अमृत ही है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता वेदान्त के 'प्रस्थान त्रय' अर्थात् तीन प्रस्थान कहलाते हैं। उपनिषदों और गीता के साथ बौद्ध दर्शन का सम्बन्ध-विवेचन हम पहले कर चुके हैं। यहां ब्रह्मसूत्र और

उपोद्घात

(१) वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च। वेदान्त-सार।

उस पर आधारित वेदान्त-दर्शन की विकास-परम्परा को लेकर कुछ कहना इष्ट होगा।

वेदान्त दर्शन भारतीय विचार की सर्वोत्तम उपज है। उसे हम भारत का प्रतिनिधि राष्ट्रीय दर्शन कह सकते हैं, जब कि भारतीय दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वजनीन स्वरूप की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति बौद्ध दर्शन में ही हुई है। औपनिषद ज्ञान एक है, किन्तु उस एकता में अनेकता की उपलब्धि होती है। यही कारण है कि जिन ब्रह्मसूत्रों में उपनिषदों के मन्तव्य के एकीकरण का प्रयत्न किया गया, स्वयं उनकी अलग-अलग पांच व्याख्याएँ कालान्तर में की गईं जो विभिन्न वेदान्त-सम्प्रदायों के रूप में बाद में विकसित हो गईं।

वेदान्त-दर्शन के पंचमुखी विकास पर एक विहंगम दृष्टि

महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की। डा० दासगुप्त के मतानुसार ब्रह्मसूत्रों का रचना-काल ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी है[१]। अन्य विद्वानों ने दूसरे मत भी प्रकट किये हैं[२]। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन बुद्ध-काल के काफी बाद हुआ। ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य के रूप में सर्वप्रथम बौधायन और उपवर्ष ने वृत्तियां लिखी थीं, जो आज प्राप्त नहीं हैं। बौधायन-वृत्ति का उद्धरण आचार्य रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य (श्रीभाष्य) में दिया है। ब्रह्मसूत्रों के उपलब्ध भाष्यों में सब से प्राचीन आचार्य शंकर का है, जिसकी रचना आठवीं शताब्दी में हुई। इस भाष्य के ऊपर एक विशाल उपकारी साहित्य बाद की शताब्दियों में लिखा गया। शंकर और उनके अनुयायियों के द्वारा वेदान्त के निर्विशेषाद्वैत स्वरूप का समर्थन किया गया। यही शंकर का मत था। रामानुजाचार्य ने ग्यारहवीं शताब्दी में ब्रह्मसूत्रों पर अपने प्रसिद्ध 'श्रीभाष्य' की रचना की। उनका मत 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। रामानुज के मत की पुष्टि में भी प्रभूत साहित्य लिखा गया। आचार्य निम्बार्क ने भी ग्यारहवीं शताब्दी में ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा। उनका मत द्वैताद्वैत या भेदाभेद के नाम से प्रसिद्ध है। आनन्दतीर्थ ने तेरहवीं शताब्दी में ब्रह्मसूत्रों पर अपना भाष्य लिखा जिसमें ब्रह्मसूत्रों की द्वैतमयी व्याख्या की गई थी। यह भाष्य ही माध्व सम्प्रदाय का आधार है। आचार्य वल्लभ ने पन्द्रहवीं शताब्दी में

---

(१) हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४१८

(२) देखिये राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४३३

अपने शुद्धाद्वैत मत की पुष्टि करते हुए ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा। इस प्रकार पांच प्रकार की विभिन्न व्याख्याएँ ब्रह्मसूत्रों की हुईं। शंकर के अलावा शेष चार सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय कहलाते हैं, जब कि शंकर को हम शैव कह सकते हैं या सब से अतीत केवल अद्वैतवादी भी। यह ध्यान रखने की बात है कि ये पांचों आचार्य दक्षिण के ही निवासी थे। आचार्य शंकर मलबार के, रामानुज तमिल के, निम्बार्क तेलगू प्रदेश के और आनन्दतीर्थ और वल्लभ क्रमशः कर्नाटक और तेलगू प्रदेश के।

ब्रह्मसूत्रों और वेदान्त के उपर्युक्त पांच सम्प्रदायों के मध्य में कुछ उपनिषद्-उपकारी अन्य साहित्य भी है जो अपनी महत्ता और प्रभावशीलता के कारण 'वेदान्त' की ही कोटि में आता है। इसमें प्रथम ग्रन्थ तो है योगवासिष्ठ जो हमारे देश में साधकों को अत्यन्त प्रिय है और जिसकी-सी सरलता और निर्व्याज वेदान्त-देशना अन्यत्र मिलनी दुर्लभ है। दूसरा ग्रन्थ जो इसी दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है वह है महामनीषी आचार्य गौडपाद की अद्वितीय दार्शनिक और काव्यमय कृति 'माण्डूक्य कारिका' या 'आगमशास्त्र'। इनके बाद ही वेदान्त का पंचमुखी विकास प्रारम्भ होता है। अतः अपने विवेचन में हम पहले ब्रह्मसूत्रों को लेंगे, फिर योग वासिष्ठ को और तदन्तर आचार्य गौडपाद और उनकी 'माण्डूक्य कारिका' को लेकर क्रमशः वेदान्त के पंचमुखी विकास पर आयेंगे। पहले हम ब्रह्मसूत्रों को लेते हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि ब्रह्मसूत्रों की पांच विभिन्न व्याख्याएँ वेदान्त के आचार्यों ने की हैं। हम इनके सहारे ही ब्रह्मसूत्रों के मन्तव्यों को जानने का प्रयत्न करते हैं। इनसे व्यतिरिक्त, स्वयं बादरायण का मत क्या था, यदि यह हम जानने की खोज करें, तो भाष्यों का सहारा छोड़ देना ही पड़ेगा। उस हालत में महर्षि बादरायण के मन्तव्य का पता लगाना हमारे लिये बड़ा कठिन हो जायगा, यद्यपि वह अत्यन्त आवश्यक होगा। शेक्सपियर के सम्बन्ध में हमने अंग्रेजी समालोचकों को अक्सर कहते सुना है 'हम पूछते-ही-पूछते रह जाते हैं, किन्तु तुम स्मित करते हो और चुप रह जाते हो, ज्ञान का अतिक्रमण करते हुए'[१]। महर्षि बादरायण के सम्बन्ध में यह बात शेक्सपियर से भी अधिक ठीक है। दो-दो चार-चार अक्षरों के सूत्र-समूह से क्या अर्थ निकालें? फिर भी प्रयत्न करना मानवीय बुद्धि का काम है।

---

(१) We ask and ask, thou smilest and art still, out-topping Knowledge!

ब्रह्मसूत्र दर्शन और बौद्ध दर्शन से उसकी तुलना

'ब्रह्मसूत्र', 'वेदान्त सूत्र' अथवा 'शारीरक सूत्र' 'ब्रह्म' अथवा 'शारीर' की मुख्य चिन्ता को लेकर प्रवृत्त होता है, जैसा कि उसके प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (अब आगे ब्रह्म की जिज्ञासा) से स्पष्ट विदित है। ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय है। प्रथम अध्याय ब्रह्म के स्वरूप एवं जीव और जगत् के साथ उसके सम्बन्ध का निरूपण करता है। द्वितीय अध्याय में इसी स्थिति का स्पष्टीकरण एवं इसके विरुद्ध मतों का प्रत्याख्यान है। तृतीय अध्याय में साधनसम्पत्ति का वर्णन है और चतुर्थ अध्याय में ब्रह्मविद्या के फल का वर्णन है। इसीलिए इनका नामकरण भी क्रमशः समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय और फलाध्याय है। यही इस चतुराध्यायी शारीरक मीमांसा की संक्षिप्त विषय-सूची है। सब वेदान्त-वाक्यों का ब्रह्म में ही तात्पर्य है, यह तो ब्रह्म सूत्रकार ने भली प्रकार दिखाया है, किन्तु उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है, इसके विषय में उन्होंने कुछ स्पष्ट उत्तर मनुष्यों को सम्भवतः नहीं दिया। महर्षि बादरायण वेद को शाश्वत मानते हैं[1]। और शास्त्र को देते हैं अत्यन्त महत्व और प्रमाणवत्ता[2]। तर्क के द्वारा परम सत्य गम्य नहीं है[3], यह उनका स्पष्ट विचार है। अतः वेद के विषय में बुद्ध का ब्रह्मसूत्रकार से विपरीत मत है, किन्तु तर्क के विषय में प्रायः समान ही मत है। प्रत्यक्ष और अनुमान अथवा यों कहिए कि श्रुति और स्मृति, ये दो प्रमाण बादरायण को मान्य हैं[4]। निरुक्त अवस्था में तो ब्रह्मसूत्रकार तर्क का उपयोग आवश्यक मानते हैं किन्तु अनिरुक्त में शास्त्र ही उनके लिए एक मात्र प्रमाण है[5]। तथागत तो निरुक्त को छोड़ अनिरुक्त में गए ही नहीं, केवल उसकी एक झलक ही अनुभूति से उन्होंने

---

(१) अतएव च नित्यत्वम् ।१।३।२९; मीमांसकों के यह मत समान ही है।

(२) क्योंकि ब्रह्म की सिद्धि ही शास्त्र पर अवलम्बित है 'शास्त्रयोनित्वात्'। १।१।३

(३) तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्ष प्रसंगः। २।१।११

(४) शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। १।३।२८; अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। ३।२।२४; दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने। ४।४।२०

(५) श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्। २।१।२७

मनुष्यों को दी । तर्क को अनुभूति से निम्न श्रेणी में रखने के बादरायण भी पक्षपाती हैं[१]' और संराधन, ज्ञान-प्रसाद और विशुद्ध-सत्व होने पर ही सत्य को देखने योग्य दृष्टि मिल सकती है[२], इसमें तो बादरायण के समान ही तथागत को भी क्या आपत्ति हो सकती है, बल्कि इस साधन-सम्पत्ति की अधिक विस्तृत, व्यापक और तात्विक व्याख्या करना तो उनका कार्य ही है। यदि साधन अच्छे हैं तो साध्य भी अच्छा होना ही चाहिए। ब्रह्म को जगत् का उत्पत्ति, स्थिति और लय बताना[३], 'स्वाप्ययात्'[४] कह कर उसकी सिद्धि करना, प्रधान से उसे व्यक्तिरिक्त और सब गुणों का अधिष्ठान बताना[५], सर्वज्ञत्व, विशुद्धत्व आदि गुणों का उसमें होना बताना[६], जगत् का प्राण[७], आत्मा का प्रकाश[८] और मनुष्य की हृदय रूप गुहा में उसे रहने वाला ठहराना[९] और इन सब से ऊपर उसमें निष्ठा के द्वारा ही मोक्ष का उपदेश करना[१०] ये सब बातें बादरायण की ज्ञान-गरिमा की सूचक हैं, किन्तु तथागत की प्रज्ञापारमिता इनसे अनपेक्ष है । वह 'कर्म' के रूप में विश्व के एक 'अन्तस्तद्धर्म' (ब्रह्मसूत्रकार के शब्द[११]) की ओर संकेत तो करती है, किन्तु ब्रह्मसूत्रकार

(१) दृश्यते तु । २।१।६; तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः । २।१।११

(२) अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । ३।२।२४; मिलाइये 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वः....पश्यते निष्कलं ध्यायमानः । मुण्डक० ३।१।८; 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्....' कठ० ४।१

(३) जन्माद्यस्य यतः । १।१।२

(४) १।१।९

(५) सर्वधर्मोपपत्तेश्च । २।१।३७

(६) सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । १।२।१; विवक्षितगुणोपपत्तेश्च । १।२।२ सर्वोपेता च तद्दर्शनात् । २।१।३०

(७) अतएव प्राणः । १।१।२३; मिलाइए 'प्राणस्य प्राणः' । बृहदारण्यक० ४।४।१८

(८) ज्योतिश्चरणाभिधानात् । १।१।२४

(९) अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च । १।२।७; मिलाइये एष म आत्मान्तर्हृदये । उपनिषद्

(१०) तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् । १।१।७

(११) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । १।१।२०

की ही तरह उसका प्रख्यापन नहीं करती, कारण कि वह 'उपशान्तोऽयमात्मा' की ओर ही अधिक प्रवण दीखती है, ब्रह्म को छोड़ कर ब्रह्म-मार्ग पर ही अधिक निबद्ध-दृष्टि दीखती है। इस 'मार्ग' (मग्ग) में ही निष्ठा करने से उसके यहां मोक्ष के उपदेश का विधान है। 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्'। इसी प्रकार भगवान् सूत्रकार का जीव, ब्रह्म और जगत् पर विचार करना, कारणवाद की समस्या को सुलझाना, आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध का निरूपण करना आदि बातें ऐसी हैं जिनके प्रतिकूल सिद्धान्त हमें उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों की परम्परा में जिन्होंने नैरात्म्यवाद, क्षणिकवाद आदि सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया, बहुत मिल सकते हैं, किन्तु सम्यक् सम्बुद्ध इन सब वादों और प्रतिवादों से परे थे। ब्रह्मसूत्रकार ने ब्रह्म को जगत् का निमित्त और उपादान दोनों ही कारण माना है[1]। कारण और कार्य के गुण विभिन्न हुआ करें, किन्तु वे दोनों एक ही चीज़ होते हैं, ऐसा भी उन्होंने कहा है[2]। ब्रह्म और जगत् को उन्होंने अनन्य और अभिन्न ही माना है, जैसे मिट्टी के बर्तन से मिट्टी को[3]। मायावाद को कदाचित् उन्होंने नहीं माना है[4]। उन्होंने माना है कि ब्रह्म अपनी ही क्रीड़ा के लिए जगत् के रूप में प्रवेश कर जाता है और उसमें कोई विकार नहीं आता[5]। इस प्रकार जीव, जगत् और ब्रह्म के विषय को लेकर बहुत कुछ कहा है और इस दृष्टि से उत्तरकालीन बौद्ध विचार में जो कुछ भी उनको अपनी स्थिति के प्रतिकूल जँचा है, उस सबका प्रत्याख्यान उन्होंने स्वयं दूसरे अध्याय के दूसरे पाद में कर दिया है, जिस पर विचार इस समय न कर शांकर दर्शन पर विचार करते समय आगे करेंगे। हां, एक बात कहना और ज़रूरी है। नीति-तत्व ब्रह्मसूत्रकार ने स्पष्ट रूप में उपनिषदों का ही माना है[6]। अतः जो बात बुद्ध के दर्शन की औपनिषद दर्शन के साथ तुलना करते समय हम कह चुके हैं वह यहां भी ठीक है। 'अपशूद्राधिकरण'[7] में शूद्रों के लिए कुछ भी आश्वासन

---

(१) १।४।२३-२७
(२) द्रष्टव्य २।१।१४-२०
(३) द्रष्टव्य २।१।१४; १।४।२२
(४) मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्। ३।२।३
(५) मिलाइये २।१।३३; १।४।२६; २।१।२७
(६) देखिए २।३।४०-४२
(७) १।३।३४-३८

भगवान् बादरायण ने नहीं दिया है, यह उनके गौरव में एक बड़ी हानि लाने वाली बात है। वेदान्त-दर्शन की सारी महत्ता यहां धराशायी हो जाती है और घबराया हुआ आधुनिक विद्यार्थी सोचने लगता है कि अन्ततः वेदान्त का यह सब ज्ञान--विवेचन क्या बौद्धिक ही है? शूद्र के सम्बन्ध में बादरायण की स्थिति की जो व्याख्या हम यहां ले रहे हैं, वह गलत नहीं है, यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रसंग में शंकर और रामानुज जैसे विरोधी आचार्य भी जैसे एक दूसरे से शूद्र का अपलाप करने में प्रतिस्पर्द्धा-सी करते हैं। शूद्र को यज्ञ का अधिकार नहीं है, वह संस्कार के योग्य नहीं है, वेद पढ़ना उसको वर्जित है, इन बातों में बादरायण, शंकर और रामानुज में कोई अन्तर नहीं है। यहीं हमें भगवान् बुद्ध की 'चातुर्वर्णी शुद्धि' के वास्तविक महत्त्व का भान होने लगता है, 'अस्सलायण सुत्तन्त' की हमें याद आने लगती है जहां भगवान् ने शूद्र के अधिकार का घोषणापत्र तैयार किया था। यहीं हम सबसे अधिक अनुभूति कर सकते हैं कि भारतीय समाज के लिए छठी शताब्दी ईसवी पूर्व भगवान् बुद्ध ने क्या दिया था और उसका क्या महत्त्व था। समचर्यापरायण बुद्ध के केवल एक शब्द पर इन तथोक्त अभेदवादियों के सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रपद और भाष्य न्योछावर हैं। वैराग्य की महिमा भगवान् सूत्रकार ने स्वीकार की है[1] और कर्म और ज्ञान को मिलाने का भी प्रस्ताव किया है[2]। मनुष्य की निर्बलता को स्वीकार कर प्रतीक उपासना का भी निर्देश किया है[3] और निर्देश किया है देवों की पूजा का भी, चाहे वे ब्रह्म के अधीन ही क्यों न हों[4]? किन्तु विशेष जोर तो सूत्रकार भगवान् ने संराधन पर ही दिया है, जिससे वे अव्यक्त ब्रह्म की भी अनुभूति सम्भव मानते हैं[5]। फिर एक बात यह है कि बादरायण जीवन्मुक्ति में भी विश्वास करते हैं और इस प्रकार जीते जी निर्वाण के विचार से यहां कुछ सादृश्य दिखाई पड़ता है, किन्तु जब कि बुद्ध उसकी नैतिक स्थिति पर जोर देकर ही ऐसा उपदेश देते हैं, जीवन में उसका आचरण देखना चाहते हैं, बादरायण ने केवल बौद्धिक दृष्टिकोण से ही विचार किया है[6]। मनुष्य-मनुष्य में भेद

(१) ३।४।९
(२) ३।४।३२-३५
(३) ४।१।४
(४) ३।२।३८-४१
(५) ३।२।२३-२४
(६) तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ४।१।१३; इतरस्या-

देखने से जो विरत नहीं, ज्ञान पर जो द्विजातियों के एकाधिकार को मानता है, शूद्र के प्रति जिसकी निश्चयतः घृणा-बुद्धि है, वह जीवन्मुक्ति का क्या अनुभव करेगा, कुछ समझ में नहीं आता ! साधन और साध्य की, मोक्ष और उसके मार्ग की, जैसी संगति बौद्ध दर्शन में है, अभेद की जैसी निष्ठा--समाज की शिराओं को व्याप्त करने वाली निष्ठा--उन उद्भुत 'वेदान्तज्ञ' (वेदन्तगू) के धर्म में है, उसकी शतांश भी ब्रह्मसूत्रों में नहीं मिलती और इसका प्रमाण है 'अपशूद्राधिकरण।' अब हम योगवासिष्ठ के साथ बौद्ध दर्शन की कुछ तुलना करेंगे।

बौद्ध दर्शन और योगवासिष्ठ

योगवासिष्ठ को हम साधनात्मक वेदान्त का ग्रन्थ कह सकते हैं। मुमुक्षुओं के विचार के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है और उनमें लोकप्रिय भी है। शम और विवेक का तो इस ग्रन्थ को निधान ही कहना चाहिये। चित्त को शान्ति से भर देना, जो ब्रह्मनिष्ठा का लक्षण है, इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। जीवन्मुक्ति की अनुभूतियों से यह महाग्रन्थ स्पन्दित है। योग-वासिष्ठ में वसिष्ठ मुनि ने राम के प्रति योग-वेदान्त का उपदेश दिया है। जो ज्ञान योग-वासिष्ठ में निहित है, उसकी परम्परा वहां अत्यन्त प्राचीन बताई गई है। वसिष्ठ मुनि ने कहा है कि यह ज्ञान उन्हें ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था। 'इदमुक्तं पुरा कल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना'[1]। वसिष्ठ द्वारा राम को दिये गये इस उपदेश को महर्षि वाल्मीकि ने योग-वासिष्ठ के रूप में ग्रन्थ-बद्ध किया है, ऐसी प्राचीन मान्यता है। परन्तु आज जिस रूप में योग-वासिष्ठ हमें मिलता है, वह महर्षि वाल्मीकि की रचना नहीं माना जा सकता। योग वासिष्ठ का प्रणयन-काल अपेक्षाकृत काफी अर्वाचीन है। परन्तु योग वासिष्ठ का रचयिता चाहे जो रहा हो और कुछ भी उसका काल हो, वह जीवन्मुक्त, अखिल-ज्ञान-दर्शी महापुरुष अवश्य था, इसमें सन्देह नहीं।

बौद्ध दर्शन के साथ योगवासिष्ठ-दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा करने से पूर्व हमारे लिये योग वासिष्ठ के युग को जान लेना आवश्यक है। उसकी कुछ

प्येवमसंश्लेषः पाते तु ।४।१।१४; अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः। ४।१।१५; भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ।४।१।१९

(१) योगवासिष्ठ २।१०।९; मिलाइये वहीं 'पूर्वमुक्तं भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना.........तदिदं कथयाम्यहम्। २।३।१

अवगति प्राप्त कर लेने पर हम उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को अच्छी तरह देख सकेंगे जो बौद्ध धर्म और दर्शन ने योग वासिष्ठ की साधना-पद्धति के लिये प्रस्तुत की है और जिसका प्रभाव वेदान्त दर्शन के विकास पर भी काफी पड़ा है। योग वासिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण में गीता के २७१ श्लोक उद्धृत हैं[1], इससे स्पष्ट है कि योग वासिष्ठ गीता के बाद की रचना है। परन्तु इससे उसकी अर्वाचीनता का हमें कोई ठीक बोध नहीं होता। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने योग वासिष्ठ के रचना-काल के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। डा० फार्कुहार के मतानुसार योग-वासिष्ठ की रचना तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में हुई[2]। विन्टरनित्ज़ के मतानुसार योग-वासिष्ठ शंकराचार्य की समकालीन रचना है, अर्थात् उसका प्रणयन आठवीं शताब्दी के अन्त या नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ, जो प्रायः शंकराचार्य का समय माना जाता है[3]। एक अन्य विद्वान् (प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य) ने दसवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक का समय योग-वासिष्ठ का रचना-काल माना है[4]। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने सातवीं या आठवीं शताब्दी में योग-वासिष्ठ की रचना सम्भव मानी है[5]। योग-वासिष्ठ के रचना-काल की समस्या का पूर्ण समाधान हमें डा० भीखनलाल जी आत्रेय के इस सम्बन्धी अध्ययन में मिलता है, जिसे प्रायः सभी आधुनिक पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों ने स्वीकार भी कर लिया है। योगवासिष्ठ-दर्शन का सर्वप्रथम व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत करने का श्रेय डा० आत्रेय जी को ही है और जिस ऐतिहासिक सन्तुलन तथा निष्पक्ष समीक्षात्मक पद्धति से उन्होंने इसके प्रणयन-काल की समस्या को सुलझाया है, उसे हम सर्वांश में प्रामाणिक मान सकते हैं। डा० आत्रेय जी के मतानुसार योग-वासिष्ठ का रचना-काल कालिदास से पीछे और भर्तृहरि

---

(१) देखिये डा० भीखनलाल आत्रेय: योग वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ६७-६९

(२) एन आउट लाइन ऑव दि रिलीजस लिटरेचर ऑव इण्डिया, पृष्ठ २२८

(३) हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ४४३-४४४; भीखन लाल आत्रेय : योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ३३ में उद्धृत।

(४) देखिये डा० भीखनलाल आत्रेय : योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ३३

(५) इण्डियन आइडियलिज्म, पृष्ठ १५४

से पहले का है[1]। 'मेघदूत' की कथा का संक्षिप्त विवरण योग-वासिष्ठ में है और कहीं-कहीं महाकवि के शब्दों का भी अनुवर्तन किया गया है[2]। भर्तृहरि के 'वाक्य पदीय' और 'वैराग्य-शतक' के अनेक श्लोकों के साथ योग-वासिष्ठ के समानार्थक श्लोकों का तुलनात्मक अध्ययन कर डा० आत्रेय जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि योग-वासिष्ठ भर्तृहरि के उपर्युक्त ग्रन्थों से पूर्वकालीन रचना है[3]। भर्तृहरि का समय प्रायः सातवीं शताब्दी ईसवी का मध्य-भाग माना जाता है। अतः यह निश्चित है कि सातवीं शताब्दी ईसवी से पूर्व योग-वासिष्ठ अवश्य विद्यमान रहा होगा। सातवीं शताब्दी से पूर्व योग-वासिष्ठ की स्थिति स्वीकार कर लेने पर हमारे लिये यह मानना अवश्यम्भावी हो जाता है कि योग-वासिष्ठ शंकर और गौडपाद से पूर्व काल की रचना है। विशेषतः विवेक चूडामणि और माण्डूक्य कारिका के साथ योग-वासिष्ठ का तुलनात्मक अध्ययन कर और इन ग्रन्थों से भाषा और भाव में समान अनेक श्लोकों का उद्धरण कर डा० आत्रेय जी ने विद्वत्तापूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि योग-वासिष्ठ में प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त शंकर और गौडपाद से पूर्वकालीन है और इन दोनों आचार्यों ने योग-वासिष्ठ के विचारों को मौखिक परम्परा द्वारा प्राप्त किया था[4]। इसका अर्थ यह है कि उपनिषदों के बाद अद्वैत वेदान्त का सर्वप्रथम निरूपण हमें योग-वासिष्ठ में मिलता है, जिसका अनुसरण कुछ मात्रा में आचार्य गौडपाद और उनके शिष्य के शिष्य आचार्य शंकर ने भी किया है। कुछ उत्तरकालीन उपनिषदों से भी योग-वासिष्ठ पूर्वकालीन है। योग-वासिष्ठ के अनेक श्लोक महोपनिषद्, मुक्तिकोपनिषद् और मैत्रेय्युपनिषद् आदि उपनिषदों में पाये जाते हैं और डा० आत्रेय जी के मतानुसार ये श्लोक मूलतः योगवासिष्ठ के हैं और इनका अलग-अलग संकलन कर उपनिषदों के रूप में अन्तर्भुक्त कर दिया गया है[5]। इस सब विवेचन में हमारे लिये जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि योग-वासिष्ठ गौडपाद, शंकर और भर्तृहरि से पूर्व की रचना है और पूर्वकालीन उपनिषदों के बाद अद्वैतवाद का

(१) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ३४
(२) उद्धरणों के लिये देखिये 'योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त', पृष्ठ ३१
(३) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ २५-२७
(४) योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ १४-२२
(५) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ४५-५९

सर्व प्रथम ग्रन्थ है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर अब हम बौद्ध दर्शन के साथ उसके तात्त्विक सम्बन्ध की विवेचना करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार पूर्व-शंकरयुग से अद्वैत वेदान्तियों में बौद्ध दर्शन के साथ अद्वैत-तत्त्व की एकता स्थापित करने की चेष्टा काम करती चली आ रही थी और किस प्रकार योग-साधना के आलम्बन के रूप में बुद्ध के समान ऐतिहासिक व्यक्तित्व का अभाव उन्हें खटक रहा था, जिसकी पूर्ति उन्होंने पहले राम और कृष्ण को भगवान् विष्णु के अवतार के रूप में लाकर की, परन्तु उससे पूरा काम चलता न देख कर उन्होंने राम के एक दूसरे रूप की स्थापना योग-वासिष्ठ में की, जो मुमुक्षुओं के लिये अधिक अनुकूल थी, जिस पर हम अभी विचार करेंगे।

योग-वासिष्ठ का प्रथम अध्याय वैराग्य-प्रकरण है। उसमें राम के वैराग्य का वर्णन किया गया है, जबकि वे शैशव और यौवन की वयःसन्धि में थे। तरुण राम का यह संवेग गीतोक्त अर्जुन के विषाद का-सा नहीं है। यद्यपि अर्जुन के भी गात्र ढीले पड़ गये थे, उसके शरीर में भी कँपकँपी थी, गाण्डीव हाथ से गिरा पड़ता था, खड़ा भी उससे नहीं हुआ जाता था और वह भिक्षान्न खाकर जीवन-यापन करना अपने लिये अधिक श्रेयस्कर समझने लगा था, परन्तु राम के वैराग्य की रेखाएँ इनसे अधिक गहरे रंगों से अंकित है। योग-वासिष्ठ के 'वैराग्य-प्रकरण' को हम आसानी से वैराग्य का महाकाव्य कह सकते हैं। गीता के 'अर्जुन-विषाद-योग' की अपेक्षा उसका विषाद अधिक गम्भीर और दार्शनिक है। राम को जीवन में कुछ सार दिखाई नहीं पड़ता। उसकी अनित्यता का चिन्तन करते-करते वे सांसारिक कार्यों में अपनी सारी रुचि खो बैठते हैं। उन्हें सब कुछ जलता-सा दिखाई पड़ता है। राज्य का सम्पूर्ण वैभव भी उन्हें तृप्त नहीं कर सकता। उनके सेवकों ने उनकी वैराग्य-दशा का वर्णन इन शब्दों में राजा दशरथ के पास जाकर किया था, "राजन्! कुमार रामचन्द्र की दशा अत्यन्त ही शोचनीय होती जा रही है। हमारी समझ में नहीं आता कि उन्हें क्या हो गया है? बहुत बार याद दिलाने पर वे अपने नित्य कर्मों के करने में प्रवृत्त होते हैं और उनको किसी प्रकार का उत्साह नहीं है। सदा ही खिन्न वदन रहते हैं। स्नान, देवार्चन, दान, भोजन, आदि कभी करते हैं, कभी नहीं करते। जरा-जरा-सी बातों पर उनको क्रोध आ जाता है, क्योंकि जो कुछ भी उन्हें करना पड़ता है, वे मन से नहीं करते। कोई भूषण उनको पसन्द नहीं आता। जो युवतियां उनको प्रसन्न करने

के लिये उनके पास छोड़ी गई हैं, उनसे उनको बहुत ही घृणा होती है। जितने सुन्दर, स्वादु और मनोहर पदार्थ हैं उनको देखकर वे नाक चढ़ा लेते हैं। सदा ही मौन रहते हैं। एकान्त पसन्द करते हैं। यदि कभी हम उन्हें बोलते सुनते हैं तो ऐसे शब्द हमारे कानों में पड़ते हैं—'सम्पत्ति से क्या ? विपत्ति से क्या ? घर-बार से क्या ? राग-रंग से क्या ? सब कुछ व्यर्थ है। किसी वस्तु से परम सुख नहीं मिलता।' हम नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं, किस चीज का ध्यान करते हैं। हम केवल यही जानते हैं कि वे प्रति दिन कृश होते जा रहे हैं, पीले पड़ते जा रहे हैं। उनकी हालत को देखकर उनके और भाई भी दुःखी रहते हैं। माताओं को भी बड़ी चिन्ता लगी रही है। राजन् ! हम नहीं जानते कि उनके लिये क्या किया जाय। इसलिये आपको सूचना देने हम आये हैं।" दशरथ ने जब राम को बुलाया तो उन्होंने वसिष्ठ और विश्वामित्र के सामने अपने मन की व्यथा इन शब्दों में सुनाई, "ज्यों-ज्यों मेरी शैशवावस्था व्यतीत होती जा रही है, मेरे मन में यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि संसार में कोई भी सार वस्तु नहीं है। जगत् में मुझे कुछ भी आस्था नहीं रही। मेरी समझ में नहीं आता कि राज्य करने से, भोगों के पीछे दौड़ने से, लक्ष्मी का उपार्जन करने से, सुन्दर स्त्रियों के संग से, मनुष्य को कैसे सुख की प्राप्ति हो सकती है ? रात-दिन मैं देखता हूँ कि जिनको ये सब वस्तुएँ प्राप्त हैं वे भी महा दुःखी हैं। संसार के भोगों से सुख की आशा करना भ्रम है, मृगतृष्णा है। इन्द्रियों के भोग विषधारी सर्प के फण के समान दुःख-दायी हैं। मनुष्य को इस जीवन में कभी और कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। जीवन के पीछे क्या होता है, हम नहीं जानते। हम कहां से आते हैं, कहां जाते हैं, कुछ मालूम नहीं है। यह संसार क्या है, क्यों है, और इसका अन्त क्या है, हम कुछ नहीं जानते। मुझे तो संसार में किसी वस्तु की वांछा नहीं है। मुझे इस जीवन से प्रेम नहीं, क्योंकि इसमें मुझे कुछ भी सार दिखाई नहीं पड़ता। मुझे आप वह मार्ग बतावें जिस पर चलने से मुझे संसार रूपी गड्ढे में न गिरना पड़े। यदि आप मुझे ऐसा कोई उपाय न बतलावेंगे तो मैं स्वयं अपने आप ही सोच कर किसी उपाय को ढूढूंगा। और यदि मैं अपने निज के प्रयत्न से भी संसार से पार न हो सका और परमपद और सत्य की प्राप्ति न कर सका, तो मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अन्न और जल का त्याग कर, एक स्थान पर बैठ कर, चिन्तन करते-करते इस शरीर का त्याग कर दूंगा।" राम की इस उदात्त मनोदशा का वर्णन 'वैराग्य-प्रकरण' में अत्यन्त

मार्मिक ढंग से किया गया है, जो मुमुक्षुओं के लिये पठनीय है । डा० आत्रेय जी का कहना है कि जीवन की असारता का इतना भावपूर्ण वर्णन जर्मन तत्त्वज्ञ शॉपेनहार के लेखों के अतिरिक्त शायद ही कहीं अन्यत्र मिले[1] । हम जानते हैं कि शॉपेनहार बौद्ध दर्शन से अत्यन्त प्रभावित थे और वही प्रथम यूरोपीय विचारक थे जिन्होंने बौद्ध धर्म और दर्शन को यूरोप में लोकप्रिय बनाया । यहां यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि महामति शॉपेनहार सदा अपने पास एक बुद्ध-मूर्ति ध्यान के लिये रखते थे, जो लिखते समय प्रायः उनकी दृष्टि के सामने ही रहती थी । अतः शॉपेनहार के लेखों में जो विरागमय प्रभाव है, उसे हम समझ सकते हैं, परन्तु यहाँ तो हमें यह जानकर भी आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि इस छठी-सातवीं शताब्दी ईसवी के 'योग-वासिष्ठ' के राम-वैराग्य-प्रकरण की प्रेरणा का स्रोत भी प्रायः वही बुद्ध-जीवन रहा है जो शॉपेनहार के लेखों का था । यदि राम का वैराग्य एक ऐतिहासिक घटना थी तो योग-वासिष्ठ से पूर्व के किसी ग्रन्थ में उसका वर्णन क्यों नहीं है ? क्या वाल्मीकि ने उसका निर्देश किया है ? 'को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके' से प्रारम्भ कर महर्षि वाल्मीकि ने राम के जिन गुणों की लम्बी सूची दी है, उनमें राम के इस विरागी स्वरूप की तो कहीं गन्ध भी नहीं है । बल्कि वाल्मीकि की दृष्टि तो, योग-वासिष्ठ की तुलना में तो अवश्य ही, भोग-प्रधान ही कही जा सकती है । उत्तर रामचरित में, जो योग-वासिष्ठ से पूर्व की रचना है, राम को सीता के स्पर्श से मोहान्ध होता हुआ दिखाया गया है । 'स्पर्शः.... जडतां पुनरातनोति' । कालिदास के राम भी शृंगार के ही आराधक हैं । रघुओं के प्रति सामान्यतः कही जाने वाली 'यौवने विषयैषिणाम्' वाली बात राम पर भी पूरी तरह लागू होती है । राम-चरित के गायक प्रायः किसी प्राचीन कवि ने राम के उस विरागी रूप को नहीं लिया है, जिसे योग-वासिष्ठकार ने चित्रित किया है । तो फिर योग-वासिष्ठ को राम का यह रूप कहां से मिला ? उसका ऐतिहासिक आधार क्या है ? यह कम आश्चर्यजनक नहीं है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी, जिन्होंने राम को अवतार और धर्म संस्थापक माना है, बालकाण्ड या अयोध्या काण्ड में कहीं भी राम के उस विरागी रूप से हमारा परिचय नहीं कराया है जो योग-वासिष्ठ में विस्तार से अंकित है । अतः हमारे लिये यह जानना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि राम का यह रूप कहां से आया है ?

---

(१) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ १६०

राम की वैराग्य-दशा के वर्णन में जो बातें हमें अधिक महत्वपूर्ण लगती हैं उनमें प्रथम तो यह है कि वहां यह स्वीकार किया गया है कि वसिष्ठ के द्वारा उपदेश देने और उसके अनुकूल साधना करने से पूर्व राम अज्ञानी थे। यहां उनके मानव-रूप की पूर्ण स्वीकृति है। 'राम चरित-मानस' के समान, जिसकी दृष्टि अवतारवादी है, यहां राम जन्म के अवसर पर ही कौशल्या को अपना विश्व-रूप नहीं दिखा देते, बल्कि बुद्ध के समान वे पहले विषाद करते हैं, व्यथित होते हैं, जीवन की समस्या पर विचार करते हैं। फिर एक बड़ी बात जो ऊपर के उद्धरण में दृष्टिगोचर होती है यह है कि राम स्वयं अपने ही आप, 'अपने निज के प्रयत्न से' संसार-सागर को पार होने की बात सोचते हैं। अपने निज के प्रयत्न से ज्ञान प्राप्त करना, यह एक ऐसी मौलिक बात है जिसे प्रथम बार विश्व के साधकों में भगवान् बुद्ध ने ही कहा है। 'जो कुछ पुरुष के उद्‌यम द्वारा, पुरुषार्थ द्वारा, लभ्य है उसे बिना प्राप्त किये मेरा प्रयत्न नहीं रुकेगा' ऐसी गम्भीर वाणी सर्व प्रथम भारतीय ज्ञानाकाश में भगवान् बुद्ध ने ही कही थी। यह उनके साधना-मार्ग की एक बड़ी विशेषता है। बुद्ध के जीवन की सब से बड़ी बात ही यह है कि उन्होंने अपने तीव्र प्रयत्नों से सत्य को प्राप्त कर (तीव्रैः प्रयत्नैरधिगम्य सत्यं——बुद्ध-चरित) सत्यान्वेषकों को 'आत्मदीप बनो, आत्मशरण बनो' की वीर्यमयी वाणी से आश्वस्त किया था। छठी-सातवीं शताब्दी ईसवी के वेद या वेदान्त परम्परा के ग्रन्थ में जब हम प्रथम बार 'अपने निज के प्रयत्न से' मुक्ति-उपाय ढूंढ़ने का संकल्प सुनते हैं, तो हमारा विस्मित हो जाना स्वाभाविक है। यहाँ तो 'यमेवैष वृणुते' की ही बात थी, 'तत्प्रसादात्' परम शान्ति प्राप्त करने की बात थी, यह नई बात कहाँ से आ गई? इस विस्मय का रहस्योद्‌घाटन योग-वासिष्ठ की साधना-पद्धति पर निश्चित बौद्ध प्रभाव ही है। राम के परम्परागत भोगी रूप की मुमुक्षुओं के लिये अनुपयुक्तता और आकर्षणहीनता देखकर ही यहां उसे बुद्ध-जीवन के सांचे में ढालने का प्रयत्न किया गया है। यह काम प्रायः उसी समय (गुप्त-साम्राज्य के पतन के समय) किया गया जब उससे कुछ शताब्दियों पूर्व राम और कृष्ण की उपास्य के रूप में प्रतिष्ठा बुद्धदेव के स्थान पर की जा चुकी थी और मुमुक्षुओं के लिये उसकी आकर्षणहीनता दिखाई देने लगी थी। वाल्मीकि-रामायण में राम का लौकिक रूप अंकित था, उसी की पूर्ति-स्वरूप उनका अध्यात्म-साधक का रूप 'योग वासिष्ठ' में दिखाया गया और राम के जीवन की आध्यात्मिक व्याख्या प्रायः इसी समय

'अध्यात्म रामायण' के रूप में भी की गई। 'योग-वासिष्ठ' को 'महा रामायण' कहने में लौकिक के ऊपर आध्यात्मिक की प्रतिष्ठा ही ध्वनित है और इसे भी ऐतिहासिक गौरव देने के लिये वाल्मीकि के नाम के साथ संयुक्त कर दिया गया है। लोक-मर्यादा और लोक-मंगल के लिये राम का वह मर्यादा-परायण और दैत्यविनाशकारी रूप जो रामायण में अंकित है और अध्यात्म साधकों के लिये 'योग-वासिष्ठ' का विरागी रूप, इस द्विविध प्रणाली से एक ही रामरूप में लोक-धर्म की स्थापना के साथ-साथ उसे बौद्ध साधना से प्राप्त विरासत से भी संयुक्त करने का प्रयत्न किया गया, ऐसा हमारा विनम्र अभिप्राय है। राम और बुद्ध में हमें कोई भेद-बुद्धि नहीं है। शाक्यमुनि भी सूर्यवंशी हैं और इक्ष्वाकु उनके पूर्वज हैं। राम हों चाहे बुद्ध, हमारे लिये ऐक्ष्वाकुओं की अधीनता समान ही है। परन्तु योग-वासिष्ठ में तो राम ने बिलकुल तथागत-रूप ही धारण कर लिया है, यदि करुणामय प्रभु ऐसा न करते तो राम-भक्तों को अनायास ही बुद्ध-धर्म की फल-प्राप्ति कैसे होती ? सचमुच यहां 'केशव धृत बुद्ध शरीर' यह जयदेव की वाणी अक्षरशः सत्य हो गई है। राम साधकों के लिये भी आकर्षक बनें, इसके लिये यह आवश्यक है कि वे अपने धनुष-बाण को छोड़कर विरागी रूप में हमारे सामने आयें। इसी तथ्य की स्वीकृति योगवासिष्ठ में, विशेषतः उसके वैराग्य-प्रकरण में, हुई है, ऐसा हमारा विनम्र अभिप्राय है।

सिद्धान्तों का आकलन करने पर तो योग-वासिष्ठ पर बौद्ध प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट होने लगता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, योग-वासिष्ठ साधनात्मक वेदान्त का ग्रन्थ है, गौडपाद और शंकर के समान सैद्धान्तिक या तर्कात्मक पद्धति वहां नहीं है। स्वमत-मंडन और परमत-खंडन में वहां रुचि नहीं दिखाई गई है। जहां साधना है, वहां मतवाद को—दृष्विाद को—कभी प्रधानता नहीं मिल सकती। भगवान् बुद्ध के समान योग-वासिष्ठकार की भी मान्यता है कि विवाद में फँसी हुई बुद्धि सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकती। सत्य का साक्षात्कार शान्त, समाहित चित्त में ही हो सकता है और उसके लिये वाद-विरति आवश्यक है। मुक्त पुरुष विवाद में नहीं पड़ते। जिसने सत्य को जान लिया है, वह दार्शनिक वाद-विवाद में नहीं पड़ता। भगवान् बुद्ध ने ऐसे तार्किकों की निन्दा की थी, जो किसी दृष्टि को ग्रहण कर विवाद करते हैं और कहते हैं कि 'यही सत्य है'—इदमेव सच्चंति विवादयन्ति। ऐसे पुरुष अपने ही मत में शुद्धि मानते हैं, दूसरे में नहीं। वे अपने मत में आसक्त होकर उसी

के गुण गाते हैं। विवाद के इच्छुक वे परिषद् में जाकर एक दूसरे को मूर्ख बताते हैं। प्रशंसा के इच्छुक वे अपने को कुशल वादी समझ कर अपने धर्म में आसक्त हो विवाद में पड़ते हैं। परन्तु मुक्त पुरुषों के पास तो विवाद रूपी युद्ध के लिये कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता। ज्ञानी लोक में किसी से विवाद नहीं करता। विभिन्न मतों के कारण मनुष्य विवाद करते हैं और नाना सत्यों को बताते हैं। परन्तु वस्तुतः तो सत्य एक ही है। अतः जो धारणाओं और मतवादों को छोड़ता है, वह विवाद में नहीं पड़ता। दृष्टिवाद सम्बन्धी कुछ बुद्ध-वचनों को योग-वासिष्ठकार के वचनों से मिलाना उचित होगा।

भगवान् बुद्ध कहते हैं, "लोग अपनी-अपनी दृष्टि में स्थिर हो, विवाद में पड़कर अनेक प्रकार से अपने को कुशल बताते हैं और कहते हैं कि जो इसे जानता है वह धर्म को जानता है, और जो इसकी निन्दा करता है, वह पूर्ण ज्ञानी नहीं है[१]।

"कुछ लोग जिसे सत्य कहते हैं, और लोग उसे प्रलाप और असत्य बताते हैं। इस प्रकार वे विग्रह में पड़कर विवाद करते हैं। श्रमण एक ही बात क्यों नहीं बतलाते[२] ?

"लोग नाना सत्यों को क्यों बतलाते हैं ? वे अपने को कुशल कह कर क्यों विवाद करते हैं ?[३]"

"जिसके कारण मनुष्य दूसरे को मूर्ख बनाता है, उसी कारण अपने को कुशल बताता है। अपने को कुशल बताने वाला वह उसी कारण दूसरे की अवज्ञा करता है।

"शुद्धि यहीं है, दूसरे धर्मों में शुद्धि नहीं है—इस प्रकार वे विवाद करते हैं—

"जो अपनी दृष्टि का दृढ़ ग्राही होकर दूसरे को मूर्ख बताता है, दूसरे धर्म को मूर्ख और अशुद्ध बताने वाला वह स्वयं कलह का आह्वान करता है"।

योग-वासिष्ठकार ने भी कहा है :—"परमार्थ के अज्ञान के कारण अथवा विपरीत ज्ञान के कारण मनुष्य परस्पर विवाद करते हैं। जिस प्रकार पथिक अपने ही मार्ग को सर्वोत्तम समझते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने-अपने सिद्धान्तों की ही प्रशंसा करते हैं।"

---

(१) सुत्त-निपात।
(२) सुत्त-निपात।
(३) सुत्त-निपात।

वस्तुतः सत्य तो एक ही है। भगवान् बुद्ध ने जोर देकर कहा है "सत्य एक ही है दूसरा नहीं, जिसके विषय में मनुष्य मनुष्य से विवाद करे" धारणा ही अनेक सत्यों का निर्माण करती है। "संसार में नाना और बहुत सत्य हैं ही नहीं।" वस्तुतः धारणा या मत-वाद ही कलह-मूल है। "किसी धारणा पर स्थित हो वह उसकी तुलना कर संसार में विवाद करता है। किन्तु जो सभी धारणाओं को त्याग देता है, वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता।" जीवन-शोधन सभी मतवादों से ऊपर है। इसी तथ्य को योगवासिष्ठकार ने इन शब्दों में रक्खा है—

सर्वैरेव च गन्तव्यं तैः पदं पारमार्थिकम्।
विचित्रं देशकालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः ॥३।९६।५१

जिस प्रकार बहुत से पथिक नाना देशों से आते हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगर को जाते हैं, उसी प्रकार सब दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ पद को नाना देश और काल में ज्ञात मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। जीवन-शोधन के मार्ग में जो साधन हितकारी हैं, वे सब योग-वासिष्ठ को मान्य हैं। "जिस मार्ग से जिस मनुष्य की उन्नति होती है उस मार्ग पर चले बिना उसकी गति शोभा नहीं देती, न सुख देती और न उसके लिये हित और शुभ फल वाली होती है।" योग-वासिष्ठ के काल तक विज्ञानवाद और शून्यवाद की विचार-पद्धतियों का पूर्ण विकास हो चुका था। औपनिषद मन्तव्य के साथ उनके सम्बन्ध की समस्या अवश्य ही भारतीय विचारकों को काफी समय से व्यस्त कर रही थी। योगवासिष्ठकार ने इस समस्या का समाधान करते हुए स्मरणीय शब्दों में कहा है:—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम् ॥५।८७।१८
....
मध्यं माध्यमिकानां च..............॥५।८७।२०

इसका अर्थ यह है कि परम तत्त्व के विषय में योग-वासिष्ठकार की अविवाद दृष्टि है। जिसे शून्यवादी शून्य, ब्रह्मवादी ब्रह्म, विज्ञानवादी विज्ञान मात्र और माध्यमिक लोग मध्यम कहते हैं, वह एक ही है। शंकर-पूर्व वेदान्त ग्रन्थ के लिये यह कहना ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त सार्थक बात है। शंकर के निर्गुण ब्रह्म और शून्यवादियों के शून्य में तथा विज्ञानवादियों की विज्ञानमात्रता में कहां क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, यह समस्या आगे आयेगी। शंकर इस बात को कहेंगे कि उनका ब्रह्म कुछ लोगों को बौद्धों का शून्य सा लगता है, विज्ञानमात्रता

की अनित्यता का भी वे प्रत्याख्यान करेंगे, उस समय हमें योग-वासिष्ठकार की उपर्युक्त उक्ति को स्मरण कर लेना होगा, जिसकी ओर संकेत सम्भवतः आचार्य शंकर का हो सकता है परन्तु जिससे सहमति उन्होंने नहीं दिखाई है। कुछ भी हो, हमारे लिये इतिहास का यह साक्ष्य महत्त्वपूर्ण है कि शंकर और गौडपाद से पहले योगवासिष्ठकार ने शून्य, ब्रह्म और विज्ञानमात्रता के एक होने की बात कही थी और एक समन्वयात्मक दृष्टि का विकास किया था। विज्ञानवाद का प्रभाव योग-वासिष्ठ में जगह-जगह उपलक्षित है। यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ है, किस आधार पर स्थित है, और कैसे इसका क्षय होता है? इसके उत्तर में कहा गया है "हे शुक! यह संसार अपने चित्त में ही उत्पन्न होता है और चित्त के निःसंकल्प होने से क्षीण होता है। चित्त के संकल्प में ही इसकी स्थिति है। दृश्य के लिये जब तक चित्त में वासना है, तभी तक संसार का अनुभव होता है।" बन्धन और मोक्ष भी चित्त की अवस्थाएँ ही मानी गई हैं। इन्द्रजालोपाख्यान में बताया गया है कि सारा जगत् मन के भीतर है। परन्तु योग-वासिष्ठ का यह विज्ञानवाद बाह्यार्थवाद से भिन्न नहीं है। यहां भी वही समग्र दृष्टि दिखाई पड़ती है, जो योग-वासिष्ठ की अपनी विशेषता है। योग-वासिष्ठकार ने गम्भीर शब्दों में कहा है "बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः" अर्थात् बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद में हमको कोई भेद नहीं जान पड़ता। अतः हम कह सकते हैं कि योग-वासिष्ठ में केवल बौद्ध और वेदान्त दर्शनों का ही समन्वय नहीं किया गया है, बल्कि बौद्धों के बाह्यार्थवादी और विज्ञानवादी इन दो ऊपर से विभिन्न दिखाई देने वाले सम्प्रदायों को भी एक ही सत्य का प्रतिपादक माना गया है।

योग-वासिष्ठ वस्तुतः वेदान्त दर्शन का एक बृहद् ग्रन्थ है। अनेक प्रकार के विचार और दार्शनिक नय इस महाग्रन्थ में महाभारत की तरह भरे पड़े हैं।

योग वासिष्ठ और बौद्ध दर्शन

भावना इसकी प्रारम्भ से अन्त तक वैराग्यमयी है। अतः दुःख की स्थिति रूप प्रथम आर्य सत्य की अनुभूति जो कि भारतीय दर्शन की सामान्य प्रतिष्ठा है, जिसको स्वीकार कर उसकी निवृत्ति में हमारे विचारक चले हैं, इस ग्रंथ में प्राचुर्य के उसकी साथ वर्तमान है।[1] प्रथम प्रकरण ही

---

(१) 'यदिदं दृश्यते किञ्चित् तन्नास्ति किमपि ध्रुवम्।
यथा गन्धर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले॥ योग-वासिष्ठ।

इसका 'वैराग्य प्रकरण' से शुरू होता है। उपदेशों के प्रवाह में हम योग-वासिष्ठ में बौद्ध दर्शन और विशेषतः विज्ञानवाद तथा कहीं-कहीं शून्यवाद की बड़ी मार्मिक अभिव्यक्तियां पाते हैं। वे स्वाभाविक ही हैं या बौद्ध दर्शन के प्रभाव स्वरूप हैं, यह कहना कठिन है। हां, यह हमें ध्यान रखना चाहिए कि वेदान्त दर्शन अत्यन्त व्यापक दर्शन है और जहां कहीं हम उसमें विज्ञानवाद आदि की भावनाओं को देखें तो सदा ही उन्हें बौद्ध प्रभाव के परिणाम स्वरूप ही नहीं मान लेना चाहिए। कौन सा ऐसा भारतीय साधना का ग्रन्थ है जिसने वैराग्य का निरूपण नहीं किया है या जीवन के दुःखों की झांकी नहीं दिखाई है ? जिसे दुःखों की अनुभूति नहीं हुई वह आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ ही कैसे सकता है ? प्रथम प्रकरण में पीत वदन राम का वैराग्य सब इसी दृष्टिकोण से देखने योग्य है। विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से देखने पर योग-वासिष्ठकार जीवन की एकता मानने वाले ही दीखते हैं जैसे कि प्रायः सभी औपनिषद ऋषि हैं। किन्तु योग-वासिष्ठकार के अद्वैत और उपनिषदों के आत्मैकत्व विज्ञान में कुछ अन्तर है। योग-वासिष्ठकार कुछ विज्ञानवाद की ओर अधिक प्रवण दिखाई पड़ते हैं और यह प्रवणता निश्चय ही उनकी ब्रह्मवादिता में ही समा जाती है। योग-वासिष्ठकार 'विज्ञप्तिमात्रता' के उपासक हैं, उनके लिए जगत् मनोमय है। द्रष्टा और दृश्य में योगवासिष्ठकार भेद नहीं देखते। 'जो वस्तुयें एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं उनमें सम्बन्ध नहीं हो सकता और बिना सम्बन्ध हुए ज्ञाता को ज्ञेय का अनुभव नहीं हो सकता[1], अतः ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक है कि प्रकृति और पुरुष, विषय और विषयी अत्यन्त भिन्न न हों, क्योंकि 'सम्बन्ध एकता को तो ही जानो और जो समान नहीं हैं उनमें यह नहीं हो सकता[2]', 'सजातीय पदार्थों में ही एकता या सम्बन्ध होता है, इसी से एक को दूसरे का अनुभव होता है[3]', जब ऐसा ही है तो फिर द्रष्टा और दृश्य दोनों ही चैतन्य हैं। 'यदि द्रष्टा और दृश्य दोनों ही चैतन्य रूप न होते तो द्रष्टा दृश्य को कभी न जान सकता,

---

(१) न सम्भवति सम्बन्धो विषमाणां निरन्तरः। न परस्पर-सम्बन्धात् विनानुभवनं मिथः। ३।१२१।३७

(२) ऐक्यं च विद्धि सम्बन्धं नास्त्यसौ असमानयोः ।३।१२१।४२

(३) सजातीयः सजातीयेनैकतामनुगच्छति। अन्योऽन्यानुभवस्तेन भवत्वेकत्व-निश्चयः। ६।२५।१२

जैसे पत्थर गन्ने का स्वाद नहीं जानता[१]।' यही विशुद्ध चेतनाद्वैत है। योगवासिष्ठकार को सब जगत् ही चेतनामय दिखाई देता है, सम्भवतः उसी रूप में जैसे कि दशभूमीश्वर सूत्र में 'चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यद् उत त्रैधातुकम्'। योगवासिष्ठकार कहते हैं 'यह सारा ब्रह्माण्ड बोध रूप है, जैसे वायु केवल स्पन्दन है और समुद्र जलमात्र है। ये तीनों लोक मन के मनन के द्वारा ही निर्मित हैं, मनोमय हैं। द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियां, दिशायें, ये सब अन्तःकरण तत्व के भाग ही हैं जो बाहर स्थित हैं[२]।' इस प्रकार सभी विश्व के पदार्थ बोधमय हैं। फिर विज्ञानवाद की परम्परा के अनुकूल ही योग वासिष्ठकार जाग्रत् दशा और स्वप्नदशा में कोई भेद नहीं समझते[३]। किन्तु इस सबका तात्पर्य यह नहीं कि कोई शाबर उन्हें आकर यही याद दिला सके कि 'अर्थविषया प्रत्यक्षबुद्धिर्न बुद्धिविषया' जैसा कि उन्होंने विज्ञानवादियों को दिलाया। योगवासिष्ठकार एक वेदान्ती हैं और एक वेदान्ती की ही तरह वे एक ज्ञानातिरिक्त ज्ञाता में विश्वास रखते हैं जो स्थिर है, फिर चाहे उसके निर्देश में योगवासिष्ठकार भी भले ही अन्य निर्विशेषाद्वैतवादियों की तरह ही 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्व'—('शून्य' के लिए नागार्जुन के द्वारा प्रयुक्त नाम) से अधिक कुछ न कह सके हों। फिर जिसे कार्यकारण का अन्त में अपलाप करना है 'केन कं विजानीयात्.. .विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' जैसी कोई बात कहनी है, अविद्याकल्पित 'वेद्यवेदितृवेदनादिभेद' का परम तत्व के विषय में उपनयन करना है, उसे तो फिर 'अस्ति' 'नास्ति' आदि की माध्यमिकों वाली चार कोटियों से विनिर्मुक्त तत्व में अपने आप प्रवेश कर जाना ही होगा :

---

(१) द्रष्टृदृश्ये न यद्येकमभविष्यच्चिदात्मके। तद् दृश्यास्वादमज्ञः स्यान्ना दृष्ट्वेक्षुभिवोपलः। योगवासिष्ठ ६।३८।९; मिलाइये वहीं 'यदि काष्ठोपलादीनां न भवेद् बोधरूपता। तत्सदानुपलम्भः स्यादेतेषामसतामिव ॥ ६।२५।१६

(२) सर्वं जगद्गतं दृश्यं बोधमात्रमिदं ततम्। स्पन्दमात्रं यथा वायुर्जलमात्रं यथार्णवः। योगवासिष्ठ ६।२५।१७; मनोमननिर्माणमात्रमेतज्जगत् त्रयम्। वहीं ४।११।२३; द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः। अन्तःकरणस्य तत्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः। वहीं ५।५६।३५

(३) जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरतास्थिरते विना। समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः। वहीं ४।१९।११

न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्याद्
न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम्।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्
कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ।।'

भगवान् योगवासिष्ठकार ने ब्रह्म का निरूपण कुछ इसी प्रकार किया है :

"न चेतनो न च जडो न चैवासन्नसन्मयः।
नाहं नान्यो न चैवेको नानेको नाप्यनेकवान्[१]।।"
"यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः[२]"
"न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा[३]"
"न सन्नासन्न मध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च
मनोवाचाभिरग्राह्यं शून्याच्छून्यं सुखात्सुखम्[४]"

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक उच्छ्वास में यदि योगवासिष्ठकार 'न चेतनो न च जडो' कहते हैं, 'न चैवासन्न सन्मयः' कहते हैं 'न च नास्तीति चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं' कहते हैं, 'न सन्नासन्न' कहते हैं, 'शून्याच्छून्यं' कहते हैं तो दूसरे ही उच्छ्वास में उसे 'चिद्वपुः' कहते हैं, 'शान्तमल' कहते हैं, 'सुखात्सुखम्' कहते हैं। निश्चय ही यह बौद्ध दर्शन नहीं, किन्तु वेदान्त दर्शन है—ऐसा वेदान्त जिसमें बौद्धों की कठिनाइयों की सम्यक् अनुभूति है, उनके साथ सहानुभूति भी है और औपनिषद मन्तव्य के साथ उसको मिलाने की कल्याणमयी चेष्टा भी। योगवासिष्ठकार एक वेदान्ती हैं। ब्रह्म के विषय में योगवासिष्ठकार कहते हैं 'सर्वशक्ति परं ब्रह्म सर्ववस्तुमयं ततम्। सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम्'[५] परम तत्व की 'आत्मा' संज्ञा को कल्पित कहते हुए मनीषी योगवासिष्ठकार कहते हैं 'आत्मैव स्पन्दते विश्वं वस्तु जातैरिवोदितम्। तरंगकणकल्लोलैरनन्ताम्ब्वम्बुधाविव[६]।।' समस्त जगत् उन्हें ब्रह्ममय, ब्रह्मा-

---

(१) योगवासिष्ठ ५।७२।४१
(२) वहीं ३।५।५
(३) वहीं ६।५३।९
(४) वहीं ३।११९।८३
(५) योगवासिष्ठ ६।१४।८
(६) वहीं ५।७२।२३

नन्द की हिलोरें मारते हुए समुद्र की तरह दिखाई पड़ता है जिसकी तह में एकत्व के रूप में सभी कुछ छिपा हुआ पड़ा है। पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी और आकाश सभी ब्रह्म रूप हैं; वही ब्रह्म के अंकुरों में लीन होता है, वही पत्तों में रस बन जाता है, जल की लहरों में क्रीड़ा करता है, शिला के उदर में नृत्य करता है, मेघ बन कर बरसता है और शिला बन कर स्थिर होता है। सब जगत् की वस्तुएं ब्रह्म हैं[1]। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'। इस प्रकार योगवासिष्ठकार का तत्वचिंतन औपनिषद ज्ञान के अनुकूल है। साधना के क्षेत्र में वे अनुभूति के बड़े पक्षपाती हैं[2] और यह बुद्ध के विचार के साथ बड़ी समानता है। बुद्ध और उपनिषद् अनुभूति को ही प्रधान मानते हैं। पुरुषकार की योगवासिष्ठकार ने बड़ी महिमा गाई है[3] और इस रूप में बुद्ध के मन्तव्य से उनका साम्य है। समाधि निरूपण में भी बहुत कुछ साम्य है, किन्तु योगवासिष्ठ का एक इतना परिपूर्ण दर्शन है और उसमें इतनी विभिन्न साधनायें एकत्र हुई हैं कि जितना साम्य दिखाया जा सकता है उतना अनेक बातों में असाम्य भी। समग्र रूप में बौद्ध साधकों के लिये भी यह ग्रन्थ उतना ही उपयोगी और आदरणीय है, जितना अन्य किसी के लिए। यदि इस महाग्रन्थ का चीनी और जापानी भाषाओं में अनुवाद हो जाय तो हमें विश्वास है कि ध्यान (जैन) सम्प्रदाय के बौद्धों में इसे उससे कम श्रद्धालु और मननशील पाठक नहीं मिलेंगे जितने कि भारत में। अब हम गौडपाद के दर्शन पर आते हैं।

---

(१) परमार्थघनं शैलाः परमार्थघनं द्रुमाः। परमार्थघनं पृथ्वी परमार्थघनं नभः॥ लीयतेऽङकुरकोशेषु रसीभवति पल्लवे। उल्लसत्यम्बुवीचित्वे प्रनृत्यति शिलोदरे॥ प्रवर्षत्यम्बुदो भूत्वा शिलीभूयावतिष्ठते। ब्रह्म सर्वं जगद्वस्तु पिण्डमेकमखण्डितम्। योगवासिष्ठ।

(२) अनुभूतिं विना रूपं नात्मनश्चानुभूयते। सर्वदा सर्वथा सर्व स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः। योगवासिष्ठ।

(३) न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना। यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः। योग वासिष्ठ ३।९२।८; मिलाइये बुद्ध का बोधि-प्राप्ति से पूर्व का अविचल संकल्पः 'पुरुष के उद्यम के द्वारा जो कुछ प्राप्य है, उसे बिना पाए मेरा वीर्य न रुकेगा'।

बौद्ध दर्शन और आचार्य गौडपाद

बौद्ध दर्शन और आचार्य गौडपाद

बौद्ध दर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए आचार्य गौडपाद और उनकी माण्डूक्यकारिका से अधिक विचारणीय बात संभवतः और कुछ नहीं है। अतः यहाँ तो कुछ विस्तार भी क्षम्य होगा। ऐसा न करना तो इन प्रथम वेदान्त के आचार्य के प्रति अवमानना भी होगी, क्योंकि जिन्होंने औपनिषद ज्ञान की प्रतिष्ठा लेकर 'यथावलं' बुद्धों को नमस्कार किया, उन्हीं के सामने यह बौद्ध दर्शन की रथ-यात्रा जो सभी दर्शनकारों के पास थोड़ी थोड़ी देर टिक कर उन्हें अपने दर्शन देकर और उनके दर्शन लेकर ले जाई जा रही है, यदि कुछ अधिक देर तक न ठहराई जाय ताकि वे मनीषी आचार्य उसकी आरती उतार लें, तो क्या यह उन मनीषी को दुःख नहीं देगी? अतः ठहरते हैं।

गौड (बंगाल) देश के निवासी आचार्य गौडपाद अद्वैत वेदान्त के प्रथम आचार्य हैं। भगवान् शंकर के गुरु 'गोविन्द भगवत्पूज्यपाद' के वे कदाचित् गुरु थे। इसीलिये शंकर ने माण्डूक्यकारिका-भाष्य में उन्हें 'पूज्याभिपूज्य परमगुरु' कह कर नमस्कार किया है। 'तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुं नतोऽस्मि'। उनका काल ईसा की आठवीं शताब्दी का प्रारम्भिक अथवा सातवीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। कुछ विद्वानों के मत में उनका काल करीब ५५० ईस्वी के करीब है।[1] जैकोबी के मतानुसार उन्होंने उत्तर गीता पर भी टीका लिखी थी। कुछ भी हो, हम तो यहां उनकी एकमात्र प्रसिद्धतम कृति 'माण्डूक्यकारिका' को ही अपने विचार का विषय बनायेंगे। 'माण्डूक्यकारिका' एक प्रकार से माण्डूक्य उपनिषद् के ऊपर व्याख्या के रूप में ही लिखी गई है। किन्तु इसके चार प्रकरणों में से केवल प्रथम प्रकरण ही माण्डूक्य उपनिषद् से संबंध रखता है और शेष तीन प्रकरण स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में हैं। आचार्य शंकर ने माण्डूक्यकारिका पर टीका लिखी है जिसे 'गोविन्द भगवत्पूज्यपाद' के शिष्य, ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकर्ता, 'आद्य' शंकराचार्य की कृति होने के रूप में आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य ने संदेह का विषय बनाया है।[2] हम स्वतंत्र रूप से ही 'माण्डूक्यकारिका' के दर्शन और

---

(१) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४५२

(२) देखिए उनका इस विषय में लेख 'विश्व भारती'--(शान्ति-निकेतन) --पत्रिका में; पौष १९९९, पृष्ठ ११-१७; आचार्यपाद कहते है 'मेरी

बौद्ध दर्शन के संबंध को निरूपित करने का प्रयत्न करेंगे। चूंकि यह विषय बहुत विषम है और केवल एक दो स्थानों की समानताओं और असमानताओं अथवा शब्दसाम्यों के आधार पर ही कोई निश्चयात्मक निर्णय नहीं दिया जा सकता, इसलिए हम यहां प्रथम तो माण्डक्यकारिका के समग्र दर्शन को उसके संग्राहक रूप में देखने का प्रयत्न करेंगे और फिर बाद में उसके ऊपर समीक्षा करने का। इसलिए पहले हम 'माण्डूक्यकारिका' की संक्षिप्त विषय-वस्तु में प्रवृत्त होते हैं।

माण्डूक्यकारिका चार प्रकरणों में विभक्त है, आगम-प्रकरण, वैतथ्य प्रकरण, अद्वैत प्रकरण, और अलात-शान्ति प्रकरण। गौडपादाचार्य का कहना है कि उनके द्वारा उपदिष्ट अद्वैत श्रुति और युक्ति दोनों के द्वारा सिद्ध है[1]। प्रथम प्रकरण में आचार्यपाद ने माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या की है। द्वितीय वैतथ्य प्रकरण में जगन्मिथ्यात्व को उपपन्न किया है और द्वैत के मिथ्यात्व को भी दिखलाया है। तृतीय अद्वैत प्रकरण में अद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन है और चतुर्थ अलात-शान्ति प्रकरण में प्रपञ्चोपशम का मार्ग दिखाया गया है[2]। अलात कहते हैं जलती हुई मसाल की लौ को जो निरन्तर घूमती हुई प्राणियों को तप्त करती है। इसी की शान्ति के लिए आचार्य ने उपाय बताया है।

दृढ़ धारणा है कि माण्डूक्य भाष्य के रचयिता सिर्फ ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आदि-शंकर से ही भिन्न नहीं हैं, वे नृसिंहतापनीय उपनिषद् के भाष्यकार से भी भिन्न हैं।" वहीं पृष्ठ १४

(१) निश्चितं युक्तियुक्तञ्च यत्तद्भवति नेतरत्। माण्डूक्य कारिका ३।२३; देखिए इसी पर शांकर भाष्य 'श्रुत्या निश्चितं यदेकमेवाद्वितीयमजममृतमिति युक्तियुक्तं युक्त्या च सम्पन्नम्'।

(२) 'तत्र तावदोंकारनिर्णयाय प्रथमं प्रकरणमागमप्रधानमात्मतत्वप्रतिपत्त्युपायभूतम्। यस्य द्वैतप्रपञ्चस्य उपशमेऽद्वैतप्रतिपत्ती रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पोपशमे रज्जुतत्वप्रतिपत्तिः तस्य द्वैतस्य हेतुतो वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकरणम्। तथा अद्वैतस्यापि वैतथ्यप्रसंगप्राप्तौ युक्तितस्तथात्वदर्शनाय तृतीयं प्रकरणम्। अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्षभूतानि यानि वादान्तराण्यवैदिकानि सन्ति तेषामन्योऽन्यविरोधित्वादतथार्थत्वेन तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम्'। शांकर भाष्य का प्रारम्भ।

जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, 'अलात-शान्ति' शब्द आचार्य ने बौद्धों से लिया है और उन्हीं के अर्थों में प्रायः उसका प्रयोग किया है, यद्यपि मैत्रायणी उपनिषद् में भी यह शब्द मिलता है[1]। अभी हम माण्डूक्य-कारिका की विषय वस्तु को ही कुछ अधिक विस्तार से देखें, उसके समग्र रूप से अभिज्ञा प्राप्त करने के लिए।

आगम प्रकरण--यह प्रथम प्रकरण माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या के रूप में है, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं। मूल माण्डूक्य उपनिषद् का प्रारम्भ आत्मतत्व की प्राप्ति के उपायभूत ओंकारोपासना के माहात्म्य से प्रारम्भ होता है। 'ओमित्यक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्व-मोङ्कारमेव'। इसके बाद आचार्यदेव मांडूक्य उपनिषद् के व्याख्यान स्वरूप 'चतुष्पात्' आत्मा के विवरण देने में प्रवृत्त होते हैं, जो इस प्रकार है (१) जागरित स्थान, बहिःप्रज्ञ, स्थूलभुक्, वैश्वानर आत्मा (२) स्वप्न स्थान अन्तःप्रज्ञ, प्रविविक्त भुक्, तैजस आत्मा (३) सुषुप्त स्थान एकीभूत प्रज्ञाघन आनन्दमय चेतोमुख प्राज्ञ (४) न अन्तः प्रज्ञ, न बहिः प्रज्ञ, न उभयतः प्रज्ञ, न प्रज्ञाघन, न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ, किन्तु अदृश्य, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शांत, शिव, अद्वैत, आत्मा। यही चतुर्थ आत्मा है, जिसके विषय में उपनिषदों की वाणियां, 'तत्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', तत्सत्यम्, 'स आत्मा,' 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः', 'आत्मैवेदं सर्वं', 'ओमित्येवोपासीत्', इत्यादि रूप से प्रवृत्त होती हैं। फिर ओं की तीनों मात्राओं अकार, उकार और मकार के अर्थों का विवेचन है। जागरित स्थान वैश्वानर ही ओंकार की प्रथम मात्रा है, स्वप्न स्थान तैजस ही द्वितीय मात्रा और स्वप्न स्थान प्राज्ञ ही तृतीय मात्रा है। बिना मात्राओं के चौथा (तुरीय) आत्मा अव्यवहार्य, प्रपञ्च का उपशम करने वाला, शिव और अद्वैत है। इस प्रकार ओंकार आत्मा ही है। आत्मा से आत्मा में ही वह प्रवेश करता है, जो इस प्रकार जानता है। इतनी ही माण्डूक्य उपनिषद् है। इसके भाष्य स्वरूप आचार्य गौडपाद ने आगम प्रकरण में २९ कारिकाएं लिखी हैं। प्रथम पांच कारिकाओं में आत्मा के तीन प्रस्फुरणों अर्थात् विश्व अथवा वैश्वानर आत्मा (२) तैजस आत्मा और (३) प्राज्ञ का विवरण दिया गया है। विश्व, तैजस और प्राज्ञ नाम से

---

(१) ६।२४

अभिहित त्रिधाभूत भोक्ता वास्तव में एक ही है। एक ही तीन प्रकार से स्मरण किया गया है।[1] ऐसा जो जानता है, वह अनुभव करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता।[2] इनमें से विश्व बहिःप्रज्ञ स्थूल भुक् है, तैजस अन्तः प्रज्ञ प्रविविक्त भुक् है और प्राज्ञ घनप्रज्ञ आनन्द भुक् है।[3] इसके बाद जगत् की सृष्टि के संबंध में विभिन्न मतों का विचार है। कुछ का मत है कि प्राण से जगत् की उत्पत्ति हुई है, कुछ के अनुसार सृष्टि अपने कारण का प्रसारण मात्र (विभूति) है (विभूतिर्विस्तारः—शाङ्कर भाष्य), कुछ के मतानुसार सृष्टि स्वप्न और माया के समान है। कुछ कहते हैं कि सृष्टि केवल प्रभु की इच्छा मात्र है और काल के विषय में चिन्तन करने वाले कहते हैं कि काल ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। कुछ कहते हैं कि यह ईश्वर के भोगार्थ है, कुछ कहते हैं कि उसके क्रीड़ार्थ है, फिर कुछ यह भी कहते हैं कि यह तो ईश्वर का स्वभाव है कि वह सृजन करता है फिर भी कोई इच्छा नहीं रखता क्योंकि वह आप्तकाम है।[4] सृष्टि-चिन्तकों के इन मतों की विशेष

---

(१) एक एव त्रिधा स्मृतः। माण्डूक्य कारिका १।१

(२) त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः। वेदैतदुभयं यस्तु स युञ्जानो न लिप्यते। माण्डूक्य कारिका १।५

(३) विश्वो हि स्थूलभुङ नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्। आनन्दभुक् तथा प्राज्ञ स्त्रिधा भोगं निबोधत। माण्डूक्य कारिका १।३; बहिः प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः। घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः। माण्डूक्य कारिका १।१

(४) प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः। सर्वं जनयति प्राणश्चेतोन्शून्पुरुषः पृथक्॥ १।६ विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टि-चिन्तकाः। स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥ १।७ इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः। कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः १।८; भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे। देवस्यैष स्वभावोऽयं आप्तकामस्य का स्पृहा॥ १।९; मिलाइये, किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठिताः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥ कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्याः। संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः। श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रारम्भ।

व्याख्या न कर परमार्थचिन्तक आचार्य गौडपाद आत्मा की उस चतुर्थ दशा के स्वरूप-निरूपण करने में लगते हैं जो अदृश्य, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शांत, शिव और अद्वैत है। उसी को वे परम जानने योग्य वस्तु मानते हैं। अनादि माया के द्वारा सोया हुआ यह संसारी जीव जब जागता है तभी उसे अज, सभी भावों और विकारों से वर्जित, अनिद्र और अस्वप्न अद्वैत तत्व का बोध होता है।[1] इस जगने की अवस्था के प्राप्त होने पर यह प्रपञ्च अर्थात् दृश्य जगत् नहीं रहता, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा तो तब कहा जा सकता था जब पहले यह कहीं होता और फिर बाद में निवृत्त होता। यदि पहले होता भी तभी तो इसकी निवृत्ति भी हो सकती थी, किन्तु यह सब द्वैत तो केवल मायामात्र ही है। न तो इसकी प्रवृत्ति ही है और न निवृत्ति ही। परमार्थ तत्व तो केवल अद्वैत है।[2] इस प्रकार 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत् पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात्', 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्', 'एकमेवाद्वितीयम्,' आदि श्रुतियों के आधार पर 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' इस प्रकार अद्वैत की स्थापना कर आचार्य गौडपाद अपनी कारिकाओं के दूसरे प्रकरण पर आते हैं, जिसका नाम वैतथ्य प्रकरण है और जिसमें ३८ कारिकाएँ हैं।

वैतथ्य प्रकरण

इस प्रकरण में भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि सभी वाह्य और अध्यात्मिक पदार्थ स्वप्न हैं, वितथ हैं। उनमें अन्तर केवल अन्तःशरीरसंवृतत्व और काल के अदीर्घत्व का है। आचार्य के प्रशस्त शब्दों में, जिनसे वे इस प्रकरण का आरम्भ करते हैं: 'वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः। अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना।। अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति। प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते।। अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम्। वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्नं आहुः प्रकाशितम्'।। जाग्रत् अवस्था

---

(१) अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा। माण्डूक्य कारिका १।१६

(२) प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः। मायामात्रमिदं द्वैतं अद्वैतं परमार्थतः।। माण्डूक्य कारिका १।१७; विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्। उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते। वहीं १।१८

के अनुभवों में और स्वप्नावस्था के अनुभवों में आचार्य कोई विभेद नहीं देखते। वे दोनों को समान रूप से असत्य मानते हैं "स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः। भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना॥ २।५" गौडपादाचार्य का तर्क यह है कि जो आदि में भी नहीं है और जो अन्त में भी नहीं है, वह वास्तव में वर्तमान में भी नहीं है। अतः वह वितथ है, असत्य है। 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। वितथैः सदृशाः संतोऽवितथा इव लक्षिताः'॥ २।६। यदि जागरित अवस्था के अनुभवों की सप्रयोजनता को लेकर कुछ कहा जाय तो यह भी मनीषी आचार्य को मान्य नहीं है। 'सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते। तस्मादाद्यन्तवत्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः' २।७॥ जगी हुई अवस्था में खा-पीकर भी तो स्वप्नावस्था में मनुष्य भूख के स्वप्न देख सकता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्था में खा-पीकर भी जगने पर भूखा रह सकता है। तो फिर जागरित अवस्था की विशेषता क्या रही? सिर्फ काल के दीर्घत्व और अदीर्घत्व का ही तो सवाल रहा। स्वप्न में दृश्यभाव अन्तःस्थान होते हैं और आपेक्षिक होते हैं (संवृतत्वेन), यही उनका जागरित अवस्था के दृश्य भावों से विभेद हो सकता है, किन्तु दृश्यत्व और असत्यत्व तो दोनों जगह समान ही हैं 'दृश्यत्वमसत्यत्वंच अविशिष्टमुभयत्र' (शांकर भाष्य, माण्डूक्य कारिका २।४ पर)। इस स्वप्न के दृष्टान्त को आचार्य गौडपाद ने बहुत विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है और यदि इस विषय में हमें उनकी तुलना विचार और भाषा दोनों की दृष्टि से बौद्ध आचार्यों के साथ करनी है, तो कुछ अधिक विस्तार भी यहां क्षम्य होना चाहिए। गौडपादाचार्य ने फिर-फिर कर पुनरुक्ति करते हुए प्रवाहशील भाषा में इस भाव को दिखाया है कि स्वप्न में वस्तुएं आंतरिक रूप से कल्पित होती हैं किन्तु बाह्य जगत् में बाह्य अनुभूति है, परन्तु वास्तव में वे दोनों असत्य ही हैं। चित के द्वारा जो कुछ देखा जाता है वह उसी समय की अनुभूति होती है, और बाह्य पदार्थों के अस्तित्व के दो काल होते हैं, एक अनुभूति के पहले और एक अनुभूति के समय पर, किंतु ये दोनों ही कल्पित हैं, अतः स्वप्न और जागरित अवस्थाओं के अनुभवों में कोई तात्विक भेद नहीं है 'चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः। कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः' २।१४॥ आध्यत्मिक पदार्थ अव्यक्त है और बाह्य पदार्थ स्फुट, किन्तु दोनों ही समान रूप से कल्पित हैं, भेद केवल इन्द्रिय का है जिसके द्वारा इन दोनों की अनुभूति होती है 'अव्यक्ता एव

येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः। कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्तित्वन्द्रियान्तरे।' २।१५। अब प्रश्न यह होता है कि यदि जाग्रत् अवस्था के पदार्थ भी स्वप्नवत् ही हैं तो फिर इन्हें बोध कौन करता है और इनका आलम्बन क्या है? इस प्रश्न को गौडपादाचार्य उठाना भूल नहीं गये हैं और यह वेदान्त का एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यहीं से उसका बौद्ध दर्शन से मार्ग विभिन्न होता है। 'उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि। क एतान् बुध्यते भेदान् को वै तेषां विकल्पकः' २।१२। आचार्य गौडपाद निश्चयात्मक शब्दों में वेदान्त का साक्ष्य देकर कहते हैं कि आत्मा ही अपनी माया से अपने को भेदों में कल्पित करता है और वही उनका बोध भी करता है। 'कल्पयत्यात्मनात्मानं आत्मा देवः स्वमायया। स एव बुध्यते भेदान् इति वेदान्तनिश्चयः। '२।१२। यदि ऐसा ही है, तो फिर इस कल्पना का कि 'मैं करता हूं, 'मेरे सुख दुःख हैं' मूल क्या है? इस पर विचार करते हुए भगवान् गौडपाद कहते हैं कि पहले जीव की कल्पना होती है और फिर उसके बाद विविध बाह्य और आध्यात्मिक भावों की। 'जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान् पृथग्विधान्। बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथा स्मृतिः॥' २।१६। यह उस देव की माया ही है जिसके द्वारा आत्मा प्राणादि भावों में विकल्पित होता है'प्राणादिभिरनन्तस्तु भावैरेतैर्विकल्पितः। मायैषा तस्य देवस्य ययायं मोहितः स्वयं'॥ २।१९। जिस प्रकार अंधेरे में रज्जु में सर्प की कल्पना होती है, उसी प्रकार आत्मा अपनी माया के कारण अनेक रूपों में प्रतिभासित होता हुआ अपने को देखता है। किन्तु जैसे रस्सी का ठीक ज्ञान हो जाने पर सर्पादि का भ्रम दूर हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा का निश्चित ज्ञान हो जाने पर अद्वैत ज्ञान प्रस्फुटित होता है। 'निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते। रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः।' २।१८। परमार्थावस्था का विवरण भी बौद्ध और वेदान्त दर्शनों की तुलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आचार्यदेव कहते हैं कि वास्तव में न तो निरोध है और न उत्पत्ति, न कोई बद्ध है और न कोई साधक, न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त। 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता' २।३२। यहां पृथक् और अपृथक् कुछ नहीं है। राग, भय और क्रोध से रहित मुनियों ने यहां सब निर्विकल्प, प्रपञ्चोपशम और अद्वयतत्व ही देखा है। 'न पृथङ नापृथक्किञ्चिदिति तत्वविदो विदुः २।३४। वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः। निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः।' २।३५। फिर इस अखंड

सत्ता की अपेक्षा में विश्व तो स्वप्न मात्र होना ही ठहरा, 'स्वप्न मात्रे यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तविचक्षणैः। २।३१। इतनी ही इस प्रकरण की संक्षिप्त विषय-वस्तु है।

अद्वैत प्रकरण तृतीय प्रकरण (अद्वैतप्रकरण) में गौडपादाचार्य ने युक्तियों के सहारे अद्वैत तत्व का प्रतिपादन किया है और साथ ही मायावाद का भी। आत्मा को उन्होंने आकाश के समान कहा है, सूक्ष्म, निरवयव और सर्वगत। क्षेत्रज्ञ रूप घटाकाशों के समान हैं। घटादि के विलीन होने पर जिस प्रकार घटाकाशादि विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव भी आकाश रूप आत्मा में विलीन हो जाते हैं[1]। एक प्राणी के सुख-दुःख में, एकात्मा के होने पर, अन्य को भी ऐसा क्यों नहीं होता, इसका उत्तर घटाकाश का उदाहरण देकर आचार्यदेव ने दिया है[2]। उनका मत है कि आत्मा में भेद करना व्यर्थ है। जैसे घटाकाश आकाश का न तो विकार है और न अवयव, इसी प्रकार जीव न आत्मा का विकार है और न अवयव है[3]'। मूढ़ जन जिस प्रकार मलिनता को आकाश में आक्षिप्त करते हैं उसी प्रकार आत्मा को अनेक मल-रूप उपाधियों से मलिनीकृत करना है[4]। देहादि संघात सभी स्वप्नवत् हैं और आत्मा की माया के द्वारा उद्भूत हैं। परमार्थ रूप में वे अपनी सत्ता नहीं रखते। प्राणियों की विशेषता या समता का कोई हेतु नहीं है, क्योंकि सब अविद्याकृत हैं और परमार्थ में वे हैं ही नहीं[5]। इस प्रकार परमार्थ सत्य की भूमि में कारणवाद रहता ही नहीं। द्वैतवादी आपस में भले ही लड़ते रहें, किन्तु अद्वैत तत्व तो उनसे अविरुद्ध है। अद्वैत ही

---

(१) घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा। आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवाः इहात्मनि। ३।४

(२) इस प्रकार, यथैकस्मिन् घटाकाशे रजो धूमादिभिर्युते। न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ३।५

(३) नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा। नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा। ३।७

(४) यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः। तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः।३।८; मिलाइए ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य का उपोद्घात।

(५) संघाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममायाविसर्जिताः। आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ३।१०

परमार्थ है और द्वैत उसका भेद है[१]। कारणवाद परमार्थ सत्य पर जाकर समाप्त हो जाता है, इसे गौडपादाचार्य ने इस प्रकरण में बड़ी अच्छी तरह से दिखाया है। मायावाद की भी सिद्धि एवं 'अजातिवाद' का निरूपण इस प्रकरण के अन्य महत्वपूर्ण विषय हैं[२]। समग्र चराचर जगत् को आचार्यदेव ने 'मनोदृश्य' कहा है और उसे ही दिखाया है द्वैत भावना का मूल कारण भी[३]। योग की अंतिम अवस्था को उन्होंने संज्ञा दी है 'अस्पर्शयोग' की और यह भी दिखाने की चेष्टा की है कि इस 'अभय' स्थान में योगियों का भय देखना सावकाश नहीं है[४]। गौडपादाचार्य ने यह भी कहा है कि सब को दुःख ही अनुस्मरण कर कामनाओं से निवृत्ति लेनी चाहिए और 'अज' तत्व का अनुस्मरण कर 'जात' को देखना ही नहीं चाहिए, क्योंकि 'उत्तम सत्य' यही है कि 'कुछ उत्पन्न नहीं होता[५]।' इसी से 'स्वस्थ', 'शांत' अकथ्य' 'उत्तम' 'सुख' 'सनिर्वाण' प्राप्त होता है[६]।

(१) जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते। नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवेह समञ्जसम्। ३।१३; स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्। परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते। ३।१७; अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते। तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते। ३।१८

(२) नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि। अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः।३।२४; स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः। सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते॥ ३।२६; सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्वतः। सत्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते।३।२७; असतो मायया जन्म तत्वतो नैव युज्यते। वन्ध्यापुत्रो न तत्वेन मायया वापि जायते॥ ३।२८

(३) मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्। मनसोऽमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते। ३।३१

(४) अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्व योगिनः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः। ३।३९

(५) दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्। अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव पश्यति। ३।४३; न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते। एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते। ३।४८

(६) स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्। अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते। ३।३७

अब हम 'माण्डूक्यकारिका के चतुर्थ प्रकरण 'अलातशांति' पर आते हैं, जो हमारी दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महामहोपाध्याय पं० विधुशेखर जी भट्टाचार्य ने इस प्रकरण का (और वैसे तो समग्र माण्डूक्य कारिका का ही) बौद्ध दर्शन के साथ एक अनुत्तर तुलनात्मक अध्ययन हमारे लिए उपस्थित किया है[1], किंतु उससे लाभ उठाने और कुछ प्रकाश पाने के पहले हमें स्वयं इस 'अलातशांति' प्रकरण की विषय-वस्तु को ही देख जाना चाहिए। गौडपादाचार्य ने इस प्रकरण के प्रारंभ में 'अस्पर्शयोग' के उपदेष्टा किसी 'सम्बुद्ध' 'द्विपदां वरम्' की वन्दना की है जिसने 'गगनोपम धर्मों' का उपदेश किया है और जिसके द्वारा उपदिष्ट 'अस्पर्शयोग' अविवाद और अविरुद्ध है' तथा सब प्राणियों को सुख देने वाला एवं हितकारी है:

अलातशान्ति प्रकरण

'अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्वसुखो हितः ।
अविवादो ऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ।
ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्हे द्विपदां वरम् ।।

यह 'गगनोपम' धर्मों का शास्ता कौन है और 'अस्पर्शयोग' को किस 'सम्बुद्ध' ने सिखाया है, इसके विषय में 'मूलमाध्यमिक कारिका' और 'लंकावतारसूत्र' जैसे ग्रंथों के विचार और उनकी भाषा से परिचित आधुनिक निष्पक्ष विद्यार्थियों को कुछ कठिनाई नहीं हो सकती, किन्तु इन कारिकाओं के भाष्यकार ने तो बुद्ध की ओर इस स्पष्ट संकेत को उड़ाकर केवल ईश्वर, नारायण या पुरुषोत्तम की वन्दना करते हुए आचार्य को दिखाया है।[2] निश्चय ही यह सत्य-निष्ठा की द्योतक पद्धति नहीं है। परन्तु अभी

---

(१) देखिए श्री विधुशेखर जी भट्टाचार्य का 'गौडपाद' शीर्षक लेख 'प्रवासी' आश्विन १३४४; देखिए इसी वर्ष का ज्येष्ठ अंक भी। इन्हीं गम्भीर विद्वान् ने हमारे देश में सर्व प्रथम 'माण्डूक्य कारिका' का बौद्ध दर्शन के साथ व्यापक और विस्तृत अध्ययन उपस्थित किया है। उनका यह अध्ययन 'दि आगमशास्त्र ऑव गौडपाद' शीर्षक से अंग्रेजी में पुस्तकाकार प्रकाशित भी हो चुका है।

(२) ईश्वरो यो नारायणाख्यस्तं वन्देऽभिवादये। द्विपदां वरं द्विपदोपलक्षितानां पुरुषाणां वरं प्रधानं पुरुषोत्तममित्यभिप्रायः। शांकर भाष्य।

तो हमें विवेचन बिलकुल न कर केवल मूल विषय-वस्तु पर ही अपनी दृष्टि जमानी चाहिए। वन्दना समाप्त करके ही गौडपादाचार्य पुनः अपने विषय 'अजातिवाद' पर आजाते हैं। एक लंबे तौर से वे इसका विवेचन करते हैं। भगवान् गौडपादाचार्य को सांख्यों के और न्याय-वैशेषिक के कारण-वाद संबंधी सिद्धांत (क्रमशः सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद) मान्य नहीं हैं; उनको तो केवल 'अजातिवाद' ही मान्य है :—

'भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि।
अभूतस्यापरे धीराः विवदन्तः परस्परम्॥
भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते॥

फिर अन्य प्रभावशाली तर्कों के द्वारा आचार्य गौडपाद विरोधी सिद्धांतों का खंडन करते हुए (जिनसे हमें यहां विशेष संबंध नहीं है) इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि '**बुद्धों**' ने सदा 'अजाति' वाद का ही उपदेश दिया है, 'एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता' (४।१९)। न 'स्वतः' ही और न 'परतः' कोई वस्तु उत्पन्न होती है। 'सत्' 'असत्' 'सदसत्' कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती[1]। अतः 'चित्त' भी उत्पन्न नहीं होता और न 'चित्तदृश्य'। उसकी उत्पत्ति को जो देखते हैं वे आकाश में स्थान को ही देखते हैं[2]। इस प्रकार परमार्थ में कार्य-कारण भाव का सर्वथा लोप वतलाते हुए भगवान् गौडपाद कहते हैं कि यह अजातिवाद ही **बुद्धों** का निश्चित सिद्धांत है, किन्तु साधारण जनों को यह कुछ भय का कारण होता है क्योंकि 'अस्तित्व' संबंधी वे एक गलत विचार लिए हुए होते हैं। अतः **बुद्धों** ने उनके भय को हटाने के लिये कहीं-कहीं 'जाति' वाद का भी ख्यापन किया है :—

उपलम्भात् समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम्। जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा।' ४।४२। वास्तव में तो न चित्त और न धर्म उत्पन्न ही होते हैं क्योंकि वे अज हैं (एवं न जायते चित्तमेवं धर्माः अजा स्मृताः ४।४६। आदि में भी वे नहीं हैं, अन्त में भी वे नहीं हैं, अतः निश्चय ही वर्तमान में भी वे नहीं हैं। वे तो वितथ पदार्थों के ही सदृश हैं, क्योंकि वे आदि और अन्तवान् हैं :—

(१) **स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते। सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।४।२२**

(२) **तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते। तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ।४।२८**

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशा सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः।।

जब 'अजाति' वाद ही परम सत्य है तो विषय-विषयि भाव से भासता क्या है? भगवान् गौडपाद का उत्तर है 'विज्ञान'! ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा। ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा' ४।४८। सीधे और टेढ़े का आभास जिस प्रकार मशाल के स्पन्दन करने से होता है, उसी प्रकार ग्रहण और ग्राहक अर्थात् विषयी और विषय का आभास भी विज्ञान के स्पन्दित होने के कारण ही होता है। अलात अर्थात् जलती हुई मशाल जब जलती है तो उसका आभास या प्रकाश कहीं अन्य से उत्पन्न नहीं होता और जब वह बुझ जाती है तो उसका प्रकाश कहीं अन्यत्र प्रवेश नहीं कर जाता, किन्तु स्वयं में ही समा जाता है। यही हालत स्पन्दित और अस्पन्दित विज्ञान की भी है—

'अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः।
न ततोऽन्यत्र निष्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते।।
अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा।।
न निर्गता अलातान्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः।।

अतः निश्चय ही यह जो कुछ भी ग्राह्य-ग्राहक भाव है, सब चित्त का स्पन्दन ही है। 'चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम्' (४।७२)। स्वप्नमय जीव का जैसे मरना और जीना है, मायामय जीव का जैसे मरना और जीना है, निर्मितक जीव का जैसे जीना और मरना है, वैसे ही इस संसार में सारे प्राणी जीते और मरते हैं। भगवान् गौडपादाचार्य के ही काव्यमय और प्रांजल शब्दों में,

'यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपिच।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च।।
यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च।।
यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च।।

तो क्या फिर अन्तिम सत्य उच्छेदवाद ही है? आचार्य उत्तर देते हैं, नहीं। 'संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै। सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन

नास्ति वै'। 'संवृति' से यह सब उत्पन्न होता है, इसलिए शाश्वत नहीं है। सद्भाव से तो अज ही है, अतः उच्छेद नहीं है। यह 'संवृति' क्या है, इसको कुछ अधिक सपष्ट करते हुए भगवान् वेदान्तविद् कहते हैं कि जो संवृत्ति से कल्पित है, वह परमार्थ में नहीं है। 'योऽस्तिकल्पित संवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ। परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥ (४।७३)। अतः फिर आचार्य गौडपाद घूम फिर कर यहीं आ जाते हैं कि सब धर्म अनादि और आकाश के समान ही हैं और उनमें नानात्व कहीं कुछ नहीं है। "प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः। विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किंचन' (४।९१)। यह 'साम्य' 'अज' और 'अद्वय' तत्व ही **'बुद्धों'** का सदा विषय रहा है 'विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम्'। यही 'चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' तत्त्व (नागार्जुन का वाक्यांश क्षम्य हो, यहां समता ही इतनी अधिक है !) परम 'अद्वय' 'ब्राह्मण्य' पद है, जो **'बुद्धों'** के द्वारा प्रकीर्तित है और जिससे अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है—

'अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरो त्रयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥
कोटयश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सहावृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥
प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम्।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते।.......
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥'

यहीं पर उपसंहार करते हुए भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि **'बुद्ध'** (एकवचन, जैसे इस प्रकरण के आरम्भ में) का आकाशकल्प ज्ञान धर्मों में कहीं संक्रमित नहीं होता, किन्तु यह ज्ञान बुद्ध ने कहा नहीं—'क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः। सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितम्'। इस श्लोक का क्या ठीक तात्पर्य है, इसके विषय में बड़ी विप्रतिपत्ति हो सकती है। किन्तु एक बात यहां निश्चित है कि जैसे माण्डूक्य कारिका के भाष्यकार (शंकर) ने 'अलातशान्ति' प्रकरण के प्रथम श्लोकों में बुद्ध के एक वचन के प्रयोग को 'पुरुषोत्तम या 'नारायण' के रूप में लिया वैसा यहां नहीं किया जा सकता, क्योंकि फिर 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। और यदि हम साधारण 'ज्ञानी' से ही 'बुद्ध' पद का तात्पर्य लें जैसे कि माण्डूक्य कारिका के भाष्यकार 'बुद्ध' शब्द के बहुवचन के प्रयोग से इस 'कारिका' में अनेक

वार लेते हैं (जो ठीक ही है, 'बुद्ध' के एक उपपद होने के कारण, किसी व्यक्ति विशेष के नाम होने के कारण नहीं—जैसे कि प्रयोग त्रिपिटक में भी उपलब्ध हैं) तो भी प्रसंग के अनुसार अर्थ ठीक नहीं बैठता क्योंकि कारिकाकार जब कहता है 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' तो साधारण रूप से वह 'ज्ञानियों' को उपलक्षित नहीं करता 'क्योंकि ज्ञानियों में से बहुतों ने उसे भाषित किया है' किन्तु केवल एक किसी 'ज्ञानी' को ही उपलक्षित करता हुआ कहा जा सकता है जिसके विषय में कहा जा सके 'नैतद् (अनेन) बुद्धेन भाषितम्'। यह कठिनाई निश्चय ही शंकर को भी अनुभूत हुई (जब तक आचार्य श्री पं० विधुशेखर जी भट्टाचार्य का यह मत ठीक तरह से सुनिश्चित नहीं हो जाय कि माण्डूक्य कारिका पर भाष्य आद्य शंकराचार्य कृत नहीं है, तब तक हम उसको उन्हीं की कृति मानना वैज्ञानिक मार्ग समझते हैं) और अब तक वे जो 'बुद्ध' पदों को अन्य प्रकार से व्याख्यात करते चले आ रहे थे, यहां अन्त में आकर वे ऐसा नहीं कर सके। अतः उन्होंने भी कहा ही 'ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृ-भेद-रहितं परमार्थतत्त्वमद्वयमेतन्न बुद्धेन भाषितम्। यद्यपि बाह्यार्थ-निराकरणं ज्ञानमात्र कल्पना च अद्वयवस्तु सामीप्यमुक्तम्। इदं तु परमार्थ-तत्त्वमद्वैतं वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः'। कदाचित् यहां शंकर अपने दादागुरु के हृदय तक पहुँच गए हैं। किन्तु यदि उन्होंने भी अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद को इसी 'अविरोध' (उस अध्याय का तो नाम ही 'अविरोध' अध्याय है और यहां तो है ही 'अविवादोऽविरुद्धश्च') की भावना से लिखा होता तो निश्चय ही हमारी समझ में दो बातें सम्भव हो जातीं, बुद्ध-मन्तव्य के प्रति उपनिषदों का पूरकत्व और अविरोध भाव संसार के अन्यतम प्रभाव-शाली शब्दों में प्रख्यापित हो जाता, और दूसरे सम्भवतः यह कि वैष्णव आचार्यों के लिए शंकर 'प्रच्छन्न बौद्ध' न होकर प्रकटित बौद्ध हो जाते। बौद्ध और वेदान्त दर्शनों की समन्वय-साधना एक निश्चित और स्थिर आधार ग्रहण कर लेती, योग वासिष्ठ और गौडपाद का काम पूरा हो जाता। कुछ भी हो, हम और भगवान् शंकर दोनों पर ही अपनी मोहमाया डालते हुए, कुछ गम्भीर दृष्टि से हमारी जिज्ञासाओं की निष्फलताओं पर मौन मुद्रा धारण करते हुए (अपने शिष्य के शिष्य, शंकर के प्रति तो गुरु-भाव से कुछ मृदु स्मित भी करते हुए) वे मनीषी प्रथम अद्वैत 'सम्प्रदायविद्' वेदान्ताचार्य अपने अद्वय सिद्धान्त को 'यथाशक्ति' नमस्कार करते हुए हमसे बिदाई लेते हैं--

'दुर्दर्शनतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम् ।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥'

इस प्रकार हमने माण्डूक्य कारिका की विषय-वस्तु देखी । अब हम विवेचन-भाग पर आते हैं । वास्तव में जहां कहीं भी औपनिषद दर्शन और बौद्ध दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध की तुलना है, वहां इन मनीषी आचार्य के मत का अनुस्मरण भी अत्यन्त आवश्यक है । गौडपाद वेदान्त के प्रथम 'सम्प्रदायविद्' आचार्य हैं, जिन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि औपनिषद और बौद्ध मन्तव्य निर्विवाद रूप से अविरोधी हैं। आचार्य दासगुप्त ने गौडपाद को 'बौद्ध' बताया है[१], किन्तु इस प्रकार के वाद-विवाद में पड़ना कि गौडपाद बौद्ध थे या नहीं हमारे लिये दार्शनिक प्रक्रिया से बाहर चले जाना होगा । हम यह मान लेते हैं कि भगवान् गौडपादाचार्य बौद्ध नहीं हैं। किन्तु वे अन्य धर्मावलम्बी भी नहीं हैं । उन्होंने 'अनानात्व पद' को जाना है (बुद्ध्वा पदमनानात्वं) । यही उनका धर्म है । यही उनका समग्र दर्शन है । यदि 'अनानात्व पद' वेदान्त है, तो वे वेदान्ती हैं, और यदि 'अनानात्व पद' बौद्ध है तो वे बौद्ध हैं । हम समझते हैं कि बौद्ध और वेदान्त दोनों ही 'अनानात्व पद' हैं । वेदान्त के लिये यहां 'नाना' कुछ नहीं है, 'नाना' देखने वाला मृत्यु प्राप्त करता है और बौद्ध साधक तो ध्यान की प्रथम अवस्था में ही अपरिमाण मैत्री युक्त चित्त से दिशाओं को आप्लावित करता हुआ 'नानात्व-संज्ञा के प्रहाण' को कर चुकता है । इसलिए हम कहते हैं कि आचार्य गौडपाद बौद्ध हैं और वेदान्ती भी । वे सत्य के एक गवेषक हैं । और सत्य को उन्होंने देखा है बौद्ध और वेदान्त की सन्धिवेला में ! यही उनका धर्म है, यही उनका दर्शन है। इस भूमि पर हमें गौडपादाचार्य के पूर्ण दर्शन हो सकते हैं । किन्तु हमें काव्य की भाषा को छोड़ कर विचार की भाषा पर आना चाहिए ।

जगन्मिथ्यात्व और मायावाद का सहारा लेकर, शंकर को निश्चय ही

---

(१) "I believe that there is sufficient evidence in Karikas for thinking that he was possibly himself a Buddhist and considered that the teachings of the upanishads tallied with those of Buddha."
हिस्ट्री आफ इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२३

बहुत पीछे छोड़कर, आचार्य गौडपाद विज्ञानवादी बौद्धों से जा मिले हैं और फिर उनको भी एक धक्का देकर उन्होंने सीधे माध्यमिकों से जाकर संयोग की गांठ जोड़ी है, किन्तु उनके भी उच्छेदवाद का समुच्छेदन कर अन्त में वे संवृति और परमार्थ तत्व का चक्कर काटते हुए स्वयं अनिर्वचनीयत्व को प्राप्त हुए हैं, ऐसा कुछ अस्पष्ट सम्बन्ध हमें आचार्य गौडपाद की स्वयं की विचार-पद्धति का बौद्ध दर्शन के साथ मालूम पड़ता है। स्वप्न और जागरित अवस्थाओं में आचार्य गौडपाद ने कुछ भेद नहीं रक्खा है। उनका सीधा कहना यह है कि जागरित अवस्था की चीजें सच्ची नहीं हैं क्योंकि वे दिखाई देती हैं और इस प्रकार स्वप्नावस्था की चीजों के समान हैं जो भी दिखाई देती हैं, किन्तु स्वप्नावस्था की चीजें वितथ हैं, असत्य हैं, अतः निश्चय ही जागरित अवस्था की भी ऐसी ही हुईं। समग्र 'वैतथ्य' प्रकरण की मूल भावना यही है। शंकर इतने आगे विज्ञानवादियों से मिलने कभी नहीं गए। बल्कि यों कहना चाहिए कि यही तो दृष्टि है, जिसका तीव्र प्रत्याख्यान उन्होंने ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।२८-३२ में किया है, जिस पर कि अभी हम कुछ देर बाद आएँगे। आचार्य गौडपाद ने भी यह स्वीकार किया है कि जागरित अवस्था में दिखाई देने वाले पदार्थ हम सबको सामान्य रूप से दिखाई देते हैं और स्वप्न अवस्था के केवल स्वप्न देखने वाले को। (कारिका २।१४)। फिर भी मिथ्यात्मता तो उन्हें दोनों की ही समान रूप से मान्य है। (कारिका २।४)। सब जगह कारणवाद में उन्हें सापेक्षता ही सापेक्षता दृष्टिगोचर होती है। (कारिकाएँ ४।११-१५, २१,२३,२५) और कारणवाद सत्स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता (४।४०)। इसीलिए तो उन्होंने सत्, असत् अथवा सदसत् किसी भी वस्तु का किसी भी प्रकार उत्पन्न न होना मानकर 'अजातिवाद' की ही स्थापना की है (४।२२), जिसे वे बुद्धों का मार्ग समझते हैं। जब तक इस अजातिवाद की अनुभूति नहीं होती तभी तक कारणवाद का झमेला है और तभी तक सांसारिक पदार्थ सत्य प्रतिभासित होते हैं (४।५५-५६; ४।४२)। सत्य और 'प्रपञ्चोपशम' पद पर पहुँचने के लिए हमें सभी कारणवादों और सापेक्षताओं का अतिक्रमण करना होगा (२।३५)। किन्तु कहां पर्यन्त ? आचार्य गौडपाद ने सभी कार्यकारण व्यवहार को 'विज्ञान स्पन्दित' ही बना दिया है, 'मनोदृश्य' ही कर दिया है, जिसके कारण शंकर जैसे वेदान्ती आचार्य भी अपने परमगुरु की विज्ञानवादी दृष्टि से आश्चर्यान्वित हुए बिना नहीं रह सके (कारिका

४।२१,२५-२७ पर शांकर भाष्य)[1] । किन्तु विज्ञानवाद का प्रतिपादन करना आचार्य गौडपाद का उद्देश्य नहीं था । विज्ञानवाद के मूलभूत सिद्धान्त को उन्होंने 'तस्मान्न जायते चित्तं' 'एवं न जायते चित्तं' 'एवं न चित्तजा धर्माः' आदि कह कर उड़ा दिया है और सम्भवतः उन्हें विभ्रमित न होने के लिए आगाह भी कर दिया है **'एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये'** । अतः आचार्य गौडपाद विज्ञानवादियों के अत्यन्त सामीप्य में तो हैं, किन्तु उनसे एकात्मभाव उन्होंने नहीं किया है । वे नागार्जुन की दिशा में भी प्रवृत्त हुए हैं । 'प्रपञ्चोपशमं' तत्व को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्व कहना न केवल बिलकुल आचार्य नागार्जुन का विचार ही है, किन्तु उनकी भाषा भी । कारणवाद का निषेध (२।३२; ४।४।७, २२, ५९) आचार्य गौडपाद और नागार्जुन का समान ही है और इस विषय में, जैसा कि हम अभी देखेंगे, दोनों की भाषा में भी बहुत कुछ साम्य है । 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' आदि रूप से परमार्थता का वर्णन करने वाले आचार्य गौडपाद भी 'अनिरोधमनुत्पादम्' तत्व के उपदेष्टा नागार्जुन से कहीं दूर नहीं गए हैं, न भाषा में, न विचार में, ऐसा कहा जा सकता है । अनेक बातें इस प्रकार माध्यमिकों और आचार्य गौडपाद की समान हैं । किन्तु यदि यही पूर्ण स्थिति होती तो हम उपनिषदों के ज्ञान के व्याख्याता के रूप में गौडपादाचार्य को स्मरण नहीं कर सकते थे, बुद्ध-मन्तव्य के साथ औपनिषद ज्ञान की एकता सिखाने वाले के रूप में तो कुछ कहना ही नहीं । आचार्य गौडपाद के अनुसार 'अस्पर्शयोग' का अभूतपूर्व उपदेश सम्यक् सम्बुद्ध ने दिया है । यह 'अस्पर्शयोग' क्या है ? आचार्य दासगुप्त हमें बताते हैं कि यह भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण है[2] । पं० विधुशेखर जी भट्टाचार्य कहते हैं कि यह 'संज्ञा वेदयित निरोध' है[3] । जो 'संज्ञावेदयित निरोध' समाधि है, वही निर्वाण की अवस्था है । अतः दोनों ही विद्वानों के मत ठीक दिखाई पड़ते हैं । अब 'संज्ञावेदयित निरोध' अथवा 'निर्वाण

---

(१) इसी हद तक विज्ञानवाद योगवासिष्ठ में भी पहुँच गया है, मिलाइए, 'जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो स्थिरतास्थिरते विना । समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ।४।१९।११; इस सम्बन्धी समन्वय-भावना के लिये देखिए पीछे योगवासिष्ठ-दर्शन का विवेचन ।

(२) देखिए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२३-४२४

(३) देखिए, प्रवासी, आस्विन् १३४४

में भगवान् बुद्ध ने क्या सिखाया है ? यही जो सभी कामनाओं का अस्तंगमन, सभी बन्धनों का उच्छेद, सभी दुःखों का उपशमन। तो क्या यह आत्मोच्छेद है ? हम देख चुके हैं कि ऐसा नहीं है। 'भिक्षुओ ! है ऐसा आयतन, जहां न पृथ्वी है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है, न आकाश-आयतन है, न विज्ञान-आयतन है,......न लोक है, न परलोक, न चन्द्रमा, न सूर्य'! ऐसी वह अनिरुक्त अवस्था है। यही परमार्थावस्था है जिसका उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिया है। अनात्मवाद भी इसी की ओर संकेत करता है। इस अवस्था का विधायक रूप है अत्यन्त सुख और परम शान्ति और इसका निषेधक रूप है 'अजात', 'अभूत'। 'तुरीय' आत्मा का दो प्रकार का वर्णन भी इसी प्रकार का है। वह स्वस्थ और शान्त पद भी है और अदृश्य और अव्यवहार्य भी। एक अद्भुत समानता यहां यह है कि भगवान् बुद्ध ने निर्वाण को 'अविवाद भूमि' कहा था और 'अजाति' तत्त्व के सम्बन्ध में गौडपाद ने कहा है 'अविवादं निबोधत' (४।५)। अनात्मवाद और निर्वाण के विवेचन में चतुर्थ प्रकरण में हम दिखा चुके हैं कि उनके निषेधात्मक वर्णन से अल्पज्ञ जीवों को भय और मोह की प्राप्ति होती है जिनके 'उत्रास परिहारार्थं' तथागत ने कहीं-कहीं उनका विधायक वर्णन भी किया है। 'अस्पर्श योग' के सम्बन्ध में गौडपाद को वेदान्तियों के प्रति जब यह अपील करते हम देखते हैं 'इस अभय पद में भय देखने वाले योगी लोग इससे भय मानते हैं' (योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः। ३।३९) तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि आचार्य बौद्ध निर्वाण के स्वरूप की ओर ही संकेत कर रहे हैं। यही दुःख का अन्त है। भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि आत्मा की चतुर्थ अवस्था भी दुःख का अन्त है और वह भी है न अन्तःप्रज्ञ, न बहिः प्रज्ञ, न उभयतः प्रज्ञ, न प्रज्ञाघन, न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ, किन्तु,अदृश्य, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव, अद्वैत आत्मा जो सब नामरूपात्मक (दोनों औपनिषद और बौद्ध अर्थों में) जगत् की प्रतिष्ठा स्वरूप है, सबका अधिष्ठान है। यह उपनिषदों में निहित सत्य की परमावस्था और भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट 'अस्पर्शयोग (निर्वाण या संज्ञावेदयित निरोध) दोनों आपस में 'अविवाद और अविरुद्ध' सिद्धान्त हैं, यही गौडपाद को कहना है। दोनों ही सब प्राणियों के सुख और हित के लिए हैं और दोनों ने ही 'अजाति' को ख्यापित किया है, औपनिषद ज्ञानियों

(बुद्धों) ने भी और तथागत बुद्ध ने भी। **'एवं हि सर्वथा बद्धैरजातिप-रिदीपिता'** (मिलाइये, 'अत्थि भिक्खवे अजातं, चतुर्थ प्रकरण)। किन्तु कोई अभाववादी तार्किक आकर भगवान् गौडपाद से कह सकता है 'भगवन् ! क्यों अविज्ञात को विज्ञात बताकर, अवेदित को वेदित बताकर, अनिरुक्त को निरुक्त बताकर, 'अव्याकृत' को व्याकृत बताकर, तुम बुद्ध की निन्दा करते हो ? जब 'मालुंक्य पुत्त' से उन्होंने स्वयं ही कुछ नहीं कहा, और जब भदन्त नागसेन और नागार्जुन जैसे मनीषी आचार्य भी उनके मन्तव्यों को निषेधात्मक दिशा में ले जाते हैं, तो हे वेदान्ताचार्य ! तुम किस प्रकार यह कहने का साहस करते हो कि तुम्हारा यह 'तुरीय' आत्मा स्वरूप विज्ञान बिलकुल वही है जो कि बुद्ध का 'अजात', 'अभूत' तत्व जिसको तुम यहां 'अस्पर्शयोग' कहकर पुकारते हो और औपनिषद ज्ञान के साथ जिसका 'अविवाद और अविरुद्ध' स्वरूप प्रख्यापित करते हो ? मनीषी आचार्य ! क्या यह तुम्हारे द्वारा स्वयं अपने सिद्धान्त का बुद्ध-मन्तव्य पर केवल आरोप ही नहीं है ? ऐसों के लिए भगवान् गौडपादाचार्य का भारतीय दर्शन में चिरस्मरणीय यह अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तर है जो औपनिषद ज्ञान के सम्बन्ध को बुद्ध-मन्तव्य के साथ सम्बन्ध को जानने की इच्छा रखनेवालों के लिए सदा अपने हृदय-पटल पर लिखने योग्य है—

'क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः।
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितम् ॥

अर्थात् (शंकर के भाष्यानुसार ही) बाह्यार्थ का निराकरण करते-करते अविद्या कल्पित (दोनों ही बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार) 'नाम' और 'रूपों' (बौद्ध प्रयोग) में तथागत ने 'आत्मा' जैसा पदार्थ नहीं पाया। इनसे अतीत 'ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहित परमार्थ तत्व' (शांकरभाष्य के शब्द) 'तुरीय' आत्मा स्वरूप सब का प्रतिष्ठापक, सब का गतिकर्ता कोई एक अद्वय तत्व है, इसका उन्होंने भाषण नहीं किया, 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्'। इसका यदि बुद्ध ने भाषण नहीं किया तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह तत्व उनको विदित न था, प्रत्युत भगवान् गौडपादाचार्य की श्रद्धा है (और वह ठीक है) कि बुद्ध का ज्ञान सब जगह अप्रतिहत है, कहीं उसकी गति में व्यग्रता नहीं है। बुद्ध अखंड प्रज्ञावान् परमार्थदर्शी हैं। उनका ज्ञान आकाश-कल्प है जो धर्मों (विषयों) में संक्रमित नहीं होता। स्वयं भाष्यकार ने 'बुद्धस्य परमार्थदर्शिनः' कहा है। यहां 'तायिनः' शब्द भी अत्यन्त ध्यान देने योग्य

है। यह एक विशिष्ट बौद्ध प्रयोग है और भगवान् बुद्ध के लिये बौद्ध संस्कृत साहित्य में गौडपाद और शंकर से काफी पूर्व इसका प्रयोग किया गया था। गौडपाद ने इसे लिया है, परन्तु उनकी कारिकाओं के भाष्यकार को इसका पारिभाषिक अर्थ ज्ञात नहीं है। शंकर ने 'तायिनः' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है 'तायी —जिसका ताय अर्थात् विस्तार हो उसे तायी कहते हैं। क्योंकि तायी— सन्तानवान्—निरन्तर अर्थात् आकाश सदृश पूजावान् अथवा प्रज्ञावान् बुद्ध—परमार्थदर्शी—तायी-बुद्ध'[1]। 'तायी' शब्द का बौद्ध पारिभाषिक अर्थ है अपने पुरुषार्थ से मार्ग प्राप्त करने वाले शास्ता भगवान् बुद्ध। 'बोधिचर्यावतार' में कहा गया है 'तायिनां स्वाधिगतमार्गदेशकानाम्'[2] अर्थात् 'तायी' वे उपदेष्टा हैं जो अपने आप मार्ग प्राप्त करते हैं। इसी अर्थ में आचार्य दिङ्नाग ने 'तायी' बुद्ध को नमस्कार किया है[3]। तो आकाशकल्प ज्ञान वाले बुद्ध ने 'तुरीय' आत्मा स्वरूप परमार्थ तत्त्व का भाषण नहीं किया है, प्रज्ञप्त नहीं किया है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि जिसे बुद्ध ने अप्रज्ञप्त छोड़ा है, वह उपनिषदों के द्वारा प्रज्ञापनीय है, जिसे बुद्ध ने अभाषित किया है, उसे उपनिषदों ने भाषित किया है। इस प्रकार हम उपनिषदों का बुद्ध के मन्तव्य के प्रति पूरकत्व प्रख्यापित कर सकते हैं। आचार्य गौडपाद को उपनिषदों का बुद्ध-मन्तव्य के प्रति पूरकत्व अभिप्रेत था और भगवान् शंकर ने भी ऐसा ही साक्ष्य दिया है। उनके शब्द पूर्वोद्धृत होने पर भी यहां फिर उद्धरण की अपेक्षा रखते हैं। भगवान् शंकराचार्य उपर्युक्त कारिका पर व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के भेद से रहित परमार्थ अद्वय तत्व बुद्ध के द्वारा भाषित नहीं किया गया है। यद्यपि बाह्यार्थ निराकरण और ज्ञान मात्र कल्पना अद्वय वस्तु के समीप ही हैं, किन्तु परमार्थ अद्वय तत्व तो वेदान्त में ही विज्ञेय है'। भगवान् तथागत के मौन की व्याख्या तो नागसेन,

---

(१) "बुद्धस्य परमार्थदर्शिनो.....तायिनः तायोऽस्यास्तीति तायी, सन्तानवतो निरन्तरस्याकाशकल्पस्येत्यर्थः, पूजावतो वा प्रज्ञावतो वा.... तायिनो बुद्धस्य।" उपर्युक्त कारिका (४।९९) पर शांकर भाष्य।

(२) नलिनाक्ष दत्त, एस्पेक्ट्स् ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ३०५, पद-संकेत ४ में उद्धृत।

(३) प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने। प्रमाण समुच्चय का प्रथम श्लोक।

नागार्जुन आदि बौद्ध आचार्यों ने भी की थी। चतुर्थ प्रकरण में हम देख आए हैं कि किस प्रकार 'मिलिन्द प्रश्न'कार ने यह प्रश्न उठाया है 'यदि भन्ते नागसेन भगवता भणितं न' 'त्वा' नन्द तथागतस्स धम्मेसु अचरियमुट्ठीति, तेन हि थेरस्स-मालुंक्य पुत्तस्य अजानन्तेन न व्याकतं। यदि अजानन्तेन न व्याकतं, तेन हि अत्थि तथागतस्त आचरियमुट्ठी। अयं पि उभतो कोटिको पन्हो तवानुप्पतो' और इसके उत्तर में सारांश रूप से केवल यही कहा गया है 'न तस्स दीपनाय हेतु वा कारणं वा अत्थि, तस्मा सो पन्हो ठपनीयो। नत्थि भगवन्तानं बुद्धानं अकारणमहेतुकं गिरमुदीरणंति'। इसका संक्षिप्त सारांश यही है कि तथागत ने इसके भाषण को निष्प्रयोजन समझा। इसी प्रकार भगवान् नागार्जुन ने भी कहा है 'मौनाः हि भगवन्तस्तथागताः न मौनैः तथागतैः भाषितम्' और इस प्रकार अपने 'चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' तत्व के लिए एक अच्छा अवसर ढूंढ़ निकाला है जो बुद्ध को निषेधात्मक दिशा में ही ले जाने का अधिक प्रस्ताव करता है। किन्तु हमारा विचार है कि इन बौद्ध विचारकों की अपेक्षा आचार्य गौडपाद ने बुद्ध-मौन को अधिक अच्छी तरह समझा है, जो कहते हैं 'क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः। सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितम'। विज्ञानवाद और शून्यवाद के विचारों से बहुत ऊँचे उठकर (जिसका अर्थ यही है कि एक मूल प्रतिष्ठा को स्वीकार कर, अन्यथा अन्य किसी बात में इन विचारकों से ऊपर उठना कदाचित् मानवीय तर्क के लिए सम्भव ही नहीं है) 'गगनोपम' धर्मो में, दुर्दर्श, 'अनानात्व' पद में, स्वच्छन्दतापूर्वक चंक्रमण करते हुए तथागत की सम्यक् सम्बोधि को आचार्य गौडपाद ने देखा है और इसलिए उनके मन्तव्य के पास वे कदाचित् नागार्जुन आदि बौद्ध विचारकों की अपेक्षा अधिक पहुँच गए हैं। नागार्जुन आदि ने तो 'अस्ति नास्तीति' आदि कोटियों से रहित 'गगनोपम' तत्व को 'शून्य' या 'अभाव' की ओर ही ले जाने का प्रस्ताव अधिक किया है, किन्तु यहां तो गौडपादाचार्य ने उनकी ही शब्दावली का आश्रय लेकर उसी 'गगनोपम' को 'खं ब्रह्म' ('खं' अर्थात् आकाश) की औपनिषद परिभाषा में बड़ी अच्छी तरह व्यक्त किया है 'खं यथा संप्रकाशितः' (४।११) इसीलिए तो मनीषी शङ्कर भी यहां इस गौडपादीय 'गगनोपम' और 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' तत्व को 'अभावावसान प्रतिषेधः' नहीं कह सकते क्योंकि यहां 'ब्रह्मावसान' प्रतिषेध ही सर्वत्र स्पष्ट उपलक्षित है जिसको ही आचार्य गौडपाद ने सम्यक् सम्बुद्ध का भी मन्तव्य बताया है। **'विषयः स हि बुद्धानां**

तत्साम्यमजद्वयम्'। इसी 'अज' और 'अद्वय' तत्त्व रूप 'अनानात्व पद' को आचार्य गौडपाद नमस्कार करते हैं और उसे सार्थक शब्दों में 'दुर्दर्श' और 'अति गम्भीर' कहते हैं। सार्थक इसलिये कि तथागत ने जिस ज्ञान को प्राप्त किया था, उसे उन्होंने अपने मुख से 'दुर्दर्श' और 'गम्भीर' ही कहा था। 'यह धर्म गम्भीर और दुर्दर्श है'। इस प्रकार बुद्ध के परमार्थ विषयक ज्ञान और मौन की आचार्य गौडपाद ने वेदान्त से समन्वय करते हुए व्याख्या की है और इसीलिए हम कह सकते हैं कि 'बौद्ध वेदान्त' (यदि ऐसा एक शब्द हम गढ़ सकें) के वे एक आविष्कर्ता ऋषि हैं। औपनिषद ज्ञान को बौद्ध दृष्टि से देखना अथवा बुद्ध-मन्तव्य की औपनिषद ज्ञानसम्मत व्याख्या करना, दोनों एक ही बातें हैं और इनके पारस्परिक सम्बन्ध का ठीक अनुमापन करना ही भगवान् गौडपादाचार्य का भारतीय दर्शन के लिए एक विशेष दान है। एक बात यहां और देख लेनी चाहिए। मनीषी डाक्टर राधाकृष्णन् ने कहा है कि "वह (गौडपाद) इस बात से अभिज्ञ जान पड़ते हैं कि उनके दर्शन की बौद्ध विचार के कुछ स्वरूपों से समानता है। इसलिए वह विरोध करते हैं, और कुछ अधिक भी, कि उनका दर्शन बौद्ध धर्म न माना जाय। अपनी पुस्तक के अन्त में वे कहते हैं 'यह बुद्ध के द्वारा भाषित नहीं किया गया है[1]'।" हम जानते ही हैं कि आचार्य गौडपाद ने 'मूलमाध्यमिक कारिका' और 'लंकावतार सूत्र' आदि की भाषा और विचारों से खूब लिया है, अतः उनके इस तथ्य से अभिज्ञ होने का तो कोई सवाल ही नहीं उठता। अवश्य ही उन्होंने देखा होगा कि स्वप्न और जागरित अवस्थाओं की पूर्ण समता दिखाते हुए वे विज्ञानवादियों की पंक्ति में जा रहे हैं और यह भी उनसे अविदित न रहा होगा कि 'अस्ति नास्तीति' आदि चार कोटियों का अपलाप कर, उत्पत्ति और निरोध सभी को 'मायामय' 'मनोदृश्य' आदि कह कर और इनसे विपरीत को परमार्थता कह कर वे माध्यमिकों से आलिंगन करने

---

(१) "He seems to have been conscious of the similarity of his system to some phases of Buddhist thought. He thererfore protests, rather over much, that his view is not Buddhism. Towards the end of his book, he says 'This was not spoken by the Buddha'." **इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द दूसरी पृष्ठ ४६३**

जा रहे हैं। हमने यह देखा ही है कि 'चित्त' की भी स्थिति एक अतीत 'अजाति' तत्त्व में घुलाकर और माध्यमिकों के निषेधों को भी आत्मा की 'तुरीय' अवस्था में भुलाकर वे किस प्रकार इन 'ब्रह्मजालों' से विमुक्त हुए हैं ताकि उन्हें वास्तविक 'उक्तउपनिषत्क' कहा जा सके (जैसा कि राजर्षि जनक के लिए उपनिषदों में कहा गया है)। अतः यह ठीक ही है कि विज्ञानवाद और शून्यवाद से उनके मन्तव्य को एकात्म न मान लिया जाय, इसके दिखाने के लिए आचार्य गौडपाद लालायित हैं। किन्तु इसी प्रवृत्ति से प्रभावित होकर, अर्थात् केवल यह दिखाने के लिए ही कि उन्होंने जिस मत का प्रतिपादन किया है वह बौद्ध धर्म नहीं है, उन्होंने अपने ग्रन्थ (माण्डूक्य कारिका) के अन्त में लिखा कि 'यह बुद्ध के द्वारा भाषण नहीं किया गया', इसे हम कदापि मानने को तैयार नहीं हैं। मनीषी डा० राधाकृष्णन् ने निश्चय ही यह कह कर न केवल गौडपादाचार्य के सम्पूर्ण समन्वयकारी प्रयत्न के महत्व को खो दिया है, बल्कि समग्र माण्डूक्य कारिका के पूर्वापर सम्बन्ध की अर्थवत्ता को ही नष्ट कर दिया है। आचार्य गौडपाद तो जान बूझ कर बुद्ध-मन्तव्य का औपनिषद मन्तव्य के साथ समन्वय-साधन कर रहे हैं, फिर इस प्रकार की समानता से अभिज्ञ होने की तो कोई बात ही नहीं। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि आचार्य गौडपाद ने 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' इस प्रेरणा के फलस्वरूप कहा कि वे अपने द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को बौद्ध धर्म से बिलग कर दिखलवाने के ही पक्षपाती हैं क्योंकि उन्होंने जो प्रतिपादित किया है 'वह बुद्ध के द्वारा नहीं कहा गया है' तो हमें यह सोचना चाहिए कि अलात शान्ति प्रकरण के प्रारम्भ में ही फिर 'अस्पर्शयोग' को 'अविवाद और अविरुद्ध' घोषित करने की क्या जरूरत थी, अनेक स्थलों में 'विषयः स हि बुद्धानां', 'सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम्', 'एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता', 'अजातिं ख्यापयन्ति ते', 'जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा' आदि कह कर 'बुद्धों' के साक्ष्य देने की उन्हें क्या जरूरत थी ? 'श्रुति' की बार-बार याद दिलाकर (जैसा कि गौडपादाचार्य ने नहीं किया, कपिल ने तो खूब ऐसा कर दार्शनिकों को विभ्रमित किया) 'आस्तिक' परम्परा के लोगों को विश्वास में लाने की तो कुछ जरूरत पड़ भी सकती थी, किन्तु स्वतन्त्रप्रज्ञ बौद्ध आचार्यों को 'बुद्ध' के नाम से कोई विचारक तो प्रभावित नहीं कर सकता था। अतः 'बुद्ध' 'बुद्ध' गौडपादाचार्य का बार-बार कहना केवल ऊपर की श्रद्धा मात्र दिखाने के लिए ही नहीं प्रयुक्त हो सकता था और

न निश्चय ही एक उपनिषद् ग्रन्थ पर कारिकाएँ लिखते समय उनके लिये यह आवश्यक था। बुद्ध के प्रति इतनी श्रद्धा दिखाकर और उनके द्वारा उपदिष्ट 'अस्पर्शयोग' को औपनिषद मन्तव्य के साथ 'अविवाद और अविरोध' दिखाने की प्रतिज्ञा करके फिर अन्त में जाकर किस प्रकार केवल श्रौत परम्परा के श्रद्धालु अनुयायियों को प्रसन्न करने के लिए वे इस प्रकार कह सकते थे कि मैंने जिस सिद्धान्त का प्रख्यापन किया है वह बुद्ध के द्वारा कहा ही नहीं गया है, अतः उसे बुद्ध-मन्तव्य या बौद्ध धर्म से नहीं मिलाना चाहिए। ऐसा कहना उनकी सब उदारता और तत्वपक्षपातता को ले लेता है जिसकी महिमा सर्वातिशायिनी है। फिर दूसरी बात यह है कि आचार्य गौडपाद ने बुद्ध-मन्तव्य की औपनिषद मन्तव्य से एकता दिखाने की कोशिश की है, बौद्ध आचार्यों के मन्तव्यों की नहीं। अतः जब वे बौद्ध आचार्यों के मतों का खण्डन करते हैं या उनके कन्धों पर चढ़कर कुछ आगे देखने का प्रयत्न करते हैं, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे उतने से ही बुद्ध-मन्तव्य को भी निराकृत कर देते हैं, किन्तु वास्तव में जो वे करते हैं वह तो यह है कि वे उनके कन्धों पर चढ़कर (अर्थात् विज्ञानवाद और शून्यवाद के कन्धों पर चढ़कर) ने बुद्ध-मन्तव्य की झांकी करना चाहते हैं, किन्तु सिवाय धुन्ध के और कुछ नहीं देख पाते, अतः उन्हें पटक देते हैं और फिर जब औपनिषद ज्ञान के स्वच्छ शीशे में होकर देखते हैं जिस पर 'खं ब्रह्म' की पालिश हो रही है, तो उन्हें वह 'दुर्दर्श', 'अनानात्व', 'पद', 'गगनोपम' बड़ी स्वच्छ तरह से दीखने लगता है। अतः जिस वस्तु को वे गिराते हैं वे तो 'विज्ञानवाद' और 'शून्यवाद' हैं, जो 'अस्पर्शयोग' के उपदेष्टा वन्दनीय 'द्विपदां वरं' को हमारे सामने दिखाने में सर्वथा असमर्थ हैं, किन्तु उस 'द्विपदां वरं' के 'अविववाद और अविरुद्ध' मन्तव्य को वे भगवान् गौडपादाचार्य वेदान्त के मन्तव्य से विलग कर देखने के पक्षपाती किस प्रकार हो सकते हैं जब कि चतुर्थ प्रकरण की प्रथम कारिका में वे 'द्विपदां वरं' बुद्ध की वन्दना करते हैं और अपनी बिलकुल अन्तिम कारिका में ही वे हमसे यह कह कर बिदाई लेते हैं 'दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम्। बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम्'। अतः यह कहना बिलकुल गलत है कि गौडपाद की यह दिखाने की लालसा है कि उनके मत को बुद्ध-मत से न मिलाया जाय। प्रत्युत वे तो उसकी एकात्मता दिखाने के ही अधिक लालसा रखते हैं जिसे उन्होंने अनेक संकेतों से व्यक्त भी किया है। 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' में आचार्य ने केवल यह दिखाया है कि यद्यपि अद्वैत रूप परमार्थ बुद्ध-मत का

आधार है, परन्तु बुद्ध ने इसे भाषित नहीं किया है, बौद्ध निरुक्ति में, व्याकृत नहीं किया है। 'यह अद्वैत रूप परमार्थ तत्त्व तो वेदान्त में ही विज्ञेय है' (इदं तु परमार्थतत्त्वमद्वैतं वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः) ऐसा शंकर का कहना पूरी तरह आचार्य गौडपाद का अभिप्राय नहीं हो सकता क्योंकि इससे वेदान्त की श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है जब कि आचार्य गौडपाद को दोनों का 'अविवाद' और 'अविरोध' स्वरूप दिखाना ही अधिक इष्ट था। इसीलिये उन्होंने 'अज' और 'अद्वय' तत्त्व को बुद्धों का विषय बताया है। इस सबमें आचार्य गौडपाद की यह लालसा कि उनके द्वारा प्रतिपादित अद्वैत मत बौद्ध धर्म के साथ न मिलाया जाय क्योंकि 'बुद्ध के द्वारा यह कहा ही नहीं गया', कहां विवेचित हुई ? उक्त कारणों से हम पूर्वोद्धृत मनीषी डा० राधाकृष्णन् के मत से सहमत नहीं हैं। इस प्रकार हम बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में आचार्य गौडपाद की दार्शनिक परिस्थिति को देखकर अब हम इस बात के कुछ निदर्शन देंगे कि आचार्य गौडपाद ने बौद्ध ग्रन्थों का कितना अनुशीलन किया था और उनकी कारिकाओं में कहीं-कहीं पूर्वकालीन बौद्ध ग्रन्थों के वाक्यांशों की कितनी अधिक छाया है और कहीं-कहीं कितनी अधिक विचित्र समानताएँ हैं जो आकस्मिक नहीं हो सकतीं। बौद्ध आचार्यों के ऋण को गौडपाद पर स्वीकार न करना अकृतज्ञता होगी, किन्तु इसके कारण गौडपादाचार्य की ऊपर निर्दिष्ट दार्शनिक परिस्थिति में कुछ भी संशोधन करना ठीक न होगा। समान वाक्यों का पाया जाना समान अर्थों या दर्शन का अनिवार्य द्योतक नहीं होता। हम अपने विरोधियों के शब्दों को भी प्रयुक्त कर उनका प्रत्याख्यान करते हैं, अतः इस क्षेत्र में हम बौद्ध आचार्यों के महान् ऋण को तो आचार्य गौडपाद पर स्वीकार करते हैं किन्तु गौडपाद का जो समग्र दर्शन है वह एक अत्यन्त मौलिक देन है और वेदान्त की परम्परा में उसने एक नये विचार का सूत्रपात किया है जिसे शंकर और वाचस्पति अधिक आगे नहीं बढ़ा सके।

'धर्म' शब्द का प्रयोग आचार्य गौडपाद ने बिलकुल बौद्ध अर्थों को लेकर किया है। 'धर्म' शब्द का प्रयोग बौद्ध दर्शन में प्रायः चार अर्थों को लेकर हुआ है, यथा, गुण, हेतु, निःसत्व और निर्जीव (अत्तनो पन सभावं धारेन्तीति धम्मा, धारेन्ति वा पच्चयेहि, धारेन्ति वा यथा सभावतो धम्मा—अटठसालिनी (धम्मसंगणि पर अट्ठकथा) । इसी प्रकार 'अभिधर्मकोश' (वसुबन्धु रचित) में धर्म शब्द का प्रयोग वस्तु, विषय, अर्थ, पदार्थ, प्रमेय आदि के लिए हुआ है। माण्डूक्य कारिका में करीब २२ से अधिक बार धर्म

शब्द का प्रयोग हुआ है और जब हम उसे 'अजातस्यैव धर्मस्य', 'धर्मो गच्छत्यमर्त्यताम्', 'एवं धर्मा अजाः स्मृताः', 'धर्मा इति य जायन्ते', 'धर्मान् यो गगनोपमान्' आदि रूप से प्रयोग करते देखते हैं तो निश्चय ही हम कह सकते हैं कि यहां बौद्ध निरुक्तियों का ही तो व्यवहार हो रहा है[1]।

इसी प्रकार 'संवृति' शब्द का प्रयोग है जो कि आपेक्षिक सत्य के अर्थ में बौद्ध आचार्यों और 'माण्डूक्य कारिकाकार' ने समान ही अर्थों में प्रयोग किया है। जिस प्रकार बौद्ध आचार्य 'लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः' कह कर इस द्विविध सत्य का निरूपण करते हैं, उसी प्रकार गौडपादाचार्य ने भी 'संवृतत्वेन हेतुना' कहा है और 'योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ। परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः' कहकर पूरा संवृति सत्य और परमार्थ सत्य का विचार ही रख दिया है। अतः यह केवल शब्द साम्य भर ही नहीं है, किन्तु एक व्यापक ऋण है। वास्तव में बात तो यह है कि जितने भी अद्वैत वेदान्ती निर्विशेष ब्रह्म को 'जन्माद्यस्य यतः' के रूप में उसे जगत्कर्तृत्व समर्पण करके भी फिर उसे विकारी नहीं बनाना चाहते अर्थात् दार्शनिक भाषा में परिणामवाद का समर्थन नहीं करना चाहते किन्तु विवर्त की स्थापना करते हैं उन्हें माया, अविद्या आदि का सहारा अपनी कठिनाई को दूर करने के लिए लेना पड़ा है और यही संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य के ग्रहण करने का भी रहस्य है। शंकर ने भी व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य को लेकर अपनी कठिनाई हटाई है जिसके बिना वे निष्प्रपञ्च ब्रह्म और सप्रपञ्च ब्रह्म विषयक श्रुतियों की संगति नहीं लगा सकते थे। शंकर की अपेक्षा आचार्य गौडपाद इस विषय में बौद्धों के और अधिक समीप चले गये हैं। यह बहुत सम्भव है कि इन आचार्यों ने अपनी अपनी कठिनाइयां हल करने के लिए स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग इस विचार का उद्भावन किया हो, किन्तु यहां बौद्ध आचार्यों के ऋण को इन वेदान्ताचार्यों पर कुछ इस कारण मानना आवश्यक और अनिवार्य हो जाता है कि आचार्य कुमारिल ने अपने 'श्लोकवार्तिक' (निरालम्बवाद) में ('सवृतेर्न तु सत्यत्वं.............;

---

(१) यद्यपि यह कहा जा सकता है कि कठ० १।१।२१; के 'अणुरेष धर्मः' में बौद्ध अर्थ के समान ही अर्थ अभिप्रेत है, किन्तु आचार्य विधुशेखर जी भट्टाचार्य के अनुसार यह 'कष्ट कल्पित है'। देखिए उनका लेख 'गौडपाद' शीर्षक 'प्रवासी' ज्येष्ठ १३४४ में।

सत्यद्वय कल्पना') आदि कह कर सत्यद्वय की कल्पना को वेद-विरुद्ध सिद्धान्त माना है और उसका खण्डन किया है। जो तर्क आचार्य कुमारिल ने बौद्ध आचार्यों के 'सत्यद्वय' के विरुद्ध उपस्थित किए हैं निश्चय ही वही गौडपाद और शंकर की एतद्विषयक परिस्थिति के विरुद्ध भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं। और निश्चय ही ऐसा किया भी गया है। श्रीभाष्य १।१।१ में 'सर्वं विज्ञानजातं यथार्थम्' आदि रूप से शंकर के सत्य-द्वय का जो खण्डन उपस्थित किया गया है अथवा वहीं ३।२।२-६ में आचार्य रामानुज ने शंकर के व्यवहार-सत्य और परमार्थ-सत्य को लेकर जो आक्षेप किए हैं, वे बिलकुल आचार्य कुमारिल के ही तर्क हैं। जब ये वैदिक परम्परा के आचार्य इस प्रकार इस 'सत्यद्वय' के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं और उसे वैदिक परम्परा के अनुकूल नहीं मानते तो निश्चय ही एक निष्पक्ष गवेषक इस निष्कर्ष पर आ सकता है कि अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने ये मत निश्चयतः बौद्ध आचार्यों से ही ग्रहण किये हैं जो अपने आदि शास्ता के काल से ही 'सम्मुति सच्च' (संवृति सत्य) और परमत्थ सच्च (परमार्थ सत्य) के रूप में इन दो सत्यों का व्यवहार करते चले आ रहे थे और महायान में जिन्हें विशेष अर्थवत्ता प्राप्त हो चुकी थी, जिसका विवरण हम चौथे प्रकरण में कह चुके हैं।

'संघात' शब्द का प्रयोग आचार्य गौडपाद ने वस्तुगत सत्ता के बौद्ध अर्थ को लेकर किया है यथा, 'संघाताः स्वप्नवत् सर्वे'[१]। इसी प्रकार 'अलात शान्ति' का प्रयोग और उसकी सब उपमा ही आचार्य गौडपाद ने बौद्ध आचार्यों से ली हुई है[२]। इस तथ्य से हम सम्भवतः कभी इंकार नहीं कर सकते कि यहां आचार्य गौडपाद पर बौद्ध प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट रूप से

---

(१) डा० राधाकृष्णन् ने वस्तुगत सत्ता (objective existence) के अर्थ में 'संघात' के प्रयोग को बौद्ध प्रयोग ही माना है। देखिये इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४६५। हमारा विनम्र अभिप्राय है कि सांख्य कारिका 'संघात परार्थत्वात्' में भी कुछ-कुछ यही अर्थ अभिप्रेत है, अतः इस शब्द के लिए बौद्धों के ऋण को कदाचित् न मानना भी ठीक होगा।

(२) इस विषय में लंकावतार सूत्र (बी० टी० एस० संस्करण) पृष्ठ ९५ तथा मूल माध्यमिक कारिका (बी० टी० एस० संस्करण) पृष्ठ २०६ मिलाने योग्य हैं। आर्यदेव ने भी 'अलातशान्ति' शब्द का प्रयोग किया है।

उपलक्षित है। इसी प्रकार 'प्रपञ्चोपशम' का भी प्रयोग सम्भवतः सबसे पहले बौद्ध आचार्यों ने ही किया था[1] और इस विषय में आचार्य गौडपाद न केवल इस शब्द के लिए ही किन्तु इसके साथ जाने वाले सभी भाव के लिए भी बौद्धों के ऋणी हैं। किन्तु अलग शब्दों को छोड़कर हम कुछ वाक्यांशों के ही उद्धरण देकर और कहीं-कहीं तो पूरी कारिकाओं के उद्धरण देकर ही यह दिखायेंगे कि आचार्य गौडपाद अपने पूर्ववर्ती बौद्ध आचार्यों से कितने प्रभावित थे, फिर चाहे उनके मतों से वे भले ही अन्ततोगत्वा पूर्णतः सहमत न हों।

मूलमाध्यमिक कारिका में,

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्। अनेकार्थमनानार्थमनागममनिगर्मम्।
यः प्रतीत्यसमुत्पादम् प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥ 'अनुत्पन्नाः प्रकृत्या गगनोपमाः'। लंकावतारसूत्र।

माण्डूक्य कारिका में,

न निरोधो न चोत्पत्ति र्न बद्धो न च साधकः ५।३२
निर्विकल्पो ह्यय दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः। २।३५
ज्ञानेनागाशभिन्नेन धर्मान् यो गगनोपमान्। ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्।

बोधिचर्यावतार में,

एवं च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति तत्वतः।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात्सर्वमिदं जगत्॥

माण्डूक्य कारिका में,

भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते॥ ४।४
हेतुर्न जायतेऽनादेः, ४।२३
न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते॥४।७१

---

(१) So far as I know the Buddhists were the first to use the words प्रपञ्चोपशमं शिवम्'। दासगुप्त : हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२५

मूल माध्यमिक कारिका में,

सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः ।
न क्वचित् कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशितः ॥

माण्डूक्य कारिका में,

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः........
...........नैतद् बुद्धेन भाषितम् ॥ ४।९८-९९

बोधिचर्यावतार में,

न स्वतो नापि परतः न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥

माण्डूक्य कारिका में,

स्वतो वा परतो वापि, न किञ्चिद्वस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते ॥४।२२

बोधिचर्यावतार में,

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः ॥

माण्डूक्य कारिका में,

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥४।८३

लंकावतार सूत्र में,

अथ वैचित्र्य संस्थानं विकल्पो यदि जायते ।
आकाशे शशशृंगे च अर्थाभासं भविष्यति ।।
स्वप्नं केशोण्डूकं माया गन्धर्वं मृग तृष्णिका ।
अहेतुकाऽपि दृश्यन्ते तथा लोक-विचित्रता ।।
आकाशं शशशृंगश्च वन्ध्याया एव पुत्र च ।
असन्तश्चाभिलप्यन्ते तथा भावेषु कल्पना ।।

बोधिचर्यावतार में,

कदलीस्वप्नमायाभं लोकं पश्येद्विकल्पितम् ।......
अन्यतो नापि चायातं न तिष्ठति न गच्छति ।
मायातः को विशषोऽस्य यन्मूढैः सत्यतः कृतम् ।।
मायया निर्मितं यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम् ।
आयाति तत् कुतः कुत्र याति चेति निरूप्यताम् ।।
प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथम् ।।
स्वप्नोपमास्तु गतयः विचारे कदलीसमाः ।

माण्डूक्य कारिका में,

यथा मायामयो जीव:..........यथा स्वप्नमयो
जीवः । ४।६८-७०
धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्वतः ।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ।।४।४८
सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्वतः ।
सत्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ।।३।२९
असतो मायया जन्म तत्वतो नैव युज्यते ।
वन्ध्यापुत्रो न तत्वेन मायया वापि जायते ।।३।२८
स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।
............अवितथा इव लक्षिता........
मिथ्यैव खलु ते स्मृता:..........कल्पिता एव
ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः, आदि, आदि ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् गौडपादाचार्य की विज्ञानवाद और शून्यवाद के सिद्धान्तों से कई स्थानों पर बड़ी समानताएँ हैं और इन बौद्ध दार्शनिक पद्धतियों का उनके ऊपर बड़ा प्रभाव भी पड़ा है। किन्तु इन समानताओं को हम अधिक नहीं बढ़ा सकते। जितने समानता के ऊपर उद्धरण दिये गए हैं, उनसे कुछ कम असमानताओं के भी दिए जा सकते हैं। किन्तु इन समानताओं और असमानताओं को लेकर हम कहीं नहीं पहुँच सकते। हमारे लिए जो बात महत्वपूर्ण ठहरती है वह यह है कि आचार्य गौडपाद ने उपनिषदों के मन्तव्य और बुद्ध के मन्तव्य में एकता स्थापित करने की कोशिश की थी। और इस तरह बुद्ध-मन्तव्य की व्याख्या उनकी बौद्ध आचार्यों से भिन्न थी। गौडपाद वेदान्तविद् आचार्य थे, परन्तु उनकी बुद्ध-भक्ति में सन्देह नहीं किया जा सकता। भगवान् बुद्ध की परिपूर्ण बोधि में उनकी अटूट श्रद्धा थी। समग्र भारतीय दर्शन में यही एक महान् आचार्य हैं जिन्होंने वैदिक परम्परा से आकर बुद्ध-मन्तव्य की एकात्मता औपनिषद मन्तव्य के साथ दिखाने की कोशिश की है, अन्यथा अन्य तो इस परम्परा के प्रायः सभी प्राचीन और उसी ढंग के अर्वाचीन विद्वान् भी (जिनकी ऐतिहासिक मार्ग में श्रद्धा नहीं है) परम्परा से यही मानते आए हैं कि या तो बौद्धों के अनात्मवाद के निराकरण के लिए ही उपनिषदों के आत्मज्ञान का उपयोग है या फिर उपनिषदों के आत्मज्ञान पर चोट करने के लिए ही, प्रजाओं को विमोहन करने की प्रतिज्ञा धारण करने वाले, उन विष्णु रूप भगवान् बुद्ध ने, 'अनात्मवाद' का उपदेश देकर जगत् का अकल्याण सम्पादित किया है, जिससे बचे रहने में ही हित है। हमारा विनम्र विचार है कि इस प्रकार की प्रवृत्तियों को हटाने के लिए आचार्य गौडपाद की दिखाई दिशा के अनुसार आज फिर आधुनिक उपकरणों का आश्रय लेकर हमारे लिए यह आवश्यक है कि मूल त्रिपिटक के आधार पर विशुद्ध तात्विक दृष्टि से हम बुद्ध और उपनिषदों के मन्तव्यों का सम्बन्ध-अनुमापन करें ताकि आचार्य गौडपाद का काम पूरा हो और भगवान् तथागत हमारे सामने एक नई ज्योति से मंडित होकर आवें जो इस लोक के और विशेषतः आर्य-धर्म के कल्याण और सुख के लिए हो। किन्तु हम यहां बहुत ठहर गए। आचार्य गौडपाद के बाद ही वे गम्भीर दृष्टि वाले तपस्वी शंकर हमारे सामने आते हैं जो आठवीं शताब्दी के भारत में, साक्षात् अदम्य संन्यास-धर्म के साकार रूप जैसे, धर्म प्रचारार्थ चारों ओर परिव्रजन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

भगवान् शंकर और उनके पूर्ववर्ती बौद्ध आचार्य

भगवान् शंकर भारतीय दर्शनाकाश के एक प्रखर मार्तण्ड हैं। अद्वितीय प्रतिभा, तेजस्वितापूर्ण व्यक्तित्व, अप्रतिहत बुद्धि-बल और सर्वतः परिपूर्ण दर्शन, यह हमें शंकर में मिलता है। इन मनीषी का आचार्यत्व जितना गम्भीर था उतना ही उनका तपस्, चारित्र्य और साधन भी महान् था। सम्भवतः यही उनकी महत्ता का प्रधान कारण है। जो उनके केवल आचार्यत्व को देखते हैं, वे उन्हें कभी नहीं समझ सकते। भगवान् शंकर के साथ मिलकर वाचस्पति मिश्र अमर हो गए, किन्तु भगवान् शंकर की महत्ता का कारण 'भामती' नहीं है[1]। भगवान् शंकर के पहले बहुत से बौद्ध आचार्य हो चुके थे और भगवान् शंकर उनसे बहुत कुछ प्रभावित थे और बहुत सी बातों में उनके ऋणी भी थे। निश्चय ही अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु और अनेक बौद्ध विचारक और नैयायिक जिनकी दार्शनिक प्रक्रिया अद्वितीय है, शंकर से पहले हुए थे, किन्तु इससे शंकर की एक मौलिक विचारक होने के नाते महत्ता में कुछ अन्तर नहीं आता। प्रत्येक विचारक अपने पूर्ववर्ती आचार्यों और विचारकों के अनुभवों से लाभ उठाता है और कभी कभी तो उनकी शब्दावली का भी प्रयोग करता है, किन्तु इससे उसकी महत्ता को कुछ क्षति नहीं पहुँचती यदि वह कुछ अपना भी लोक को देता है। इस तरह हम देखते हैं कि बौद्ध आचार्यों का तो कहना क्या, जिनकी अनेक बातों का शंकर ने प्रत्याख्यान किया है, अपनी परम पूजा के स्थान श्रुतियों और ब्रह्मसूत्रों तक को उस मनीषी ने इस व्यापकता के साथ अपने मौलिक विचार से अभिव्याप्त कर दिया है कि आज हम जब उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों को समझने की बात कहते हैं तो सबसे पहले ध्यान शंकर का ही आता है। जैसे वे हमें समझाते हैं वैसे ही हम मानते हैं, यद्यपि जानने वाले ही जानते हैं कि उसमें कितना उपनिषदों या ब्रह्मसूत्रों का मूल मन्तव्य है और कितना शंकर के स्वयं का दर्शन का। इसीलिए तो केवल भाष्यकार होते हुए भी हम उन्हें एक स्वतन्त्र दार्शनिक कहते हैं और 'शांकर दर्शन' जैसी वस्तु की चर्चा करते हैं। कहा जाता है कि शंकर ने ब्रह्मसूत्रों के मन्तव्यों को उनके वास्तविक स्वरूप में व्याख्यात नहीं किया है

---

(१) इसके विरुद्ध मत के लिए देखिए राहुल सांकृत्यायन की 'बुद्धचर्या' की भूमिका।

किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि उपनिषदों के मन्तव्यों को सबसे अच्छी तरह उन्होंने ही प्रख्यापित किया है। फिर महर्षि बादरायण ने तो उपनिषदों के ही मन्तव्यों के समन्वित स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है तो क्या स्वयं भगवान् शंकर ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा से हम सबको विभ्रमित ही नहीं किया ? अतः जब हम उनके तर्कों में बौद्ध आचार्यों के ही तर्कों का प्रत्यावर्तन देखें, जब श्रीहर्ष की तरह हम उन्हें भी माध्यमिकों के तर्क को ही विरोधी सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान करने के लिए प्रयुक्त करते देखें, तो हमें यह न समझना चाहिए कि शंकर के पास मौलिक कुछ नहीं है और वे एक उच्चतम कोटि के स्वतन्त्र विचारक नहीं हैं।

शंकर का दर्शन अपने मूल रूप में वैसा ही है जैसा उपनिषदों का। उनके दर्शन की प्रतिष्ठा नित्यानित्यवस्तु-विवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमदमादि-साधन सम्पत् और मुमुक्षुत्व, इन चार साधनों की

शंकर और बौद्ध दर्शन

तैयारी पर अवलम्बित है[1], अतः समग्र बौद्ध नैतिक आदर्शवाद को वह अपने गर्भ में छिपाये है, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भगवान् शंकर ने वेदान्त दर्शन का प्रयोजन आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति को स्वीकार किया है[2]। अतः इस रूप में बुद्ध के अभिप्राय से उनका कोई विभेद नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, प्रतीत्य समुत्पाद का खण्डन प्रस्तुत करते समय आचार्य ने उसका केवल तात्विक दृष्टि से ही खण्डन किया है, किन्तु जहां तक दुःख निवृत्ति रूप नैतिक तत्त्व से सम्बन्ध है उसको उन्होंने स्पर्श नहीं किया है और उसकी सम्भवता भी स्वीकार की है। यदि अविद्यादि प्रत्ययों से लेकर जरा, मरण, शोक, परिदेवना, दुःख और दौर्मनस्य तक सभी प्रत्ययों का निमित्त-नैमित्तिक भाव से घटीयन्त्र के समान समुदय और निरोध होता है तो इसमें शंकर को कुछ नहीं कहना, उनका तो विरोध इसी में है कि विना एक स्थिर आत्मा के इनका संघात

---

(१) देखिए ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १।१।१

(२) क्लेशानास्पदत्वात् सम्यग्दर्शनं इत्यद्वैतदर्शनं प्रस्तूयते। माण्डूक्य-कारिका ३।१ पर शांकर भाष्य; रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता। तथा दुःखात्मकस्यात्मनो द्वैतप्रपञ्चोपशमे स्वस्थता। माण्डूक्य कारिका भाष्य के प्रारम्भ में; एवमयमनादिरनन्तो.......अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय.......सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य का उपोद्घात।

सिद्ध कैसे होगा ? 'इतरेतरोत्पत्तिमात्र निमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेद् भवतु नाम न तु संघातः सिद्धयेत्'[१]। अतः तात्विक व्याख्या में विभेद है, किन्तु एक साधक विना यह प्रश्न उठाए कि एक स्थिर आत्म तत्त्व है अथवा नहीं, यदि दुःख के समुदय और निरोध को उपर्युक्त नियम के अनुसार समझ कर आचरण करे तो क्या उसकी दुःख-निवृत्ति नहीं होगी ? शंकर के प्रत्याख्यान का तात्पर्य यही हो सकता है कि बिना औपनिषद ज्ञान की प्रतिष्ठा लिये बुद्ध के नैतिक मार्ग की व्याख्या नहीं की जा सकती, उसकी संगति नहीं बैठ सकती और इस विषय में सम्भवतः आचार्य शंकर ठीक हैं। बुद्ध के मन्तव्य की निषेधात्मक व्याख्या कर धर्मकीर्ति और दिङ्नाग जैसे बौद्ध आचार्यों ने अपने शास्ता की सम्भवतः अधिक असेवा की है जितनी कि शंकर के सब प्रत्याख्यानों ने भी नहीं की। किन्तु इस विषय पर बाद में। बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद से शंकर को कोई विभेद नहीं हो सकता, हां उसकी व्याख्या में वे और बौद्ध आचार्य विभिन्न-मत वाले हो सकते हैं। फिर भगवान् शंकर कर्मकाण्ड के भी तो विरोधी हैं और कम से कम ज्ञान की अपेक्षा में वे उसे अधिक मूल्य देने को तैयार नहीं[२]। इस विषय में वेद का भी प्रमाण उन्हें उसी अर्थ में मान्य नहीं जिस प्रकार कि मीसांसकों को। श्रुति भगवान् शंकर के लिए सहस्र कल्याणकारी माता पिताओं से भी अधिक है और वह इसीलिए कि अन्धकार से हटा कर ज्ञान के प्रकाश में ले जाती है। शंकर का ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान वैसा ही है जसा उपनिषदों का, अतः जो बात वहां कह आए हैं वह यहां भी समझना चाहिए। शंकर तर्क को अधिक महत्त्व नहीं देते और 'कुतार्किकों' के बड़े भारी निन्दक भी हैं। अतः अध्यात्म और बुद्धितत्त्व का एक उचित सम्मिश्रण

---

(१) ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य २।२।१९

(२) अलंकारो ह्ययमस्माकं यत् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृत-कृत्यता चेति :...यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूदिति न च तत्रान्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि ।.....अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद् दर्शयितुम् ।.....तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १।१।४

शंकर के दर्शन में हुआ है और बौद्ध दर्शन में श्रद्धा के महत्व की जो स्वीकृति है, वह भी इसके अनुकूल ही है । शंकर को तीन प्रमाण मान्य हैं, यथा प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से वे ब्रह्म की सिद्धि नहीं मानते[1]। उसके लिए श्रुतियां और स्वानुभूति ही यथा सम्भव प्रमाण हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान का अवसान अनुभव है और एक परिनिष्ठित वस्तु उसका विषय है[2]। केवल अतीन्द्रिय क्षेत्र में ही वेद के प्रमाण की स्थापना है[3]। वैसे तर्क की महिमा भी शंकर के मत में सुरक्षित है[4]। तर्क की निन्दा उन्होंने इसीलिए की है कि वह स्वानुभूति का मार्ग छोड़कर कहीं उच्छृङ्खल न हो जाय[5]। वैसे अनुभूति और तर्क का एक अत्यन्त सामञ्जस्य पूर्ण रूप शंकर में दिखाई देता है और वह इस अत्यन्त छोटे से वाक्य में अपने पूर्ण प्रभाव के साथ द्योतित हो गया है, 'श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवांगत्वेनाश्रीयते ।' (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।६)। श्रुति से अनुगृहीत तर्क का ही, अनुभव का अंग होने के कारण, भगवान् शंकर ने आश्रय लिया है और यह उनकी सत्य की गवेषणा में सहायक ही हुई है, बाधक कभी नहीं। श्रुति-विरोध की समस्या उपस्थित होने पर वे उसे परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य के द्वारा बचा ले गए हैं। अन्यथा तो किसी प्रकार उपनिषदों का समन्वय करना और निर्गुण ब्रह्म के सृष्टिकर्ता होकर भी निर्विकार बने रहना कभी

(१) न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः। ब्रह्म-सूत्र-शांकर भाष्य १।१।४

(२) श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासम्भवमिह प्रमाणं अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १।१।२

(३) श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।३।१ मिलाइये सायण भी यथा, 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एतम् इच्छति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥ तैत्तिरीय भाष्य भूमिका में॥ प्रत्यक्षानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते। एनं विन्दति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता। सायण भाष्योपक्रमणिका पृष्ठ ३४ में उद्धृत, देखिए पीछे सांख्य दर्शन का विवेचन भी।

(४) देखिए गीता भाष्य २।२१; माण्डूक्य कारिका भाष्य ३।१

(५) शंकर के द्वारा कुतर्क और कुतार्किकों की निन्दा के कुछ उदाहरणों के लिए देखिए प्रथम प्रकरण में 'भारतीय दर्शन में अध्यात्मवाद और बुद्धिवाद' पर विवेचन।

सम्भव ही नहीं था । मायावाद भी कदाचित् इसी कठिनाई को दूर करने के लिए लाया गया है । अस्तु, परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य की कल्पना शंकर की कुछ-कुछ माध्यमिक आचार्यों की सी ही है और जैसा कि हम आगे देखेंगे आचार्य रामानुज के द्वारा प्रायः इस विषय में उनका खण्डन भी वैसा ही है जैसा आचार्य कुमारिल के द्वारा बौद्धों का । किन्तु अभी तो हम शंकर के द्वारा बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रत्याख्यान को देखें ।

ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।२।१८ से २।२।३२ तक भगवान् शंकर ने बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का खण्डन उपस्थित किया है । शांकरभाष्य के अनुसार हम भगवान् शंकर के द्वारा बौद्ध सम्प्रदायों के इस खण्डन में प्रवृत्त होते हैं । बौद्ध दर्शन का खण्डन प्रस्तावित करते हुए ही उन्होंने 'सर्ववैनाशिक-राद्धान्त' (अर्थात् सर्ववैनाशिकों का, सर्वशून्य-वादियों का, राद्धान्त अर्थात् सिद्धान्त) के नाम से बौद्ध दर्शन को पुकारा है। 'सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नतरामपेक्षितव्य इति' ।

भगवान् शंकर के द्वारा ब्रह्मसूत्र-भाष्य में बौद्ध दर्शन का प्रत्याख्यान

इस 'सर्ववैनाशिक' मत के उन्होंने तीन भेद बताए हैं, सर्वास्तित्ववादी, विज्ञानास्तित्वमात्रवादी और सर्वशून्यत्ववादी । उन्हीं की प्रशस्त पदावली में 'स च बहुप्रकारः...........तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति—केचित् सर्वास्तित्व-वादिनः, केचिद्विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति'। सूत्र २।२।१८ से २।२।२७ तक के भाष्य में आचार्यदेव ने पहले सर्वास्तित्व-वादियों (सर्वास्तिवादियों) को लिया है[1] । सर्वास्तिवादियों की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है कि जो बाह्य और आन्तरिक वस्तुओं को अर्थात् भूत और भौतिक को और चित्त और चैत्त को स्वीकार करते हैं, वे सर्वास्तित्ववादी हैं । 'तत्र ते सर्वास्तित्ववादिनो बाह्यमान्तरं च वस्त्वभ्युप-गच्छन्ति भूतं भौतिकं च चित्तं चैत्तं च' ।

चतुर्थ प्रकरण में सर्वास्तिवादियों के 'संस्कृत' और 'असंस्कृत' धर्मों का जो विवेचन हम दे आए हैं उससे विदित होगा कि शंकर का सर्वास्तिवादियों के मूल मत का उसके याथात्म्य रूप में दिखाना कितना उपयुक्त है । इस प्रकार प्रस्तावना कर सर्वप्रथम आचार्य शंकर सर्वास्तिवादियों के परमाणुवाद पर आक्रमण करते हैं ।

सर्वास्तिवाद

(१) 'ब्रह्मसूत्र' के सभी भाष्यकार इस बात में सहमत हैं कि इन्हीं सूत्रों में 'सर्वास्तिवाद' मत का खण्डन उपलब्ध होता है ।

सर्वास्तिवादियों का कहना है कि पृथ्वी धातु इत्यादि भूत हैं; रूप और चक्षु आदि भौतिक हैं। परमाणुओं में खर (तीव्रता का गुण) स्नेह (मिलने का गुण) ईरण (गति का गुण) और उष्ण (गर्मी का गुण) के गुण रहते हैं[1]। इन गुणों की परमाणुओं में विद्यमानता होने के कारण पृथिवी आदि का संघात उठ खड़ा होता है और इसी प्रकार उत्पन्न हो जाते हैं रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप पञ्चस्कन्ध भी और फिर इनसे अन्य मानसिक प्रवृत्तियां भी जो हमारे दैनिक व्यावहारिक जीवन को सम्भव बनाती हैं। यहां भगवान् शंकर को यह कहना है—यदि इस प्रकार के दो संघात[2] समानान्तर रूप से कारणवाद की दो परम्पराओं का अनुवर्तन कर चलें अर्थात् एक तो परमाणुओं से[3] भूत

---

(१) यहां शंकर ने पृथिव्यादि परमाणुओं में से हर एक को खर, स्नेह, उष्ण और ईरणस्वभाव वाला बताया है 'पृथिव्यादि परमाणवः खरस्नेहोष्णेरण स्वभावास्ते'। शंकर के व्याख्याकार भामतीकार ने पृथिवी परमाणु को माना है केवल 'खर' स्वभाव, इसी प्रकार जल परमाणु को 'स्नेह' स्वभाव आदि। इनमें से कौन सा मत सर्वास्तिवाद की परिस्थिति को ठीक प्रकार से रखता है, यह एक समस्या है, जिसके समाधान के लिए देखिए बेलवेलकर : ब्रह्मसूत्र, नोट्स पृष्ठ ६१-६२; मिलाइये 'धृत्यादिकर्मसंसिद्धाः खरस्नेहोष्णतेरणाः'। अभिधर्म-कोश १।१२। यहांभी भाषा की वही अस्पष्टता है। दोनों ही अर्थ लिए जा सकते हैं। वाचस्पति मिश्र का भी और शंकर का भी। राहुल सांकृत्यायन ने उपर्युक्त की टीका में वही अर्थ लिया है जो वाचस्पति मिश्र ने शंकर की व्याख्या में अर्थात् यह कि पृथ्वी खर स्वभाव है, जल स्नेह स्वभाव आदि। पालि वर्णनों को भी यही अर्थ मान्य होगा। अतः इस सम्बन्ध में शंकर की अपेक्षा 'षड्दर्शनीबल्लभ' (वाचस्पति मिश्र) ही अधिक ठीक जान पड़ते हैं। वस्तुतः हमारे दर्शन का वैज्ञानिक आधार प्रायोगिक न होकर बहुधा चिन्तनात्मक ही रहा है, अतः उसके वर्णनों में यह अस्पष्टता अनिवार्यतः आ गई है।

(२) उभयहेतुक उभयप्रकार : समुदायः।

(३) शांकर-भाष्य में शब्द है 'अणुहेतुक'। इस पर प्रसिद्ध जापानी पण्डित यामाकामी सोजन ने आपत्ति की है कि यहां शंकर ने 'परमाणु' की जगह 'अणु' लिखकर गलती की है (सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १६३)। शंकर के सामने मूल विषय अणु और परमाणुओं के विभेद का

और भौतिक पदार्थों की ओर और दूसरा पञ्चस्कन्धों की ओर[1], तो फिर इन दोनों प्रकार के संघातों के इस प्रकार समानान्तर रूप से चलने पर उनके संघात के तथ्य की ही असम्भवता हो जायगी। 'समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थः'। उनके समुदाय के भाव की ही उपपत्ति नहीं हो सकेगी। और इसके लिए शंकर ने पांच हेतु दिए हैं, (१) जो 'धर्म' (शंकर का प्रयोग नहीं, किन्तु उनके अर्थ को प्रकट करने के लिए यह प्रयोग क्षम्य हो) संघात उत्पन्न करने जा रहे हैं, वे तो स्वयं अचेतन हैं 'समुदायिनामचेतनत्वात्'। अतः वे भूत और भौतिक और चित्त और चैत्त (चेतसिक) की सृष्टि कैसे कर सकते हैं ? (२) चित्त का अभिज्वलन अर्थात् परमाणुओं में से चित्त धारा का स्फुरण तो उनके समुदाय या संघात पर निर्भर है। 'चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्ध्यधीनत्वात्'। जव समुदाय ही (प्रथम तर्क के अनुसार) सिद्ध नहीं हुआ, तो उसमें से चित्त-चैत्त आदि का भी 'अभिज्वलन' कैसे बन सकता है ? (३) संघात को स्थिति में कौन लाएगा ? 'समुदाय' की प्रतिष्ठा कौन

विवेचन करना नहीं था। फिर पहले वे कह ही चुके हैं कि 'पृथिव्यादयः परमाणवः.....संहन्यन्त'। अतः उसी अर्थ में हमें यहां 'अणु' शब्द को लेना चाहिए। वैसे निश्चित वैज्ञानिक शब्दावली की दृष्टि से (जो निश्चय ही दार्शनिक प्रज्ञानों में होनी चाहिए) सोजन का कहना निस्सार नहीं है और शंकर गलत शब्द के प्रयोग के दोषी हैं। यदि इससे अधिक कुछ शंकर के प्रति पक्षपात चाहते हैं, तो देखिए बेलवलकर : ब्रह्मसूत्र नोट्स, पृष्ठ ६३; सोजन की स्थिति के दृढ़ीकरण के लिए देखिए अभिधर्म कोश ३।८६, जहां पांच परमाणुओं को एक अणु के बराबर बताया गया है।

(१) शांकर भाष्य में शब्द 'पञ्चस्कन्धी रूप' है। इसमें 'रूप' शब्द पर यामाकामी सोजन ने आपत्ति की है कि यह बौद्ध दृष्टि से इस शब्द का अपारिभाषिक प्रयोग है। निश्चय ही यामाकामी सोजन यहां गलत हैं। रूप शब्द यहां पञ्चस्कन्धों के 'रूप' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, किन्तु केवल जिस प्रकार हम कहते हैं मित्र-रूप, विपत्ति-रूप आदि। हमारे लिये ये प्रयोग कितने स्वाभाविक हैं ! और फिर 'पञ्चस्कन्धी' में द्विगु समास है, इसकी भी सम्यक् अनुभूति यामाकामी सोजन ने नहीं की है। देखिए बेलवेलकर : ब्रह्मसूत्र नोट्स, पृष्ठ ६३-६४। सोजन के तर्क को समझने के लिए देखिए 'सिस्टम्स ऑफ़ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १६३।

बनेगा ? तुम किसी 'अन्य' 'स्थिर' 'चेतन' तत्त्व की तो सत्ता ही स्वीकार नहीं करते ? किसी को इस 'समुदाय' या संघात का भोक्ता और शासनकर्ता तो मानते नहीं, फिर यह तुम्हारा संघात कैसे बनेगा ? कौन इसको स्थिति में लाएगा ? यह तुम्हारे संघात का तो अभ्युपगम होता नहीं । 'अन्यस्य च कस्यचिच्चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा स्थिरस्य संहन्तुरनभ्युपगमात्' । (४) यदि तुम कहो कि परमाणुओं की यह प्रवृत्ति किसी उपर्युक्त प्रकार से कहे हुए स्थिर चेतन तत्त्व की अपेक्षा नहीं रखती, किन्तु विना किसी प्रवर्तक कारण के ही परमाणुओं की संघात के प्रति प्रवृत्ति होने लगती है, तो फिर इस प्रवृत्ति का उपरम या उपशम भी तो कभी होगा नहीं, क्योंकि उसका कोई शासक तो है ही नहीं । अतः निर्वाण भी तुम्हारा कहां सिद्ध होगा ? सारांश यह कि यदि किसी संघातकर्ता को नहीं मानते और उससे निरपेक्ष ही प्रवृत्ति का अभ्युपगम स्वीकार करते हो, तो प्रवृत्ति के अनुपरम प्रसंग से तुम मुख नहीं मोड़ सकते 'संहन्तुरनभ्युपगमात् निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरम-प्रसंगात्' । (५) यदि यह कहो कि ('सन्तान रूप') आशय[1] ही यह सब

---

(१) 'आशय' क्या है ? सर्वास्तिवादी शास्त्रों में इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग उपलब्ध नहीं होता । सम्भव है शंकर ने किसी ऐसे ग्रन्थ को आधार बनाया हो जो अब प्राप्त नहीं है । किन्तु तात्विक रूप से उनके अर्थ को समझना कठिन नहीं है और न वह किसी प्रकार अनुपयुक्त ही है । जैसा कि हम चतुर्थ प्रकरण में देख आए हैं, सर्वास्तिवादियों का एक सम्प्रदाय अवश्य था जो पञ्चस्कन्धों से व्यतिरिक्त एक चित्त की धारा की स्थिति मानता था जो क्षणिक होने पर भी वेदान्तियों की 'आत्मा' से कुछ समानता रखती थी और इसीलिये सर्वास्तिवादियों ने प्रधानतः उसे अन्य तीर्थिकों की चीज समझ कर स्वीकार नहीं किया था । उसी चित्त-धारा की ओर निर्देश करते हुए आचार्य शंकर ने यहां कहा है । वैसे हम जानते हैं कि इसी 'चित्तधारा' का निरूपण बाद में चलकर 'आलय विज्ञान' के नाम से विज्ञानवादियों ने किया था। यहां 'आलय विज्ञान' शब्द का प्रयोग शंकर ने नहीं किया है, किन्तु उनके व्याख्याकारों ने उसे इसी अर्थ में लिया है। 'भामती' और 'रत्नप्रभा' ने 'आशय' का अर्थ 'आलय विज्ञान' किया है और आनन्दगिरि ने भी उसे 'सन्तान' का पर्यायवाची बताया है, जो भी एक

काम कर लेता है तो इसके विरोध में हमारे चार तर्क हैं (अ) संघात से यह भिन्न है अथवा अभिन्न है, इसका ही तुम निश्चय नहीं कर सकते 'आशयस्याप्यन्यत्वानन्यत्वाभ्यामनिरूप्यत्वात्' (अ) यह तो एक क्षणिक 'धर्म' (लेखक का ही प्रयोग !)[१] है 'क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च' (इ) अतः इसमें व्यापार सम्भव नहीं हो सकता 'निर्व्यापारत्वात्' (ई) अतः प्रवृत्ति की उपपत्ति नहीं होती 'प्रवृत्यनुपपत्तेः' । यहीं परमाणुवाद के विरोधी तर्कों के प्रसंग में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का भी प्रश्न आ जाता है ।

प्रतीत्यसमुत्पाद

भगवान् शंकर (सूत्रकार का ही अनुसरण कर[२]) कहते हैं कि यदि सर्वास्तिवादियों की ओर से यह कहा जाय कि परमाणुओं के संघात के लिए स्थिर चेतन तत्त्व मानने की ज़रूरत नहीं है, द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद ही यह सब काम कर लेगा, क्योंकि उसमें सभी निदान एक दूसरे के प्रति कारण भाव से परिनिबद्ध रहते हैं, तो वेदान्त की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि ऐसा कभी हो नहीं सकता, क्योंकि इससे तो केवल उत्पत्तिमात्र हो जायगी, संघात तो इससे होगा नहीं । 'प्रतीत्यसमुत्पाद' संघात का कारण नहीं हो सकता, इसके लिए शंकर का प्रधान तर्क यही है कि वहां कोई स्थिर चैतन्य भोक्ता नहीं है, जो या तो प्रथम निदान स्वरूप अविद्या को प्रवृत्त कर सके, या जिसके लिए संघात के उपभोग की संगति मिलाई जा सके । चूंकि ये बातें प्रतीत्यसमुत्पाद में उपलब्ध नहीं होतीं, अतः वह विभिन्न परस्पर-आश्रित निदानों की उत्पत्ति में भले ही कारण स्वरूप हो सके, किन्तु उससे संघात व्याख्यात नहीं होता।

ही बात है । मिलाइए 'आशेरतेऽस्मिन् कर्मानुभववासना इत्याशयः', 'तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम् । तत् स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्' ॥ विज्ञानवादियों के आलय-विज्ञान या आशय सम्बन्धी विचार को सर्वास्तिवादियों के मत्थे मढ़ कर आचार्य शंकर ने बौद्ध सम्प्रदायों सम्बन्धी अपनी अनभिज्ञता को प्रकट किया है , ऐसा अवश्य कहा जा सकता है ।

(१) आश्चर्य है कि' माण्डूक्य कारिका' के भाष्यकार होने पर भी आचार्य शंकर ने 'धर्म' शब्द का बौद्ध प्रयोग अपने भाष्य में (जहां कि सम्भवतः उसकी सबसे अधिक जरुरत थी) नहीं किया !

(२) इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्न उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । ब्रह्मसूत्र २।२।१९

यहाँ हमें कुछ विस्तार से शंकर के इस विषय सम्बन्धी तर्कों को समझना चाहिए। यहां यह कह देना भी आवश्यक है कि शंकर ने कुछ संक्षेप से 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का विवरण भी दे दिया है (जिसकी वाचस्पति मिश्र ने बड़ी विस्तृत और अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है, जिसके सहारे ही वे विद्यार्थी जिन्होंने बौद्ध स्रोतों से 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का ज्ञान सम्पादन नहीं किया है, उसके स्वरूप को बहुत कुछ समझने का प्रयत्न करते हैं––चूंकि हम चौथे प्रकरण में स्थविरवाद परम्परा के अनुसार 'प्रतीत्य समुत्पाद' का विस्तृत वर्णन दे आए हैं और उसी प्रकरण के उत्तर भाग में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' ने धीरे-धीरे विकसित होते हुए जो 'शून्यवाद' में अन्तर्भाव प्राप्त कर लिया, उसे भी दिखा आए हैं, इसलिए इच्छा रहते हुए भी हमें यहां 'भामती' के उद्धरण करने के लोभ का संवरण करना पड़ता है, अति पुनरुक्ति के डर से––अतः भगवान् शंकर तक ही हम सीमित रहना चाहते हैं) और साथ ही उन्होंने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वाक्य यह भी कहा है'.....एवंजातीयका इतरेतरहेतुकाः सौगते समये क्वचित् संक्षिप्ता निर्दिष्टाः क्वचित्प्रपञ्चिताः'। जो बौद्ध शास्त्रों से और विशेषतः पालि-त्रिपिटक से अभिज्ञ हैं, वे देख सकते हैं कि शंकर का यह कहना ठीक है। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि पालि-त्रिपिटक शंकर को उपलब्ध था, हमें केवल यही कहना है कि शंकर जब 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के निदानों के विषय में 'क्वचित् संक्षिप्ता निर्दिष्टाः क्वचित्प्रपञ्चिताः' कहते हैं तो वे बौद्ध ग्रन्थों के स्वयं देखने का साक्ष्य देते हैं। अब हम अपने प्रधान विषय पर आते हैं। भगवान् शंकर का कहना है कि 'संघात' की संगति तो हम तभी लगा सकते हैं जब कि संघात का कोई प्रवर्तक कारण माना जाय 'भवेदुपपन्नः संघातो यदि संघातस्य किञ्चिन्निमित्तमवगम्यते'। किन्तु यह तो यहां मिलता नहीं। 'न त्ववगम्यते'। अगर यह मान लो और इसे मानने में हमें कोई हर्ज नहीं है कि अविद्या आदि निदान एक दूसरे से कारण और कार्य भाव से सम्बद्ध रहते हैं, फिर भी तो पूर्व-पूर्व का प्रत्यय या निदान उत्तरोत्तर प्रत्यय या निदान की उत्पत्ति मात्र का ही तो कारण हो सकता है, किन्तु इतने से ही हमें संघात के निर्माण का तो कोई कारण यहां उपलब्ध होता नहीं। 'न तु संघातोत्पत्तेः किञ्चिन्निमित्तं सम्भवति'। यदि सर्वास्तिवादी (जिनके ही सिद्धान्त के रूप में आचार्य शंकर ने इसको यहां प्रधानतः उपस्थित किया है) यह कहें कि अविद्यादि को ही क्या संघात के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्या उनसे ही संघात आक्षिप्त नहीं हो जाता, तो इस पर शंकर

की दृष्टि यह है कि जब यह कहा जाता है कि प्रतीत्य समुत्पन्न निदान ही संघात को अक्षिप्त कर सकते हैं, तो इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं। (१) या तो यह अभिप्राय हो सकता है कि चूंकि अविद्यादि निदान बिना संघात की उपस्थिति के अपनी स्थिति कायम नहीं रख सकते इसलिए निश्चयतः ही संघात की विद्यमानता उनमें निहित है, अथवा (२) यह अभिप्राय प्रतिपक्षी का हो सकता है कि अविद्यादि स्वयं ही संघात के कारण हैं। इन दोनों परिस्थितियों का आचार्य शंकर ने इस प्रकार निराकरण किया है। प्रथम आपत्ति के विषय में उनका कहना है कि यदि हम यह मान लें कि अविद्या आदि निदानों से संघात स्वयं ही आक्षिप्त हो जाता है और उसकी अनुपस्थिति में हम अविद्यादि की भी स्थिति को नहीं समझ सकते तो आचार्य शंकर फिर यही कहते हैं कि उसके लिए कोई निमित्त लाओ 'ततस्तस्य संघातस्य निमित्तं वक्तव्यम्'। यह निमित्त तो न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद में भी उपलब्ध नहीं होता जहां कि 'नित्य' अणु हैं और आश्रय आश्रयि स्वरूप जहां अनेक भोक्ता हैं, तो हे अंग! (प्रियवर! प्रतिपक्षी को प्रेम पूर्वक सम्बोधन!) तुम्हारे यहां तो 'क्षणिक' धर्म परमाणु हैं, जो भी अनात्म हैं, अतः वहां निमित्त की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? 'नित्येष्वपि अणुषु अभ्युपगम्यमानेषु आश्रयाश्रयिभूतेषु ('आस्रवाश्रयिभूतेषु' भी पाठ है) च भोक्तृषु सत्सु न सम्भवतीत्युक्तं वैशेषिकपरीक्षायां। किमंग! पुनः क्षणिकेष्वपि अणुषु भोक्तृरहितेषु आश्रयाश्रयिशून्येषु वाभ्युपगम्यमानेषु सम्भवेत्'। फिर यदि अविद्यादि निदान संघात को आक्षिप्त करते हैं तो यदि इसका दूसरा उपर्युक्त तात्पर्य यह लिया जाय कि अविद्यादि स्वयं ही संघात के कारण हैं तो उसके विरुद्ध शंकर का तर्क यह है कि जो अविद्यादि स्वयं अपनी स्थिति के लिए संघात पर निर्भर हैं, वे स्वयं उस संघात के ही कारण किस प्रकार हो सकते हैं? 'कथं तमेवाश्रित्यात्मानं लभमानास्तस्यैव निमित्तं स्युः'। अतः संघात अविद्यादि के द्वारा आक्षिप्त नहीं किया जाता और जिन दो अर्थों में संघात का अविद्यादि के द्वारा आक्षिप्त होना दिखाया जा सकता है, उन दोनों अर्थों का शंकर ने निराकरण कर दिया है। किन्तु बौद्धों के इतने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को इस प्रकार आसानी से आचार्य शंकर नहीं छोड़ सकते। वे फिर कहते हैं कि यदि यह मान लिया जाय कि इस अनादि संसार में संघात पूर्व से ही स्थित हैं और अविद्यादि निदान उन्हीं पर आश्रित हैं, तो यह पूछा जा सकता है कि एक नया संघात, जो एक पूर्व संघात से उत्पन्न होगा, वह क्या नियम से

पूर्व संघात के सदृश ही होगा अथवा बिना किसी नियम के सदृश और विषदृश दोनों हो सकता है। 'संघातात्संघातान्तरमुत्पद्यमानं नियमेन वा सदृशमेवोत्पद्येत अनियमेन वा सदृशं विसदृशं वोत्पद्येत'। दोनों ही हालतों में संघात की सिद्धि नहीं होती। किस प्रकार? यदि नियम से एक संघात से समान संघात की उत्पत्ति हम मानें तो भिन्न-भिन्न योनियों में कर्मानुसार मनुष्य के संसरण की संगति नहीं मिल सकती। 'नियमाभ्युपगमे मनुष्य-पुद्‌गलस्य देवतिर्यग्योनिनारकप्राप्त्यभावः प्राप्नुयात्' और यदि अनियम से ही एक संघात से सदृश अथवा विसदृश संघात की उत्पत्ति को हम मानें तो हमें मनुष्य के शरीर को एक क्षण में हाथी, एक क्षण में देव और फिर एक क्षण में मनुष्य के रूप में आता हुआ मानना पड़ेगा। 'अनियमाभ्युपगमेऽपि मनुष्यपुद्‌गलः कदाचित्क्षणेण हस्ती भूत्वा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवेत्'। अतः न तो एक संघात के दूसरे संघात से नियम पूर्वक सदृश उत्पन्न होने पर और न अनियम से सदृश या विसदृश उत्पन्न होने पर ही, प्रतिपक्षियों का यह अभ्युपगम कि अनादि संसार में संघात पूर्व से ही अवस्थित हैं और अविद्यादि उन्हीं पर आश्रित हैं, नहीं ठहरता, बल्कि दोनों ही उपर्युक्त सिद्धान्त (निराकृत किए जाने पर) उसके (अभ्युपगम के) विरुद्ध ही ठहरते हैं। 'उभयमप्यभ्युपगमविरुद्धम्'। फिर इस विषय में उपसंहार की ओर आते हुए आचार्य शंकर अपने प्रधान तर्क पर आते हैं (जिसका निर्देश पहले भी कर दिया जा चुका है और जो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है न केवल बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन के सम्बन्ध को समझने के लिए ही बल्कि शांकर दर्शन के बौद्ध दर्शन से मूल विभेद को हृदयंगम करने के लिए भी)। बौद्ध दर्शन के अनुयायी से उनका गम्भीर निनाद है 'यद्‌भोगार्थः संघातः स्यात्स नास्ति स्थिरो भोक्तेति तवाभ्युपगमः'। तुम्हारे दर्शन में उस स्थिर भोक्ता (अनुभवकर्ता) आत्मा के लिए तो कोई स्थान ही नहीं है जिसके लिए संघात के भोग (अनुभव) की कल्पना की जाती है! अतः निश्चय ही भोग (अनुभव) के लिए ही तो यह संघात रूप भोग उपस्थित है, अतः मोक्ष केवल मोक्ष के लिए ही तो रही, मुमुक्षु कहां रहा? यदि मानते हो कि मुमुक्षु है, तो क्षणिकवाद का उपदेश क्यों देते हो? भोग और मोक्ष दोनों कालों में ही तो मुमुक्षु को स्थायी रहना चाहिए। अतः यदि एक ओर स्थिर आत्मा मानते हो तो दूसरी ओर तुम्हारा क्षणिकवाद नहीं रहता और यदि क्षणिक-वाद पर आग्रह करते हो तो प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा संघात सिद्ध करने के मोह को छोड़ो! एक से दूसरे की उत्पत्ति की व्याख्या करनी है तो भले ही तुम

कर लो, किन्तु संघात की सिद्धि तो तुम प्रतीत्यसमुत्पाद से नहीं कर सकते। 'इतरेतरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेद् भवतु नाम न तु संघातः सिद्धयेत्'। इस प्रकार आचार्य शंकर ने सर्वास्तिवादियों के परमाणुवाद का खण्डन किया है और साथ ही दिखाई है प्रतीत्य समुत्पाद की भी कारणवाद के रूप में अपर्याप्तता।

लेखक के द्वारा कुछ प्रसङ्गान्तर

किन्तु सबसे बड़ी बात जो अब तक ऊपर किए गए शंकर के प्रत्याख्यानों में हम देखते हैं वह यह है कि बौद्ध दर्शन के कर्म, निर्वाण, साधन-पथ आदि की संगति बिना स्थिर आत्म तत्व स्वीकार किए नहीं लगती। यदि स्थिर आत्म तत्व की विद्यमानता हम बौद्ध दर्शन की प्रतिष्ठा में न मानें तो उसका कोई भी सिद्धान्त पृथ्वी पर गिरे बिना नहीं रहता। निश्चय ही यद्यपि शंकर ने 'मूल माध्यमिककारिकाकार' के समान विस्तार नहीं किया है, किन्तु उनके गम्भीर और सूक्ष्म तर्कों को देखकर हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार माध्यमिकों ने संसार की सभी वस्तुओं के प्रति कहा था, बिलकुल वही बात, यदि हम स्थिर आत्मतत्त्व की सत्ता बौद्ध दर्शन की प्रतिष्ठा में स्वीकार न करें तो, उसके प्रत्येक प्रज्ञान, प्रत्येक नैतिक आदर्शवाद के सिद्धान्त, यहां तक कि कर्म, निर्वाण और पुनर्जन्म आदि सभी के विषय में कही जा सकती है 'बुद्धया विवेच्यमानानां स्वरूपो नावधार्यते। यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा'। निश्चय ही ब्रह्मसूत्र भाष्य में यह काम शंकर ने कर दिखाया है। स्थिर आत्मतत्त्व के बिना उन्हें बौद्ध दर्शन 'वैनाशिक समय' (विनाशवादी सिद्धान्त) ही लगा है और जैसे-जैसे उसकी उपयुक्तता की उन्होंने परीक्षा की है, वह सिकता-कूप के समान विदीर्ण होता गया है[१]। किन्तु इससे क्या बुद्ध-दर्शन की महिमा नष्ट होती है, क्या उसकी सत्यता घटती है? शंकर का अभिप्राय चाहे जो कुछ रहा हो (हम देखेंगे कि उनका अभिप्राय विभिन्न था) किन्तु उन्होंने अपने प्रत्याख्यानों से बुद्ध के धर्म और दर्शन की महिमा बढ़ाई ही है, उसकी परिशुद्धि ही की है, उसके तेज को और प्रकाश ही दिया है। यह एक विरोधाभास-सा दीख सकता है, किन्तु यह एक महान् सत्य है। शंकर के समस्त प्रत्याख्यानों का और उनके व्याख्याकारों के समस्त विस्तारों

---

(१) 'सर्वप्रकारेण यथायथायं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते तथा तथा सिकताकूपवद्विदीर्यत एव। ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।२।३२

का, इससे अधिक और तात्पर्य क्या हो सकता है कि सर्वास्तिवादी, विज्ञानवादी और सर्वशून्यवादी (जिनके विषय में तो कहना ही क्या—आचार्य शंकर ने जिनके सिद्धान्तों में से एक के भी निराकरण करने तक का भी आदर नहीं दिखाया) सभी परस्पर-विरुद्ध सिद्धान्तों को लिए हुए अँधेरे में टटोल रहे हैं जहां उनके आचारतत्व और तत्वज्ञान की कोई संगति नहीं लगती और जो एक अतीत स्थिर आत्मा की स्थिति माने बिना सभी प्रकार के प्रकाश और ज्ञान से रहित हैं। किन्तु इतने से बुद्ध-मन्तव्य निराकृत नहीं हो जाता, उसकी नागार्जुन, धर्मकीर्ति, दिङ्नाग आदि की (अश्वघोष और वसुबन्धु की नहीं—भूततथता और विज्ञानमात्रता की ओर शंकर के तर्क यहाँ लक्ष्य नहीं करते और न वे उन पर प्रयुक्त हो सकते हैं) की हुई निषेधात्मक अथवा अर्द्ध-निषेधात्मक व्याख्याएँ केवल निराकृत होती हैं। बुद्ध-मौन की निषेधात्मक व्याख्या कुछ बौद्ध आचार्यों ने की। इसका नतीजा यह हुआ कि वे अपने शास्ता के मन्तव्य से दूर निकल गए (सृष्टि के अन्तस्तल में जिस धर्मनियामता—सत्य की नियमवत्ता—को तथागत ने देखा था, उसकी वे ठीक व्याख्या न कर सके) और निरन्तर निषेधात्मक विरोधों में जाते हुए सिवाय पेचीदगियों के और किसी प्रकार बोधिपक्षीय धर्मों के शास्ता के मन्तव्यों की संगति ही न लगा सके। शंकर का काम बुद्ध का व्याख्याकार होना नहीं था और न 'सुगत' के प्रति श्रद्धा ही उन्होंने दिखाई है (आगे देखेंगे), किन्तु अनायास रूप से उन्होंने बौद्ध आचार्यों की विरुद्धार्थप्रतिपत्तियां दिखाकर बुद्ध-मन्तव्य को नवीन ढंग से व्याख्यात करने की एक दिशा अवश्य दिखाई है जिसको भी बुद्ध के मौन की व्याख्या करने में उतना ही अवकाश प्राप्त है जितना कि नागार्जुन आदि की निषेधात्मक दिशाओं को। जिस दिशा का प्रवर्तन अश्वघोष और वसुबन्धु ने किया, उसी का वेदान्तिक रूप हमें गौडपाद में दिखाई पड़ा। अश्वघोष ने हमें बताया कि शायद शास्ता ने 'भूततथता' कहा होगा, वसुबन्धु ने उसे 'विज्ञप्तिमात्रता' कहा, गौडपाद ने औपनिषद ज्ञान को समर्पित कर कहा कि सम्भवतः यह उन 'देशिक' का मन्तव्य रहा होगा किन्तु दूसरे ही क्षण ध्यान आया 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्'। कारिकाएँ बन्द कर दीं। अब दार्शनिक शंकर रंगमञ्च पर आते हैं। उन्हें अद्वैत मत की सिद्धि करनी इष्ट है और वैदिक मत की स्थापना। बुद्ध के मन्तव्य के जिस चीज़ होने की सम्भावना आचार्य गौडपाद हमें अभिज्ञतापूर्वक और समझ बूझकर देते हैं, आचार्य शंकर अनायास ही और सम्भवतः बिना अनुभव किए हुए ही (अन्यथा

'स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं' ऐसा क्यों कहते) हमें यह बतला देते हैं कि बुद्ध यदि वास्तव में परमार्थ ज्ञानी हैं, यदि वास्तव में कर्म की प्रतिष्ठा वे चाहते हैं, यदि पुनर्जन्म में उनका कुछ भी विश्वास है, यदि उनके द्वारा उपदिष्ट निर्वाण का कोई भी समझने योग्य अर्थ है, यदि उनके आर्य-मार्ग की कोई भी प्रतिष्ठा है, यदि जीवन की कोई भी महत्ता उनकी दृष्टि में है, किसी भी प्रकार की व्यवस्था में उनका विश्वास है (जो सब बातें उनमें हैं) तो यह नाम-रूपात्मक जगत् से अतीत और उसमें समाई हुई किसी सत्यता के बल पर ही हो सकता है, उसका निषेध करके नहीं। अतः हम अपने उद्देश्य के लिए कह सकते हैं कि शंकर ने एक प्रकार से बुद्ध के मन्तव्य की निषेधात्मक व्याख्याओं से परिशुद्धि ही की है और इस प्रकार उन्होंने बुद्ध के वास्तविक मन्तव्य को समझने के लिए अधिक प्रोत्साहन ही उत्पन्न किया है, अनुत्साह नहीं। प्रश्न यहां यह बिलकुल नहीं कि तो फिर क्या नागार्जुन आदि ने बुद्ध-मन्तव्य की गलत व्याख्याएँ ही की हैं? अपने मूल विषय से हम हट तो ही आए हैं, इसमें पड़कर तो और भी हटना होगा! इतना ही कह सकते हैं कि शंकर और नागार्जुन की प्रज्ञाएँ उन 'अनोमदर्शी' (बुद्ध) के चीवर के छोर को भी स्पर्श नहीं करतीं। सम्यक् सम्बुद्ध नागार्जुन और शंकर दोनों की पहुँच से बाहर हैं। हां, गौडपाद की ओर देखकर वे ज़रूर कह सकते हैं 'साधु गौडपाद! साधु गौडपाद'! (साधु सारिपुत्र! साधु सारिपुत्र! की तरह—सुत्तपिटक में अनेक बार प्रयुक्त। प्रधानतया देखिए संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०)। हम खोए हुए धागे को पकड़ते हैं।

हम अभी इस बात का निरूपण कर रहे थे सर्वास्तिवादियों के परमाणुवाद का खण्डन करते हुए आचार्य शंकर ने अनेक प्रभावशाली तर्क देकर इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि परमाणुओं का संघात, जो सभी भूत और भौतिक तथा चित्त और चैत्त सम्बन्धी सृष्टि के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है, उनके मान्य सिद्धान्तों के अनुसार नहीं बनता और वे एक विरुद्धार्थ-प्रतिपत्ति में जा पड़ते हैं। इसके लिए जितने तर्क आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में दिए हैं वे सब ऊपर उपस्थित कर दिए गये हैं। साथ ही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धान्त में भी क्या विरुद्धत्व भरा पड़ा है और परमाणुओं के संघात को सिद्ध करने की उसकी भी कितनी अशक्तता है, इसके विषय में भी शंकर के सभी प्रभावशाली तर्कों को ऊपर हम दे चुके हैं। हमने

शंकर और बौद्ध क्षणिकवाद

ऊपर देखा था कि 'प्रतीत्य समुत्पाद' से संघात की सर्वथा असिद्धि दिखाते समय भगवान् शंकर यह कह गए थे कि इससे अविद्यादि का एक दूसरे के प्रति 'निमित्तमात्र निमित्तत्व' (पहले व्याख्या कर चुके हैं) तो दिखाया भी जा सकता है। 'इतरेतरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेद् भवेतु नाम'। किन्तु यह उन्होंने अपने मत की अपेक्षा से कहा था। अब वे यह दिखाने को प्रवृत्त होते हैं कि स्वयं बौद्धों के मतानुसार तो इतना भी नहीं दिखाया जा सकता। निश्चय ही बौद्ध बड़ी विरुद्धप्रतिपत्तियों में जा फँसे हैं। बौद्ध मत सर्वथा असंगत है। 'असंगतं सौगतं मतम्'। किस प्रकार ? क्षणिकवादी या क्षणभंगवादी यह स्थापना करता है कि एक उत्तर क्षण के उत्पन्न होने पर पूर्व का क्षण निरुद्ध हो जाता है। जब ऐसा ही है तो पूर्व और उत्तर क्षणों में कारण-कार्य-भाव कैसे स्थापित किया जा सकता है ? 'न चैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर्हेतुफलभावः शक्यते सम्पादयितुम्'। जो एक निरुध्यमान (निरुद्ध होने वाला) अथवा निरुद्ध (अतीत) पूर्वक्षण है, वह तो अभाव को ही प्राप्त हो गया, तो फिर वह एक उत्तर क्षण का हेतु किस प्रकार हो सकता है ? 'निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वक्षणस्याभावग्रस्तत्वादुत्तर-क्षणहेतुत्वानुपपत्तेः'। यदि यह कहा जाय कि एक ऐसा पूर्व क्षण, जिसने भाव अर्थात् सत्ता का स्वरूप धारण कर लिया है और जिसने अपनी अवस्था को परिपूर्ण रूप से विकसित कर लिया है, एक उत्तर क्षण का कारण होता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसे क्षण के प्रति फिर व्यापार या प्रवृत्ति की कल्पना की जाय तो एक क्षण की दूसरे क्षण के साथ सम्बन्ध में आने की आपत्ति आ जायगी। 'अथ भावभूतः परिष्पन्नावस्थः पूर्वक्षण उत्तर-क्षणस्य हेतुरित्यभिप्रायस्तथापि नोपपद्यते। भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसम्बन्धप्रसंगात्'। यदि यह कहा जाय कि भाव ही इसका (पूर्वक्षण का) व्यापार होता है तब भी ठीक नहीं है क्योंकि कोई भी कार्य जो अपने कारण के स्वभाव से उपरक्त नहीं हुआ है, कभी स्थिति में ही नहीं आ सकता। 'अथ भाव एवास्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि नैवोपपद्यते। हेतुस्व भावानुप-रक्तस्य फलस्योत्पत्त्यसम्भवात्[1]'। और यदि कार्य का कारण से उपरक्त

---

(१) यहां शंकर की समालोचना के लिए भी और उनके समर्थन के लिए भी काफी मसाला मिल सकता है। यहां पर विचार यह है कि एक वस्तु किसी अन्य पूर्व वस्तु के कार्य स्वरूप उत्पन्न होती है और स्वयं किसी

होना ही माना जाय तब चूंकि कारण के स्वभाव का स्थायित्व कार्य की उत्पत्ति के क्षण तक मानना पड़ता है, अतः क्षणभंगवाद के ही उठा फेंक देने का प्रसंग उठ खड़ा होता है। 'स्वभावोपरागाभ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वे सति क्षणभंगाभ्युपगमत्यागप्रसंगः'। पुनः यदि यह माना जाय कि बिना ही कारण के स्वभाव से उपरक्त हुए कोई कार्य उत्पन्न हो सकता है, तो फिर किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकेगा क्योंकि कार्य का कारण के स्वभाव के साथ उपराग का अभाव तो सर्वत्र ही दृष्टिगोचर हो सकता है, अतः इस तरह अति प्रसंग का दोष आ जाता है 'विनैव वा स्वभावोपरागेण हेतुफलभावमभ्युपगच्छतः सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसंगः'। फिर

दूसरी वस्तु का कारण बन कर निरुद्ध हो जाती है। अब वस्तु का जो 'कार्य' स्वरूप होता है, उसमें 'कारण' उपरक्त हुआ रहता है, अतः वस्तु की तीन अवस्थाएँ होती हैं, अथवा यह कहना चाहिए कि उसकी सत्ता के तीन क्षण होते हैं (१) उसका कार्य के रूप में उत्पन्न होना (२) कारण के रूप में उसका उपरक्त होना (३) एक दूसरी वस्तु की उत्पत्ति की परम्परा को जन्म देकर स्वयं निरुद्ध हो जाना। यही है किसी वस्तु का तीन क्षण तक स्थायी रहना, उसका 'त्रिक्षण-स्थायित्व भाव'। अब वास्तव में बात यह है कि इस प्रकार का मत न्याय-वैशेषिक को मान्य है (देखिए पांचवें प्रकरण में न्याय-वैशेषिक का विवेचन) बौद्धों को नहीं (अन्यथा उनका क्षणिकवाद ही कहां ठहरता है ?)। अतः शंकर के विरोधी कह सकते हैं कि उन्होंने सर्वास्तिवाद पर उस सिद्धान्त का आरोप किया है, जिसे वे नहीं मानते। किन्तु सर्वथा बात ऐसी नहीं है। यह बात ठीक है कि क्षणिकवाद पर प्रतिष्ठित कोई भी बौद्ध सम्प्रदाय वस्तु के 'त्रिक्षण स्थायित्व' को नहीं मान सकता, किन्तु निश्चय ही ऐतिहासिक रूप से सर्वास्तिवादियों का एक ऐसा सम्प्रदाय अवश्य था जो इस प्रकार के सिद्धान्त को मानता था (देखिए चौथे प्रकरण में सर्वास्तिवादियों के काल सम्बन्धी विचार का विवेचन)। अतः शंकर का आधार वह मत हो सकता है। और फिर 'परिणामिनित्यत्व' को तो सर्वास्तिवादी मानते ही हैं। अतः इस दृष्टि से भी शंकर पर दोष नहीं लगाया जा सकता। विस्तृत विवेचन के लिए देखिये बेलवेलकर : ब्रह्मसूत्र, नोट्स पृष्ठ ७७-७८

किसी वस्तु की उत्पत्ति और निरोध में इतनी बातों में से एक अवश्य होनी चाहिए। या तो वह वस्तु का स्वरूप ही हो (वस्तुनः स्वरूपमेव) या एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाएँ हों (अवस्थान्तरं वा) अथवा उस वस्तु से विभिन्न ही कोई वस्तु हो (वस्त्वन्तरमेव वा)[१]। इन तीनों की ही भगवान् शंकर अनुपयुक्तता दिखाते हैं। यदि वस्तु का स्वरूप ही उत्पाद और निरोध हों, तब तो वस्तु शब्द और उत्पाद-और-निरोध शब्द पर्यायवाची होने चाहिए। किन्तु यदि यहां यह कहा जाय उपर्युक्त दोनों शब्दों में कुछ तो विभिन्नता है ही और उत्पाद और निरोध केवल एक ही वस्तु की दो अवस्थाओं को दिखाते हैं अर्थात् प्रारम्भिक और अन्तिम को, जिनके बीच का बिन्दु ही वास्तविक सत् वस्तु है, तब तो वह वस्तु तीन क्षणों के सम्बन्ध में आ गई अर्थात् प्रारम्भिक मध्यम और अन्तिम, तो फिर छोड़ो अपने क्षणभंगवाद को ! 'अथास्ति कश्चिद्विशेष इति मन्येतोत्पादनिरोधशब्दाभ्यां मध्यवर्तिनो वस्तुन आद्यन्ताख्ये-अवस्थे अभिलप्येते इति। एवमप्याद्यन्तमध्यक्षणत्रयसम्बन्धित्वाद्वस्तुनः क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिः'। पुनः यदि उत्पत्ति और निरोध, दो बिलकुल विभिन्न वस्तुएँ हों, जिस प्रकार कि घोड़ा और भैंस, तब तो वस्तु किसी भी प्रकार उत्पत्ति और निरोध के सम्बन्ध में ही नहीं आती, क्योंकि फिर तो इसे शाश्वत ही मानना पड़ेगा 'अथात्यन्तव्यतिरिक्तावेवोत्पादनिरोधौ वस्तुनः स्यातामश्वमहिषवत्, ततो वस्तु उत्पादनिरोधाभ्यामसंसृष्टमिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसंगः'[२]। अन्त में यदि यह कहा जाय कि किसी वस्तु की उत्पत्ति और निरोध का तात्पर्य केवल उसके दिखाई देने या न दिखाई देने से है, तब भी तो देखना या न देखना तो देखने वाले के ही धर्म हैं, वस्तु के तो नहीं, अतः फिर वही वस्तुओं के शाश्वतवाद का प्रश्न उठ खड़ा होता है। अतः इस प्रकार भी क्षणिकवाद पर प्रतिष्ठित सौगत मत असंगत ही ठहरता है। अतः क्षणभंगवाद में किसी भी प्रकार पूर्व-पूर्व क्षण निरुद्ध हो जाने पर वह उत्तरोत्तर क्षण का कारण बन ही नहीं सकता। 'क्षणभंगवादे पूर्वक्षणोनिरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवति'। पुनः

---

(१) देखिए चतुर्थ प्रकरण के उत्तर भाग में सर्वास्तिवादियों के तत्वज्ञान का विवेचन।

(२) इसी प्रकार के तर्क को समझ कर आचार्य नागार्जुन ने 'अनिरोधमनुत्पादम्' परम तत्त्व के सम्बन्ध में कहा था। देखिए, चतुर्थ प्रकरण में शून्यवाद का विवेचन, तथा इसी पांचवें प्रकरण में गौडपाद के दर्शन पर विवेचन भी।

यदि बौद्ध यह कहें कि विना ही कारण के फल की उत्पत्ति हो जाती है, तो भी गलत है, क्योंकि इस प्रकार उन की स्वयं की प्रतिज्ञा ही टूटती है। 'प्रतिज्ञोपरोधः स्यात्'। किस प्रकार? बौद्ध लोग मानते हैं कि चार ही हेतुओं[1] के प्रत्यय से चित्त और चैत्त उत्पन्न होते हैं। अब यदि उनके नये सिद्धान्त से विना हेतु के ही फल की उत्पत्ति होने लगे, तब तो चाहे जो कोई चीज़ चाहे किसी भी चीज़ को उत्पन्न कर देगी, क्योंकि वहां कोई प्रतिबन्ध तो है ही नहीं। 'निर्हेतुकायां चोत्पत्तावप्रतिबन्धात् सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत'। पुनः यदि यह कहा जाय कि पूर्व क्षण तब तक ठहरता है जब तक कि उत्तर क्षण उत्पन्न न हो जाय, तब भी तो हेतु और फल का साथ-साथ होना ही सिद्ध हो जाता है जो भी क्षणिकवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ता है, अर्थात् सभी 'संस्कार' क्षणिक हैं', यह प्रतिज्ञा कटती है। 'क्षणिका' सर्वे संस्कारा इतीयं प्रतिज्ञोपरुध्येत'। किन्तु क्षणिकवाद के इतने प्रत्याख्यान से ही आचार्य सन्तुष्ट नहीं हो जाते और न वे सर्वास्तिवादियों तक ही अपनी सीमा रखते हैं। उनके लिए सब बौद्ध समान हैं, अर्थात् सभी वैनाशिक हैं, केवल स्तरों का विभेद है। हम जानते हैं कि क्षणभंगवाद प्राय सभी उत्तर कालीन बौद्ध आचार्यों का समान सिद्धान्त है, यद्यपि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे 'स्वातंत्रिक' विज्ञानवादियों ने इसका विशेष रूप से प्रख्यापन किया है। शंकर के इन प्रत्याख्यानों को हम असंगत नहीं कह सकते, किन्तु जब वे 'वैनाशिकों' के नाम से, किन्तु सर्वास्तित्ववादियों के प्रसंग में, 'क्षणिकवाद' का खण्डन करते हैं, तो इससे हमें यही जान पड़ता है कि आचार्य को बौद्ध सम्प्रदायों का ठीक ज्ञान नहीं था। वैनाशिक (सर्वास्तिवादी) कहते हैं कि प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्या निरोध तथा आकाश[2] को छोड़कर शेष धर्म संस्कृत हैं[3], क्षणिक हैं और बुद्धि के द्वारा बोध्य हैं। उपर्युक्त तीन असंस्कृत धर्मों (अर्थात् प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्या निरोध तथा आकाश) के विषय में सर्वास्तिवादी कहते हैं कि ये पदार्थ 'अवस्तु' हैं,

---

(१) यथा आलम्बन प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, तथा सहकारि प्रत्यय।

(२) ये तीन सर्वास्तिवादियों के 'असंस्कृत' अथवा 'अनास्रव' धर्म कहलाते हैं। देखिए चतुर्थ प्रकरण के उत्तरार्द्ध में सर्वास्तिवादी-दर्शन का विवेचन।

(३) जो संख्या में ७२ हैं। देखिए चतुर्थ प्रकरण में सर्वास्तिवादियों के दर्शन का विवेचन।

'अभाव स्वरूप' हैं तथा 'निरुपाख्य' है[१]। भगवान् शंकर सूत्रकार का अनुगमन करते हुए प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध तथा आकाश सम्बन्धी सर्वास्तिवादियों के सिद्धान्तों के खण्डन में प्रवृत्त होते हैं। उनका कहना है कि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध सम्भव नहीं हैं। किन्तु इससे पहले हम आचार्य की प्रतिसंख्यानिरोध' और 'अप्रतिसंख्यानिरोध' की परिभाषाओं को देख लें। उनके अनुसार सर्वास्तिवादियों का कथन है कि बुद्धि की निश्चित क्रिया के पूर्व के पदार्थों का विनाश 'प्रतिसंख्यानिरोध' कहलाता है 'बुद्धिपूर्वकः किल विनाशो भावानां प्रतिसंख्यानिरोधो नाम भाष्यते' और उसके विपरीत 'अप्रतिसंख्यानिरोध' 'तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोधः'। शंकर कहते हैं कि 'प्रतिसंख्यानिरोध' और 'अप्रतिसंख्यानिरोध' का बनना ही असम्भव है। क्यों? 'अविच्छेदात्'। अर्थात् इस तरह---ये दोनों निरोध या तो क्षणिक चित्त-धारा से सम्बन्धित होने चाहिए या फिर किसी एक भाव से 'एतौ हि प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधौ सन्तानगोचरौ वा स्यातां भावगोचरौ वा।' अब शंकर का तर्क यह है कि उपर्युक्त दोनों 'निरोध' 'सन्तानगोचर'[२] नहीं हो सकते अर्थात् विज्ञान या चित्त की सतत परिवर्तनशील धारा में उनका अधिवास नहीं हो सकता। विज्ञान-सन्तति में तो निरन्तर ही हेतु और प्रत्यय के रूप में उस विज्ञान-सन्तति के विभिन्न अंग अविच्छिन्न रूप से चला करते हैं, फिर विज्ञान-सन्तति का एकदम स्थिर होकर ठहर जाना किस प्रकार सम्भव है? 'सर्वेष्वपि सन्तानेषु सन्तानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन सन्तानविच्छेदस्यासम्भवात्'। फिर यदि यह कहा जाय कि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध दोनों ही विज्ञानसन्तति के अंग स्वरूप भावों में रहते हैं, तो उनका भावगोचर होना भी तो हम सम्भव नहीं मान सकते। क्यों? इसलिए कि यह कभी नहीं

---

(१) यहां शंकर के 'अभावस्वरूप' पर आपत्ति की जा सकती है, सर्वास्तिवादी दृष्टि से, किन्तु उसे वे 'वैनाशिक' का बाना पहले ही पहना चुके हैं, जो उचित नहीं है। फिर 'अभाव स्वरूप' के साथ-ही-साथ 'निरुपाख्य' शब्द भी चिन्त्य है, सर्वास्तिवाद के दृष्टिकोण से। 'रूप' के साथ सम्बन्ध मिलाने के लिए यामाकामी सोजन ने 'नीरूपाख्य' पढ़ने का प्रस्ताव किया है जिसके युक्तियुक्त खण्डन के लिए देखिए बेलवलकर: ब्रह्मसूत्र नोट्स, पृष्ठ ८१

(२) सन्तानो नाम भावानां हेतुफलभावेन प्रवाहः। रत्नप्रभा।

माना जा सकता कि किसी भी अवस्था में 'भाव' रूप पदार्थ विनाश के द्वारा अभिभूत कर दिये जायँ और वे अपना कोई निशान तक भी बाकी न छोड़ें, क्योंकि सभी अवस्थाओं में यह देखा गया है कि जो एक 'सत्' वस्तु है, वह अपने अन्वयि-स्वरूप गुणों को बिना किसी रुकावट के रखती ही है, और ऐसा हम प्रत्यभिज्ञान के बल पर कह सकते हैं 'न हि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः सम्भवति सर्वास्विप्यवस्थासु प्रत्यभिज्ञानबलेनान्वय्यविच्छेद-दर्शनात्'। फिर यदि कुछ थोड़ी सी अवस्थाओं में यह प्रत्यभिज्ञान ठीक तरह से स्पष्ट न भी हो तब भी हमें अनुमान के आधार पर यह मानना ही पड़ेगा कि यहां भी अन्वयि-धर्मों के विच्छेद की अनुपस्थिति ही है 'अस्पष्टप्रत्यभि-ज्ञानास्वप्यवस्थासु क्वचिद्दृष्टेनान्वय्यविच्छेदेनान्यत्रापि तदनुमानात्'। अतः प्रतिपक्षी बौद्धों के द्वारा परिकल्पित दोनों निरोधों की उपपत्ति नहीं बनती। 'तस्मात् परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्यानुपपत्तिः'। निश्चय ही शंकर को बौद्धों का क्षणभंगवाद एक ऐसा सिद्धान्त मिल गया है जिसके द्वारा वे बौद्धों के अन्य सभी सिद्धान्तों को उखाड़ फेंकते हैं। अभी वे क्षणिकवाद के विषय को छोड़ेंगे नहीं। अविद्या आदि का निरोध भी क्षणभंगवाद को स्वीकार कर सम्भव नहीं है और यदि स्वीकार करें तो भगवान् शंकर कहते हैं कि दोनों ही प्रकार से दोष आ जायगा 'उभयथा च दोषात्' (ब्रह्मसूत्र० २।२।३)। किस प्रकार? बौद्ध कहते हैं कि अविद्या आदि का निरोध प्रतिसंख्या निरोध में ही सम्मिलित है, किन्तु शंकर कहते हैं कि वह अविद्यादि निरोध दो ही हालतों में प्रवर्तित हो सकता है, या तो वह सम्यक् ज्ञान से उत्पन्न हो जिसमें यमनियमादि परिकरों की भावना भी संनिहित है अथवा फिर वह स्वतः ही उत्पन्न हो जाय। इन दो को छोड़ और कोई हालत नहीं है। इनमें से यदि पहली हालत को हम मानें तो शंकर कहते हैं कि 'निर्हेतुक विनाशाभ्युपगम' सिद्धान्त, जो बौद्धों को मान्य है (शंकर के अनुसार!), वही असिद्ध होता है 'निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमहानिप्रसंगः'। यहां पर यह 'निर्हेतुकविनाशाभ्युपगम' सर्वास्तिवादियों के किस सिद्धान्त का सूचक है, यह ठीक समझ में नहीं आता। कदाचित् इससे यह मालूम पड़ता है कि शंकर अपने प्रतिपक्षियों पर इस सिद्धान्त का आक्षेप करना चाहते हैं कि वस्तुएँ 'निर्हेतुक' अर्थात् बिना किसी कारण के विनाश को प्राप्त होती हैं। हम जानते हैं कि सर्वास्तिवादियों का या बौद्ध धर्म के अन्य किसी सम्प्रदाय का ऐसा अभिप्राय कभी नहीं रहा है। अतः यही कहना पड़ेगा कि शंकर ने सर्वास्तिवादियों की

दृष्टि को उसके मूल रूप में नहीं समझा है। हम पहले कह चुके हैं कि शंकर ने सर्वास्तिवादियों को 'वैनाशिक' कह कर उनको भी शून्यवाद से उपरक्त करना चाहा है और इसी का परिणाम यह हुआ है कि 'निर्हेतुक विनाश' का प्रसंग उन्होंने सर्वास्तिवादियों के भी मत्थे मढ़ दिया है। माध्यमिकों के 'मायया निर्मितं यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम्। आयाति तत् कुतः कुत्र याति चेति निरूप्यताम्' तथा 'सतीदस्मिन् भवतीत्येतन्नैवोपपद्यते' जैसे विचारों में शंकर के 'निर्हेतुक विनाश' को कुछ अवकाश मिल सकता है, किन्तु फिर जब माध्यमिक भी 'न स्वतो नापि परतः न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः'। कहते हुए निर्वचनीयता के ही आकाशकल्प वायुमण्डल में विहार करने लगते हैं तब तो 'निर्हेतुक विनाश' का आक्षेप उन पर भी करना अन्याय ही होगा, सर्वास्तिवादियों की तो बात ही क्या! सर्वास्तिवादियों ने तो प्रतीत्य समुत्पाद को उसके भावात्मक रूप में ही स्वीकार किया है (अन्यथा वे सर्वास्तित्ववादी ही किस बात के हैं, कम-से-कम उनके नाम के प्रति तो अन्याय नहीं होना चाहिए) और हेतु-प्रत्ययों से वे वस्तुओं को उत्पन्न और निरुद्ध मानते हैं और इसीलिए मानते हैं उन्हें क्षणिक भी। 'निर्हेतुक विनाश' तो वे कभी मान नहीं सकते क्योंकि क्षणभंगवाद का अर्थ यही है कि प्रत्येक पूर्व-पूर्व क्षण एक उतरोतर क्षण का कारण होता जाता है और उसके उत्पन्न होने पर स्वयं निरुद्ध होता जाता है, अतः यह हेतु-प्रत्यय पर आश्रित प्रवाह 'निर्हेतुक विनाश' नहीं कहा जा सकता। अतः किसी भी प्रकार देखें (यहां तक कि सर्वास्तिवाद को 'वैनाशिक' मत से उपरक्त करके भी हम देखें, जैसा कि ऐतिहासिक या तात्त्विक किसी रूप से हमें नहीं करना चाहिए, किन्तु जैसा कि शंकर ने किया है) 'निर्हेतुक विनाश' के सिद्धान्त का आक्षेप तो सामान्यता बौद्ध दर्शन पर और विशेषतया 'सर्वास्तिवाद' पर किसी भी प्रकार किया ही नहीं जा सकता, ऐसा हमारा विनम्र अभिप्राय है। और चाहे जिन बातों में उत्तरकालीन बौद्ध आचार्य अपने शास्ता से दूर चले गये हों (और वे बहुत बातों में दूर गए हैं) किन्तु एक बात का तो उन सब ने ही ध्यान रक्खा है। 'ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह। तेसं च यो निरोधो। एवं वादी महासमणो'। बुद्ध-शासन की इस आधारभूत मान्यता का सब ने अनुगमन किया है। इसीलिए तो सबका अपलाप करने वाले भदन्त नागार्जुन को भी 'नाप्यहेतुतः' (अ-हेतु से नहीं) कहना पड़ा। (अन्यथा वे अपनी कारिकाओं में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के शास्ता की वन्दना न कर किसी 'अधिच्च समुप्पाद' के

आचार्य की वन्दना करने वाले होते !) । तो फिर विवश होकर यही कहना पड़ता है कि आचार्य शंकर ने यहां सर्वास्तिवाद के मूल सिद्धान्त को नहीं समझा है और उसे एक ऐसा गलत रूप प्रदान किया है जो उसका नहीं है । जापानी बौद्ध विद्वान् यामाकामी सोजन ने यहां शंकर को एक गम्भीर गलत प्रस्तुतीकरण का अपराधी बताया है । ये कड़े शब्द हैं[१] । आचार्य श्रीपाद कृष्ण बेलवलकर ने यह कह कर कि सम्भवतः शंकर अपने मस्तिष्क में किसी अज्ञात बौद्ध सिद्धान्त को रखकर ऐसा कहने में प्रवृत्त हुए हैं[२], शंकर की स्थिति को सुधारने अथवा बिगाड़ने का प्रयत्न किया है जो हमारी समझ में उनका श्रद्धामात्र विजृम्भण ही है, जिसके अनुगामी हम नहीं बन सकते । हमारी दृष्टि तो इसी में अच्छी तरह प्रकटित होती है कि 'सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन' । स्वयं भगवान् शंकर भी इसे अश्रद्धा का प्रकाशन नहीं समझेंगे, ऐसा हमें विश्वास है । स्वयं 'सर्वज्ञ' महामुनि कपिल के विषय में शंकर ने कहा था कि उनकी सिद्धि सापेक्ष थी[३] । शंकर का ज्ञान भी सापेक्ष था । उसमें गलती हो जाना सम्भव था और ऐसा ही हुआ भी है । अस्तु, हम आगे बढ़ते हैं । दूसरा कारण, जिससे अविद्यादि के निरोध की सम्भवता असिद्ध हो जाती है शंकर के मतानुसार यह है कि यदि सम्यक् ज्ञान को स्वतः उत्पन्न हुआ मानें तो मोक्ष-मार्ग के उपदेश की ही व्यर्थता उपपादित हो जाती है 'उत्तरस्मिंस्तु मार्गोपदेशानर्थक्यप्रसंगः'[४] । इसलिए इन दोनों ही प्रकार

---

(१) 'शंकर is here guilty of a grave misrepresentation' सोजन : 'सिस्टम्स् आव बुद्धिस्टिक थाट', पृष्ठ १६८

(२) "We rather think that शंकराचार्य is thinking of some Buddhistic doctrine whichs holds that निर्वाण or cessation of क्लेश is something which every one is going to achieve one day or the other." ब्रह्मसूत्र, नोट्स, पृष्ठ ८४

(३) देखिए ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१ 'शक्यं कपिलादीनां सिद्धानामप्रतिहत-ज्ञानत्वादिति चेत् ? न । सिद्धेरपि सापेक्षत्वात् ' ।

(४) आश्चर्य है कि आत्मसाक्षात्कार-स्वरूप मोक्ष को स्वयं 'अनुत्पाद्य', 'अविकार्य', 'अप्राप्य', 'असंस्कार्य' मानने वाले (ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।४) और निश्चय ही ऐसा होने पर भी साधन-सम्पद् का उसके साथ कोई विरोध

से इस दर्शन की असमञ्जसता सिद्ध होती है 'एवमुभयथापि दोषप्रसंगादसमञ्जसमिदं दर्शनम्'। अब सर्वास्तिवादियों के तृतीय असंस्कृत धर्म 'आकाश' पर आते हैं। आकाश है सभी दिशाओं में आवरण का अभाव मात्र 'आवरणाभावमात्रमाकाशमिति'[1]। यह स्थापना कि आकाश 'निरुपाख्य' अर्थात् अवस्तु स्वरूप है, ठीक नहीं 'आकाशे चायुक्तो निरुपाख्यत्वाभ्युपगमः'॥ कारण कि जिस प्रकार 'प्रतिसंख्यानिरोध' एवं 'अप्रतिसंख्यानिरोध' में उसी प्रकार आकाश में भी समान रूप से 'वस्तुत्व प्रतीति' होती है 'प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरिव वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषात्'। शंकर के लिए इतना ही कहना काफी था, किन्तु श्रुति-प्रामाण्य देने के लोभ का वह यहां संवरण नहीं कर सके हैं।

न देखने वाले शंकर भी किस प्रकार बौद्ध निर्वाण के भी उसी प्रकार के स्वरूप प्राप्त होने पर उसमें 'मार्गोपदेशानर्थक्य' के देखने वाले हुए! ऐसा करके तो वे निश्चय ही राजा मिलिन्द के द्वारा रक्खे हुए उस पूर्वपक्ष को ही अपने पूर्ण रूप में रखने में समर्थ हुए हैं, जिसकी अभिज्ञता नागसेन जैसे प्राचीन स्थविरवाद-परम्परा के आचार्य तक को थी। अविरुद्ध होने पर भी विरुद्धत्व क्यों कल्पित किया जाता है, हे महावेदान्तिन्! देखिए भदन्त नागसेन आपसे ७०० वर्ष पूर्व आपके ही मन्तव्य को स्पष्ट करते हैं 'निब्बानं महाराज अकम्मजं अहेतुजं अनुतुजं।......मा भन्ते नागसेन जिनवचनं मक्खेहि, मा अजानित्वा पञ्हं व्याकरोहीति।.....। अनेक सतेहि पन भन्ते नागसेन कारणेहि भगवता सावकानं निब्बानस्स सच्छिकिरियाय मग्गो अक्खातो। अथ च पन त्वं एवं वदेसि अहेतुजं निब्बानं ति।........एवमेव खो महाराज सक्का निब्बानस्स सच्छिकिरियाय मग्गो अक्खातुं न सक्का निब्बानस्य उप्पादाय हेतु दस्सेतुं.... असंखतं निब्बानं, न केहिचि कतं। निब्बानं महाराज न वत्तब्बं उप्पन्नं ति वा अनुप्पनं ति वा, उप्पादनियं ति वा, अतीतं ति वा, अनागतं ति वा, पच्चुप्पनं ति वा, चक्खुविञ्ञेय्यं ति वा, सोतविञ्ञेय्यं ति वा.... काय-विञ्ञेय्यं ति वा।' मिलिन्द पञ्हो, मेण्डक पञ्हो, पृष्ठ २६४-२६५--(बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण); एक अन्य दृष्टि से बौद्ध परिस्थिति के समर्थन के लिए देखिए सोजन: 'सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट', पृष्ठ १६८

(१) मिलाइये, तत्राकाशमनावृत्तिः। अभिधर्म कोश १.५

बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान के प्रसंग में यह प्रथम ही अवसर है जब कि शंकर ने श्रुति को उद्धृत किया है और इसके बाद उन्होंने एक बार भी श्रुति का उद्धरण नहीं किया, जब तक कि बौद्ध दर्शन का प्रत्याख्यान समाप्त न कर दिया। यह मौन सुप्रयुक्त ही है। 'आकाश' के विषय में तो वह यह कहना नहीं भूले हैं कि 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' (आत्मन आकाशः सम्भूतः। (तैत्तिरीय २।१) अतः आकाश का वस्तुत्व प्रसिद्ध है। किन्तु आत्मा के 'वस्तुत्व' में क्या प्रमाण ? जिस श्रुति का उद्धरण करते हो, उसका क्या प्रमाण ? हे वेदान्तिन् ! यह तो तुम्हारा सब ज्ञान 'श्रद्धावन्तों' में ही शोभा देता है 'श्रद्दधानेषु शोभते'। 'वयं तु युक्ति प्रार्थयामहे'। हम तो युक्ति की ही आपसे प्रार्थना करते हैं और उसी की आप से आशा रखते हैं"। ऐसा यदि कोई बौद्ध तार्किक (जो सम्भवतः शंकर के लिए 'कुतार्किक' ही होगा) शंकर से कह बैठे, तो शंकर उसकी सम्भावना भी बड़ी अच्छी तरह पहले से ही समझ लेते हैं और प्रतिवादिभयंकर निर्मम 'युक्तिशरण' का रूप धारण कर कहते हैं 'विप्रतिपन्नान् प्रति तु शब्दगुणानुमेयत्वं वक्तव्यं, गन्धादीनां गुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात्' अर्थात् श्रुति-प्रामाण्य में जिनकी श्रद्धा नहीं है, उनको जानना चाहिए कि जिस प्रकार गन्धादि गुणों की स्थिति और आश्रयत्व पृथिवी आदि वस्तुसत् पदार्थों में ही देखा जाता है, उसी प्रकार हम अनुमान कर सकते हैं कि शब्दगुण का आश्रय रूप आकाश भी वस्तुसत् ही होना चाहिए। फिर आचार्य शंकर का तर्क यह है कि सर्वास्तिवादियों के मतानुसार आकाश 'आवरणाभाव मात्र' है, किन्तु यदि एक आवरण हमें कोई उपलब्ध हो जाय जैसा कि घटाकाश आदि में वह उपलब्ध होता है, तो हमें आकाश में विभाग मानने पड़ते हैं और विभाग एक वस्तुस्वरूप पदार्थ में ही सम्भव हैं, अतः आकाश वस्तु स्वरूप है। इसको यों समझना चाहिए कि जैसे मान लें किसी कमरे में घड़े का अभाव है तो यदि कोई वहां एक घड़ा ले आए तो उस कमरे में घटाभाव दूर होता है। इस प्रकार जिस किसी वस्तु का अभाव है, उसको यदि कहीं से ले आया जाय, तो स्वभावतः ही उसका अभाव समाप्त होता है। अब आकाश आवरण का अभाव है, यदि आवरण को कोई कहीं से ले आवे तो निश्चय ही आकाश का भी अभाव होता है। अब मान लें किसी कमरे में अब तक घट नहीं था, किन्तु अभी कोई वहां घट ले आवे तो घटाभाव उस कमरे से दूर होता है, किन्तु सर्वत्र ही दूर नहीं होता। ऐसा क्यों ? इसीलिए कि आकाश भागों में विभाज्य है। भागों में विभाजित कोई वस्तुस्वरूप पदार्थ ही हो

सकता है, अभाव स्वरूप नहीं । शंकर ने एक चिड़िया का उदाहरण दिया है । एक चिड़िया उड़ती है । वह आकाश में उड़ती हुई चली जाती है । आकाश में जब वह उड़ती है तो कुछ तो आवरण वह करती ही है । किन्तु तुम कहते हो कि आकाश आवरण का अभाव है और यह चिड़िया करती है आवरण की उपस्थिति । तो यदि एक दूसरी चिड़िया आकाश में उड़ना चाहे तो उसे कहां उड़ाओगे, जब तक कि यह न मानो कि अभावों में भी उनके अनुयोगों के अनुसार विभेद होता है अर्थात् एक बृहत्तर आकाश में, जो अनावृत है, यदि एक दिशा भी आवृत हो जाती है तो उससे वह सारा आकाश ही आवृत नहीं हो जाता (जैसा कि उसके 'आवरणाभाव मात्र' होने पर उसे मानना पड़ेगा) किन्तु उसमें अभावों की भी सीमाओं और विस्तारों (अनुयोगों) के अनुसार विभागीकरण मानने पड़ते हैं (तभी तो एक दूसरी चिड़िया का उड़ना सम्भव हो सकता है) और जहां अभावों के भी विभेद की बात है, वहां तो वस्तुभूत ही आकाश को मानना पड़ेगा । नहीं जानते कि कहां तक शंकर के सूक्ष्म तर्क को समझाने में हम समर्थ हुए हैं । मूल से ही कठिनता का पता लगा सकते हैं 'अपि चावरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतामेकस्मिन्सुपर्णे पतत्यावरणस्य विद्यमानत्वात् सुपर्णान्तरस्योत्पित्सतोऽनकाशत्वप्रसंगः । यत्रावरणाभावः तत्र पतिष्यतीति चेत् । येनावरणाभावो विशेष्यते तर्त्तहि वस्तुभूतमेवाकाशं स्यात् नावरणाभावमात्रम्' । फिर शंकर स्वयं बौद्धों के क्षेत्र में ही घुसकर उन्हें स्मरण कराते हैं कि वे अपनी तर्कपरम्पराओं में अपने ही शास्ता के मार्ग से कितने पथभ्रष्ट होगयेहैं । स्वयं उनके धार्मिक ग्रन्थ में (द्रष्टव्य अभिधर्म कोश व्याख्या, पृष्ठ १६) वायु को आकाश पर प्रतिष्ठित बताया गया है[१] । यदि आकाश को वहां वस्तुभूत ही नहीं माना गया होता तो ऐसी कोई बात कैसे कही जा सकती थी ? 'तदाकाशस्यावस्तुत्वे न समञ्जसं स्यात्' । अतः आकाश अवस्तु है, ऐसा कहना ठीक नहीं । 'तस्मादप्युक्तमाकाशस्यावस्तुत्वम्' । पुनः यदि सब से अन्त में यह कहा जाय कि उपर्युक्त तीनों 'असंस्कृत धर्म'

---

(१) शंकर का यह कहना न केवल सर्वास्तिवाद-परम्परा के लिए ही किन्तु स्थविरवाद-परम्परा के लिए भी ठीक है, मिलाइए 'भन्ते नागसेन तुम्हे भणथ––अयं महापठवी उदके पतिट्ठिता, उदकं वाते पतिट्ठितं, वातो आकासे पतिट्ठितोति ।' मिलिन्द पञ्हो, विमतिच्छेदनपञ्हो, पृष्ठ ७१ (बम्बई यूनीवर्सिटी का संस्करण)

निरुपाख्य', 'अवस्तु' और नित्य हैं तो यह कथन भी विप्रतिषिद्ध है। कहीं 'अवस्तु' का भी नित्यत्व या अनित्यत्व हुआ करता है ? सब धर्म-धर्मी अर्थात् गुणों और द्रव्यों का व्यवहार 'वस्तुभूत' पदार्थ के ही आश्रय रह सकता है, अवस्तुभूत के नहीं। अतः जब एक बार हमने धर्म और धर्मी के सम्बन्ध को मान लिया, तो घटादि के समान आकाश को भी वस्तुभूत ही मानना होगा', 'निरुपाख्य' नहीं। 'धर्म-धर्मिभावे हि घटादिवद्वस्तुत्वमेव स्यान्न निरुपाख्यत्वम्'। इस प्रकार बाह्य जगत् की अपेक्षा में अर्थात् 'संस्कृत धर्म' और 'असंस्कृत धर्म' दोनों के ही विवेचन को लेकर भगवान् शंकर ने बौद्ध क्षणिकवाद की असमञ्जसता दिखाई है। अब वे आन्तरिक जगत् में इस की असमञ्जसता और दिखाकर बड़ी देर में इस सिद्धान्त से बिदाई लेते हैं। 'अनुस्मृति' के कारण क्षणिकवाद एक असमञ्जस दर्शन है, इतना तो ब्रह्मसूत्रकार भी कहते हैं 'अनुस्मृतेश्च' (२।२।२५)। किन्तु इसकी अनुपम व्याख्या उपस्थित करना शंकर का ही काम है। भगवान् शंकर कहते हैं कि क्षणभंगवाद के मानने वाले को स्वभावतः ही द्रष्टा की भी क्षणिकता माननी पड़ती है, जो कभी सम्भव नहीं हो सकती। यदि एक स्थिर द्रष्टा की स्थिति हम नहीं मानें जिसको कि पूर्व और उत्तर के अनुभव होते हैं तो इस प्रकार का अनुभव कि 'मैंने इसे देखा है, मैं अब इसे देखता हूँ' कभी नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणिक होने से द्रष्टा तो पहले ही बदल गया। यदि क्षणिकत्व के कारण द्रष्टा में भी परिवर्तन आया होता तब तो इस प्रकार का अनुभव होना चाहिए था 'मैं केवल स्मरण करता हूँ किन्तु जिसने इसे अनुभव किया था वह तो दूसरा ही है'। किन्तु इस प्रकार का अनुभव किसी को नहीं होता। अतः यदि अनुस्मृति की कोई युक्तियुक्त व्याख्या करनी है और मानवीय अनुभूति के विरुद्ध नहीं चले जाना है तो क्षणिकवाद के सिद्धान्त को आन्तरिक जीवन में हम लागू हुआ नहीं देखते। अतः दर्शन और स्मरण के क्षणों में यदि एक ही द्रष्टा का उनसे सम्बन्ध में आना है तब तो यह अनिवार्य है कि वैनाशिक अपने क्षणिकवाद को छोड़ दे 'तत्रैवं सत्येकस्य दर्शनस्मरणलक्षणक्षणद्वयसम्बन्धे क्षणिकताभ्युगमहानिरपरिहार्या वैनाशिकस्य स्यात्'। बाह्य वस्तु के सम्बन्ध में में तो इस प्रकार का सन्देह कोई कर भी सके कि क्या यह वही है अथवा उसके सदृश है, किन्तु द्रष्टा के सम्बन्ध में तो ऐसा कभी सन्देह का लेशमात्र भी नहीं हो सकता कि क्या मैं वही हूँ या उसके सदृश, क्योंकि निश्चित रूप से हमें यह अनुभव होता है कि वही

मैं जिसने कि कल देखा था, वही मैं आज स्मरण कर रहा हूँ।'भवेदपि कदाचिद् बाह्यवस्तुनि विप्रलम्भसम्भवात्तदेवेदं स्यात्तत्सदृशं वेति सन्देहः। उपलब्धरितु सन्देहोऽपि न कदाचिद् भवति स एवाहं स्यां तत्सदृशो वेति। य एवाहं पुर्वेद्युरद्राक्षं स एवाहमद्य स्मरामीति निश्चिततद्भावोपलम्भात्'। यह शंकर का इस विषय में एक प्रधान तर्क है और इसी के आधार पर उन्होंने 'वैनाशिक समय' की इस विषयक अनुपयुक्तता दिखाई है। 'तस्माद्प्यनुपपन्नो वैनाशिकसमयः'। इस सूत्र (अनुस्मृतेश्च २।२।२५) में भगवान् शंकर ने 'स्मृति' के सवाल को लेकर ही क्षणिकवाद की अनुपयुक्तता दिखाई है, किन्तु अपने भाष्य के प्रारम्भ में वे कुछ ऐसे शब्द कह गए हैं जिनके कारण उन्होंने अपनी स्थिति बड़ी खराब कर ली है। उपर्युक्त सूत्र पर भाष्य करते हुए प्रथम ही शंकर ने कहा है 'अपि च वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्' अर्थात् 'वैनाशिक सभी वस्तु की क्षणिकता का अभ्युपगम करता है।' हम जानते हैं कि सर्वास्तिवादियों पर और कोई आरोप भले ही लगाया जा सके, किन्तु यह सिद्धान्त उनके मत्थे मँढ़ना कभी न्याय्य नहीं है कि सम्पूर्ण वस्तु की क्षणिकता का उपपादन वे करते हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि शंकर ने सर्वास्तिवाद को वैनाशिक मत से उपरक्त करके देखा है, अतः उन्होंने उसे उसके ठीक रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। मध्व तो इसी कठिनाई से सम्भवतः तंग भी दीखते हैं और यह आश्चर्य और आश्वासन का विषय है कि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में वे ही अकेले इस सूत्र तथा इसके आगे वाले सूत्र ('नासतोऽदृष्टत्वात्') को शून्यवादियों के प्रति प्रयुक्त किया मानते हैं। यह हमारी विचार-प्रणाली के अनुकूल सिद्धान्त है, किन्तु कठिनता यहां भी हल नहीं होती। आचार्य शंकर ने पहले ही प्रतिज्ञा की है कि वे सौगत मत के तीन वादियों का क्रमशः प्रत्याख्यान करेंगे, अतः सर्वास्तित्ववादियों को बिना समाप्त किए और विज्ञानवादियों पर पहुँचने से पहले ही वे शून्यवाद को किस प्रकार ले सकते हैं। वास्तव में जो बात हुई है वह यह है कि शंकर ने सभी बौद्ध सम्प्रदायों को वैनाशिक ही समझा है और यही उनकी गलती है, ऐतिहासिक रूप से भी और तात्विक रूप से भी, ऐसा हम कह सकते हैं। सर्वास्तिवादियों के दर्शन का हम चतुर्थ प्रकरण के उत्तरार्द्ध में निर्देश कर आए हैं और इस बात पर वहां जोर दिया है (उस दर्शन की मान्यता के अनुसार ही) कि वस्तुओं को क्षणिकता देने के नहीं, किन्तु केवल उनकी अवस्थाओं

को ही वे क्षणिक बताने के पक्षपाती हैं। इस विषय में उनके विभिन्न आचार्यों के मत हमने 'अभिधर्म कोश' के अनुसार वहां उद्धृत किए हैं। निश्चय ही सर्वास्तिवादियों ने तो भगवान् बुद्ध के वचनों के उदाहरण देकर इस बात की स्थापना की है कि वस्तुओं के तीन मार्ग (अध्वानः) होने ही चाहिए, अर्थात्, अतीत, वर्तमान और अनागत[१]। इसमें सन्देह नहीं कि वे भी अन्य बौद्ध दार्शनिकों की तरह क्षणिकवादी हैं, किन्तु उनके क्षणिकवाद का केवल तात्पर्य यही है कि कारण कभी विनष्ट नहीं होता किन्तु केवल अपना नाम परिवर्तित करदेता है जब वह कार्य रूप में परिणत होता है और अवस्थान्तर होने से एक परिवर्तित स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। मिट्टी अपनी अवस्था को छोड़कर घड़ा बन जाती है और इस अवस्था में केवल 'नाम' मिट्टी 'नाम' घड़ा हो जाता है, मिट्टी का तो क्षणिकत्व उपपन्न नहीं होता[२]। जापानी पंडित यामाकामी सोजन का कथन है कि शंकर ने जिस सिद्धान्त को उन पर आरोपित किया है वह उन्हें (सर्वास्तिवादियों को) मालूम था और उस से उन्होंने पहले ही अपने दर्शन की रक्षा कर ली थी। यह सम्भव हो सकता हैकि शंकर की सूचना का स्रोत एक ऐसा सर्वास्तिवादियों का सम्प्रदाय रहा हो (जिसको सर्वास्तिवादियों ने अपना कभी स्वीकार नहीं किया) जिसके आधार पर वस्तुओं की क्षणिकता के सिद्धान्त का आरोप वे सर्वास्तिवादियों पर कर सके। यह शंकर की स्थिति का एक स्पष्टीकरण हो सकता है। फिर क्षणिकवाद तो बौद्धों के सभी सम्प्रदायों का एक सामान्य सिद्धान्त है, अतः उसके प्रत्याख्यान में जब कोई (ब्रह्मसूत्रकार या शंकर) प्रवृत्त होता है, तो वह अपने को निश्चय ही सर्वास्तिवादियों तक ही सीमित नहीं रख सकता। यही सम्भवतः शंकर के 'वैनाशिक' शब्द के इस प्रसंग में प्रयोग का रहस्य है और इसी से उनके 'क्षणिकवाद' के व्याख्यान और प्रत्याख्यान की संगति भी लग जाती है। डा० श्रीपाद कृष्ण बेलवलकर ने कहा है कि शंकर तो सर्वप्रथम ब्रह्मसूत्रों का भाष्य ही कर रहे हैं और ब्रह्मसूत्रों की रचना के समय उपर्युक्त सर्वास्तिवादियों के

---

(१) सर्वास्तिवादियों के द्वारा एतद्विषयक बुद्ध-वचनों के उदाहरणों के लिए देखिए चौथे प्रकरण का उत्तरार्द्ध।

(२) निरुद्धे चेत् फलं हेतौ हेतोः संक्रमणं भवेत्। पूर्वजातस्य हेतोश्च पुनर्जन्म प्रसज्यते। सोजन: सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १४०, पद संकेत १ में उद्धृत।

सिद्धान्त (कि एक व्यक्ति या वस्तु की अवस्थाएँ ही परिवर्तित होती हैं जब कि उनका प्रतिष्ठान शाश्वत रहता है) का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था, अतः शंकर, जिनको ब्रह्मसूत्रकार के मन्तव्य का ही सर्वप्रथम अनुवर्तन करना था, उस मार्ग से विभिन्न नहीं जा सकते थे[1]। यदि ऐसी बात है तो ठीक है। परन्तु निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में ऐसा कहना साहसिक ही है ! किन्तु यदि इसी स्थिति को हम स्वीकार कर लें तो फिर ब्रह्मसूत्रों में निर्दिष्ट और शंकराचार्य के द्वारा व्याख्यात सर्वास्तिवादी प्रत्याख्यानों का हमें ऐतिहासिक रूप से बौद्ध सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय पर ही आरोप करने का क्या अधिकार है ? ऐसा करके क्या हम उसके वास्तविक स्वरूप के विषय में भ्रान्ति ही नहीं फैलाते ? या तो ब्रह्मसूत्र वास्तविक ऐतिहासिक बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को ठीक प्रस्तुत नहीं करते या फिर शंकर को बौद्ध दर्शन के मौलिक विचारों से अनभिज्ञ होना ही चाहिए । हम दोनों ही ओर तर्क को अपने पक्ष में नहीं ले जा सकते । ये सब प्रश्न विचारणीय हैं । अब हम शंकर के द्वारा बौद्धों के इस सिद्धान्त पर किए हुए प्रत्याख्यान पर आते हैं कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है । शंकर का कथन है कि जगत् का कोई स्थिर कारण न मानने के कारण वैनाशिक लोग 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति दिखाते हैं । वैनाशिक कहते हैं कि जो बीज विनष्ट हो गया उसी से अंकुर की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार विनष्ट दूध से दधि की तथा विनष्ट मिट्टी से घड़े की उत्पत्ति वे कहते हैं । शंकर कहते हैं कि यदि 'कूटस्थ' कारण से ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है तब तो फिर कोई विशेष ही नहीं रहता और

---

(१) सोजन के मत की अनुपयुक्तता और अपूर्णता दिखाते हुए वे लिखते हैं "He (सोजन) conveniently ignores that Shankar is merely expounding the ब्रह्मसूत्रs ...... It must, therefore, be assumed that the doctrine that 'the place of a thing or person changes every moment while its substratum is eternal and permanent' is a later development within the school and not the original doctrine as known to the author of the ब्रह्मसूत्रs." ब्रह्मसूत्र भाष्य—नोट्स, पृष्ठ ८७; सोजन का मत अधिक दृढ़ बुनियादों पर स्थित है ।

प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न हो जानी चाहिए। 'कूटस्थाच्चेत् कारणात् कार्य-मुत्पद्येताविशेषात्सर्वं सर्वत उत्पद्येत'। किन्तु यह होता नहीं। लोक में ऐसा कहीं देखा जाता नहीं, अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि अभाव से भाव उत्पन्न होता तब तो फिर शशविषाण आदि से भी अंकुर उत्पन्न होने लगते। किस प्रकार ? हम मानते हैं कि विशेष कारणों से ही विशेष कार्यों की उत्पत्ति होती है। अब जब बीज दग्ध होता है तो उसका अभाव होता है और इस अभाव तथा शश-विषाण के अभाव में कोई विशेषता नहीं है, अतः जब कोई विशेषता ही नहीं है और असत् से सत् की उत्पत्ति मानने के कारण तुम विशेष कारणों से विशेष कार्यों की उत्पत्ति भी नहीं मानने को मजबूर हो, तब तो फिर 'असत्' बीज को कोई भी वस्तु उत्पन्न कर देनी चाहिए। बीज अंकुर ही उत्पन्न क्यों करे ? दूध दही ही उत्पन्न क्यों करे ? मिट्टी घड़ा ही उत्पन्न क्यों करे ? जब मिट्टी नष्ट होकर घड़ा बन रही है तो वहां घड़े का भी पहले तो अभाव ही है और ऐसे ही अभाव है शश-विषाण का भी। अतः दोनों अभाव समान हैं, तो फिर शश-विषाण उत्पन्न न होकर घड़े की ही उत्पत्ति क्यों होती है ? फिर यदि तुम यह मानने लगो कि अभाव का भी कोई विशेष होता है, जिस प्रकार कि नीलापन कमल में, तब तो फिर यह अभाव को ही भाव देना हो गया, कमल आदि के समान 'विशेषत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादिवत्प्रसज्येत'। प्रत्येक वस्तु 'सत्' रूप में ही अवस्थित है और उसी रूप में दिखाई भी देती है, किन्तु यदि असत् से वह उत्पन्न हुई होती तब तो उसकी प्रतीति 'असत्' के रूप में ही होनी चाहिए थी, किन्तु ऐसी नहीं होती, अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। अपने-अपने रूप में प्रत्येक वस्तु यहां भावमय ही तो दिखाई देती है, किन्तु यदि अभाव से वह उत्पन्न हुई होती तो उसे अभावान्वित रूप में ही दिखाई देना चाहिए था, किन्तु ऐसा दिखाई कब देता है ? अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना युक्तियुक्त नहीं है। 'असत्' शशविषाणादि से सत् की उत्पत्ति कहीं नहीं देखी गई, सुवर्णादि सत् पदार्थों से ही सत् की उत्पत्ति देखी जाती है, अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना ठीक सिद्धान्त नहीं है। 'असद्भ्यः शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्यदर्शना-त्सद्भ्यश्च सुवर्णादिभ्यः सदुत्पत्तिदर्शनादनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्यभ्युप-गमः'। फिर शंकर सर्वास्तित्ववादियों की परस्परविरुद्धता पर भी आक्षेप करते हुए कहते हैं कि ये बौद्ध एक तरफ तो परमाणुवादी हैं अर्थात् यह मानते हैं कि चतुर्विध कारणवाद से चित्त और चैत्त उत्पन्न होते हैं और परमाणुओं

से समुदाय उत्पन्न होता है तो फिर उसी के साथ ये इस प्रकार कैसे मान सकते हैं कि अभाव से भाव उत्पन्न होता है। इन वैनाशिकों ने तो लोक को ही व्याकुल कर रक्खा है। 'वैनाशिकैः सर्वो लोक आकुलीक्रियते'[१]। विनोद-मिश्रित व्यंग के रूप में हमें शंकर के इस कथन को लेना चाहिए। इससे यह भी प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म उस समय जीवित रूप में विद्यमान था। अभाव से भाव की उत्पत्ति होने के विरुद्ध एक और कारण दे कर भगवान् शंकर सर्वास्तिवादियों के प्रकरण को समाप्त करते हैं। यह कारण इस प्रकार है—यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो जाती तो उदासीन रूप से अकर्मण्य होकर बैठने वाले आदमियों को भी इष्टसिद्धि होनी चाहिए थी क्योंकि अभाव तो सर्वत्र ही सुलभ है। चुपचाप बिना काम किए बैठे रहना किसे अच्छा नहीं लगता। कुम्हार को क्या जरूरत है कि चाक चलाए, बर्तन (भाव) तो वैसे ही अभाव से बन जायँगे, बौद्धों ने जो सिखाया है! इसलिए अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यहीं पर सर्वास्तिवादियों का खण्डन समाप्त होता है। हमने विस्तार से सर्वास्तिवाद के विरुद्ध शंकर ने जितने तर्क दिए हैं उनका निरूपण कर दिया है। संक्षेप में फिर से उन्हें यहां रख देना अनावश्यक न होगा।

शंकर के द्वारा सर्वास्तित्ववाद का खण्डन

(१) अणुहेतुक भूत-भौतिक संघात तथा स्कन्धहेतुक पञ्चस्कन्धी संघात, यह दोनों प्रकार का समुदाय असम्भव है, क्योंकि कोई स्थिर, चेतन भोक्ता या शासन-कर्ता नहीं है।

(२) 'प्रतीत्यसमुत्पाद' उत्पत्ति मात्र की व्याख्या कर सकता है, संघात की संगति नहीं लगा सकता, भोक्ता के अभाव होने के कारण।

(३) क्षणिकवाद के मानने पर प्रतीत्यसमुत्पाद उत्पत्ति की भी संगति नहीं लगा सकता। क्षणिकवाद अनेक प्रकार से असिद्ध सिद्धान्त है।

(४) प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध असम्भव हैं, क्योंकि वे न 'सन्तान गोचर' हैं, न 'भावगोचर'।

---

(१) शंकर की खीज स्वाभाविक है। हरिवर्मा का 'सत्यसिद्धि शास्त्र' (अब संस्कृत में अप्राप्त) सर्वधर्मशून्यता का निरूपण करता है, और अन्य सर्वास्तिवादी परमाणुवादी हैं। आज भी यह सवाल है कि हरिवर्मा को सर्वास्तिवादियों में रक्खा जाय या शून्यवादियों में। वे एक भी नहीं हैं और उभय हैं। ऐसी विचित्रता है।

(५) अविद्यादि का निरोध भी असम्भव है। क्योंकि सम्यक् ज्ञान से उत्पन्न होने पर 'निर्हेतुक विनाश' तथा स्वयमेव उत्पन्न होने पर मार्गोपदेश की अनर्थकता निष्पन्न होती है।

(६) आकाश का निरूपाख्यत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि आकाश वस्तुभूत है। एक ही साथ आकाश निरूपाख्य, अवस्तु और नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि अवस्तु का नित्यत्व या अनित्यत्व नहीं हुआ करता।

(७) मानसिक अनुभव (अनुस्मृति) के तथ्य के विरुद्ध जाने के कारण क्षणिकवाद अत्यन्त गलत सिद्धान्त है। क्षणिकवाद में कोई उपपत्ति नहींहै।

(८) असत् से सत् की सत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि (१) स्थिर-स्वभाव पदार्थों में ही परिवर्तन सम्भव है (२) भाव से ही सब कुछ सुलभ है, अभाव से नहीं।

अब हम शंकर के विज्ञानवाद सम्बन्धी प्रत्याख्यानों पर आते हैं, जो ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।२८-३२ में मिलते हैं। उपर्युक्त सूत्रों पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने छह पूर्वपक्ष उठाए हैं जिनका उत्तर उन्होंने दिया है तथा चार स्वतन्त्र तर्क दिए हैं। इस प्रकार कुल दस तर्क भगवान् शंकर ने बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध उपर्युक्त सूत्रों के भाष्य में दिए हैं, जिनका अब हमें क्रमशः विश्लेषण करना है।

शंकर और बौद्ध विज्ञानवाद

(१) विज्ञानवादी बौद्ध कहता है कि विज्ञान से व्यतिरिक्त बाह्य अर्थ नहीं है। 'न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति'। शंकर इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं कि बाह्य अर्थ का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसकी उपलब्धि हमें होती है 'उपलब्धेः'। बाह्य पदार्थ हमें अपने भीतर स्थित विचारों के अनुरूप ही दिखाई पड़ते हैं और हम यह अनुभव करते हैं कि यह घड़ा है, यह स्तम्भ है, आदि। जो वस्तु उपलभ्यमान है उसका अभाव नहीं हो सकता। खाना खाते हुए भी कोई कहे कि मैं खाना नहीं खा रहा हूँ, इसी प्रकार यदि इन्द्रिय-संनिकर्ष से बाह्य पदार्थों को देखता हुआ भी कोई कहे कि 'मैं नही देखता हूँ' तो क्या उसका मुंह पकड़ा जाता है? वास्तव में बात तो यही रहेगी कि जिसकी उपलब्धि होती है, वह अभाव नहीं हो सकता। 'नाभाव उपलब्धेः'। किन्तु विज्ञानवादी आकर कह सकता है 'मैं कब यह कहता हूँ कि मैं वस्तु को नहीं देखता। मैं तो केवल यही कहता हूँ कि उपलब्धि से व्यतिरिक्त 'मैं कुछ उपलब्ध नहीं करता'। बच्चे को जैसे फटकारते हुए आचार्य

शंकर विज्ञानवादी के कान पकड़ते हुए, कुछ उसके प्रति मुसकराते हुए (मेरे जैसे ही तो बोल रहा है !) कहते हैं 'अच्छा बच्चे ! कहे जाओ, तुम्हारे मुंह पर लगाम तो है ही नहीं' 'वादमेवं ब्रवीषि निरंकुशत्वात्ते तुण्डस्य'। उसके तर्क को लेते हुए उत्तर देते हैं कि सभी मनुष्य इसी प्रकार की उपलब्धि करते हैं कि स्तम्भ आदि बाह्य पदार्थ विषय रूप से स्थित हैं। कोई इस प्रकार अनुभव नहीं करता कि बाह्य पदार्थ ही स्वयं उपलब्धि हैं। सभी मनुष्य बाह्य पदार्थों को उपलब्धि के विषय रूप में देखते हैं, इसमें प्रमाण यह है कि जो बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार नहीं करते वे भी उसकी सत्ता को स्वीकार करने वाले ही ठहरते हैं। किस प्रकार ? तुम कहते हो कि भीतर अवस्थित ज्ञेय ही बाहर स्थित जैसा भासता है। 'अन्तर्ज्ञेय रूपं तद्बहिर्वत् अवभासत इति'। किन्तु इस कथन में ही तो तुम बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हो। 'बाहर जैसा' ('बहिर्वद्') तुम क्यों कहते हो ? जब बाहर किसी चीज़ को मानते हो तभी तो ऐसा कहते हो कि मेरा भीतर स्थित विचार बाहर पदार्थ के जैसे भासता है। विष्णुमित्र बन्ध्या पुत्र की तरह भासता है ऐसा तो कोई नहीं कहता। वन्ध्यापुत्र कहीं हो तब तो कोई कहे ? अतः जब तुम 'बाहर जैसा' कहते हो तो निश्चय ही इसका यही अर्थ होता है कि लोक की अनुभूति के सदृश ही तुम भी बाह्य पदार्थों की उपलब्धि करते हो। इसलिए उपलब्धि होने के कारण बाह्य पदार्थ का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। 'न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसितुं शक्यते'।

(२) विज्ञानवादी तर्क-सूत्र को पकड़ता हुआ फिर कहता है कि अच्छा यदि तुम यह कहते हो कि बाह्य पदार्थ हैं तो फिर यह तो सोचो कि या तो ये परमाणु होने चाहिए या उनके समूह। किन्तु बाह्य पदार्थों यथा स्तम्भादि को घोषित करने वाले विचार तो परमाणुओं का द्योतन नहीं करा सकते, क्योंकि जब हमें स्तम्भादि बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि होती है तो इस उपलब्धि को हम परमाणुओं की उपलब्धि पर तो आक्षिप्त नहीं कर सकते और न स्तम्भादि परमाणुओं के समूह ही समझे जा सकते हैं, क्योंकि परमाणुओं से उनका अन्यत्व अथवा अनन्यत्व ही निश्चित रूप से निर्णीत नहीं किया जा सकता। भगवान् शंकर इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि सम्भव और असम्भव को प्रमाण-प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति पूर्वक मानना, न कि प्रमाण-प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति को सम्भवासम्भवपूर्वक मानना, ठीक अध्यवसाय नहीं है। जो कुछ प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से किसी के द्वारा भी उपलब्ध नहीं होता उसी के बारे में

कह सकते हैं कि वह नहीं है, किन्तु यहां तो सभी प्रमाणों से बाह्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं, अतः वे हैं ही।

(३) यहां पहले विज्ञानवादियों के दो तर्क हैं, बाह्यार्थ-निषेध के लिए (१) 'एवं जात्यादीन् अपि प्रत्याचक्षीत' अर्थात् पहले तर्क अर्थात् अपने द्वारा परमाणुवाद सम्बन्धी प्रत्याख्यान करने के बाद ही विज्ञानवादी कहते हैं--इसी प्रकार 'जाति' भी नही माननी चाहिए। (२) जब हम वस्तुओं को देखते हैं तो हमें 'घट-ज्ञान', 'पट-ज्ञान' ऐसा ज्ञान होता है। चूंकि हर एक विषय के प्रति ऐसा ज्ञान होता है, अतः हमें ज्ञान में ही कुछ विशेष मानना पड़ता है, इसलिए अवश्यम्भावी रूप से यह मानना पड़ता है कि हमारे विज्ञान वस्तुओं के स्वरूप को धारण कर लेते हैं और जब एक बार यह स्वीकार कर लिया कि ज्ञान की विषय से सरूपता है (विषयसारूप्यं ज्ञानस्य) तो बाह्य पदार्थों को मानने की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है। भगवान् शंकर इन तर्कों का इस प्रकार उत्तर देते हैं (१) ज्ञान के विषय-सारूप्य होने से विषय का नाश नहीं माना जा सकता और इसका कारण यह है कि यदि विषय न हो तो विषय-सारूप्य भी नहीं होता, और विषय उपलब्धि का विषय है। (२) घटज्ञान और पटज्ञान में यह घट और पट रूप विशेषणों में ही भेद है, विशेष्य रूप ज्ञान में नहीं। इसलिए पदार्थ और ज्ञान में भेद है।

(४) विज्ञानवादी कहता है कि सहोपलम्भ नियम से[1] विषय और विज्ञान में अभेद है। इसलिए पदार्थ का अभाव है। शंकर का उत्तर है कि जिस प्रकार पूर्वोक्त घट-ज्ञान और पट-ज्ञान में घट-पट रूप विशेषणों में ही भेद है (देखिए ऊपर तीसरा तर्क) उसी प्रकार यहां भी सहोपलम्भ-नियम विज्ञान और विषय में केवल उपाय और उपेय भाव ही दिखाता है, उन दोनों के अभेद को दिखाने वाला तो वह कभी नहीं है।

(५) विज्ञानवादी बड़ा महत्त्वपूर्ण तर्क रखते हैं 'स्वप्नादिवच्चेदं द्रष्टव्यम्'। अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न-माया-मरीचि-उदक--गन्धर्वनगरों के प्रत्यय या विचार हैं जो बिना ही बाह्य अर्थ के रूप में उपस्थित हुए ग्राह्य और ग्राहक आकार वाले होते हैं, उसी प्रकार जागरित अवस्था में भी गोचर होने वाले स्तम्भादि प्रत्ययों वाले होने चाहिए क्योंकि प्रत्ययत्व से तो दोनों ही व्यभिचरित

---

(१) द्रष्टव्य चतुर्थ प्रकरण में विज्ञानवाद का विवेचन। 'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः'।

नहीं होते 'प्रत्ययत्वाविशेषात्' । 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' २।२।२९ इस समग्र सूत्र के भाष्य में भगवान् शंकर ने विज्ञानवादियों की उपर्युक्त मान्यता का खण्डन किया है । भगवान् शंकर कहते हैं कि स्वप्नादि प्रत्ययों के समान जागरित अवस्था के प्रत्यय नहीं हो सकते । इसका कारण यह है कि दोनों में वैधर्म्य है, अर्थात् दोनों के धर्म भिन्न-भिन्न हैं । किस प्रकार ? दो प्रकारों से । (१) स्वप्न में उपलब्ध वस्तु बाधित हो जाती है जब मनुष्य जगता है । वह देखता है कि स्वप्न में जो चीज़ों देखी थीं, वे अब नहीं रहीं, किन्तु जागरित अवस्था में उपलब्ध वस्तुएँ यथा स्तम्भादि कभी बाधित नहीं होते किसी भी अवस्था में 'कस्यांचिदप्यवस्थायां' । अतः प्रथम तो कारण यह है जिससे स्वप्न के पदार्थ जागरित अवस्था के पदार्थों से वैधर्म्य रखते हैं (२) दूसरी बात यह है कि स्वप्न-दर्शन स्मृति का विषय है और जागरित दर्शन में उपलब्धि होती है । स्मृति और उपलब्धि में क्या अन्तर है, इसे हम अपने अनुभव से ही जानते हैं । इसलिए अनुभव का खण्डन कर कुतर्क नहीं करना चाहिए । 'न स्वानुभवापलापः प्रज्ञामानिभिर्युक्तः कर्तुम्' । इन दो कारणों को देते हुए भगवान् शंकर यह भी कहते हैं कि जब अनुभव के आधार पर विज्ञानवादी जागरित प्रत्ययों की निरालम्बता नहीं दिखा पाते तो वे स्वप्न-प्रत्ययों के साथ उनके साधर्म्य को दिखाकर ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं जो इसी बात से पहले ही असिद्ध हो जाता है कि उपर्युक्त दो कारणों से स्वप्न और जागरित प्रत्ययों में वैधर्म्य है । जो जिसका स्वयं का धर्म नहीं है वह दूसरे के साधर्म्य से उसमें कैसे हो सकता है ?'न च यो यस्य स्वतो धर्मो न सम्भवति सोऽन्यस्य साधर्म्यात् तस्य सम्भविष्यति' । इसलिए स्वप्न और जागरित का वैधर्म्य ही है ।

(६) विज्ञानवादी कहते हैं कि 'वासना-वैचित्र्य' के कारण ही प्रत्ययों की विचित्रता होती है और इसके लिए बाह्य पदार्थों की स्थिति आवश्यक नहीं । शंकर कहते हैं कि पदार्थों की उपलब्धि स्वरूप ही नाना प्रकार की वासनाएँ हुआ करती हैं । यदि पदार्थ ही उपलब्ध न हों तो विचित्र प्रकार की वासनाएँ कहां से आ जाएँगी ? वासना का अर्थ है संस्कार-विशेष 'वासना नाम संस्कारविशेषाः' । संस्कार बिना आश्रयों के नहीं हो सकते 'संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते' । तुम्हारी वासना का कोई आश्रय ही नहीं है । 'न च तव वासनाश्रयः कश्चिदस्ति' । अतः बिना पदार्थों के वासना भी सम्भव नहीं है ।

यहां तक विज्ञानवादियों की तरफ से पूर्वपक्ष उठाकर उनके मतों का

भगवान् शंकर ने प्रत्याख्यान किया है। अब स्वतंत्र रूप से चार तर्क उन्होंने और विज्ञानवाद के विरुद्ध दिए हैं, जिनको भी हम संक्षेप में देख लें।

(७) दो विज्ञान, जो पूर्व और उत्तर काल में उत्पन्न होते हैं और अपना ही अनुभव कर उपक्षीण हो जाते हैं, तो उनमें एक दूसरे के प्रति ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं बन सकता।

(८) यदि यह मान लिया जाय कि विज्ञान ही उपलब्धि का विषय है, विज्ञान के स्वरूप से व्यतिरिक्त किसी ग्राहक के द्वारा, तब तो फिर उस ग्राहक (द्रष्टा) को भी किसी तीसरे का ग्राह्य बनना चाहिए और यह अनवस्था बढ़ती ही जायगी। किन्तु यह साक्षी (अर्थात् ग्राहक या द्रष्टा) तो अपने में ही प्रतिष्ठित होता है और इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता 'स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्'।

(९) शंकर ने विज्ञानवादियों के इस सिद्धान्त का यहां खण्डन किया है कि विज्ञान दीपक की ज्योति के समान अपने-ही-आप चमकता है और किसी दूसरी वस्तु को उसे जलाने या प्रकाश देने की जरूरत नहीं है। शंकर अपने तर्क देते हुए इस निष्कर्ष पर आते हैं कि विज्ञान भी दीपक की तरह ही किसी अन्य की उपलब्धि का विषय होना चाहिए। 'प्रदीपवद्विज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्याभिः प्रसाधितम्'।

(१०) विज्ञान में क्षणिकत्व का दोष दिखाकर यहां (क्षणिकत्वाच्च २।२।३१) भगवान् शंकर ने कहा है कि वह वासनाओं का अधिकरण नहीं हो सकता और स्थिर रूप 'आलय-विज्ञान' का मान नहीं सकते। इसलिए क्षण-भंगवाद के कारण विज्ञानवाद भी गिर जाता है।

इस प्रकार हमने बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध प्रयुक्त शंकर के तर्कों की एक संक्षिप्त विवृति दी। 'सर्वास्तिवाद' और 'विज्ञानवाद' का शंकर खण्डन कर चुके। अब उन्हें शून्यवाद पर आना चाहिए, किन्तु उसके खण्डन में आचार्य ने आदर नहीं दिखाया। जब उन्होंने सर्वास्तिवादी और विज्ञानवादी दोनों ही 'वैनाशिक पक्ष' कर दिए, तो फिर अलग से उन्हें शून्यवाद का प्रत्याख्यान करने की क्या जरूरत रही, और फिर कदाचित् ब्रह्मसूत्र भी इसके लिए अधिक अवकाश नहीं देते क्योंकि जो कुछ उन्हें कहना है उसकी पूर्णाहुति वे कर देते हैं केवल इसी एक सूत्र में 'सर्वथानुपपत्तेश्च' (२।२।३२)। शंकर कहते हैं कि यह वैनाशिकों का सिद्धान्त जैसे-जैसे परीक्षा का विषय बनाया जाता है, वैसे ही वैसे वह बालू के कुंए की तरह विदीर्ण होता चला जाता

है। शंकर ने उसमें कोई उपपत्ति नहीं देखी। यह तो सब आचार्य ने ठीक कहा है। किन्तु अन्त में जाकर वे एक ऐसी बात कह जाते हैं जिसे उनके प्रबल समर्थक भी ठीक गले नहीं उतार पाते[1] और जो एक निष्पक्ष समीक्षक को भी जापानी विद्वान् यामाकामी सोजन के उस मत से सहमत होने को विवश करती है जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि शंकर को मौलिक स्रोतों के आधार पर बौद्ध दर्शन के अध्ययन का अवसर कदाचित् नहीं मिला था[2]। बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान को समाप्त करते हुए शंकर कहते हैं 'अपि च वाह्यार्थ-विज्ञान-शून्यवाद-त्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु, विरुद्धार्थ-प्रतिपत्या विमुह्येयुरिमाः प्रजाः इति। सर्वथाऽप्यनादरीणोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः'। इसमें प्रधानतः चार बातें भगवान् शंकर ने उपस्थित की हैं (१) बुद्ध ने असम्बद्ध प्रलाप किया है, क्योंकि उनके द्वारा उपदिष्ट बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद सिद्धान्तों में परस्पर विरोध है (२) प्रजाओं के प्रति बुद्धने विद्वेष दिखाया है (३) प्रजाओं का उन्होंने विमोहन किया है तथा (४) बौद्ध धर्म कल्याण का मार्ग नहीं है। हम बद्धऔर शंकर दोनों की ही प्रतिष्ठा की रक्षा के पक्षपाती हैं। बुद्ध तो 'सम्यक् सम्बुद्ध' हैं ही, शंकर में भी 'बुद्धत्व' है, किन्तु यहां 'आचार्यत्व' के आवेश में यह सब लिखे गए हैं जो बुद्ध के जीवन और उपदेशों के प्रकाश में नहीं किन्तु आठवीं शताब्दी में 'सुगतसमय' के नाम से प्रसिद्ध हीन तान्त्रिकों की प्रवृत्तियों के प्रकाश में हमारे द्वारा व्याख्यात होना चाहिए। फिर भी आचार्य शंकर की मूल बुद्ध-धर्म विषयक अभिज्ञा के अभाव को छोड़कर और कोई हेतु उनके इस प्रकार लिखने का नहीं मिलता। उनकी अवज्ञा में उनका स्वयं का अज्ञान या अल्प ज्ञान ही कारण है और उनकी चार बातों में एक भी बात युक्तिसंगत मालूम नहीं पड़ती। शंकर को यह मालूम न था कि भगवान् बुद्ध के मूल उपदेश क्या थे और किस प्रकार उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। अतः उन्होंने उत्तरकालीन दार्शनिक सिद्धान्तों का बुद्ध पर आरोप कर अपनी अनभिज्ञता का परिचय दिया। उन्हें देखना चाहिये था कि 'इतरेतर विरुद्ध' सिद्धान्त क्या वैदिक साहित्य में नहीं हैं ? फिर समन्वय-

---

(१) देखिए डा० बेलवेलकर के भी विचार, ब्रह्मसूत्र भाष्य, नोट्स, पृष्ठ १००
(२) देखिए सोजन : सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १६

विधान तो दोनों जगह ही किया जा सकता है। आदि-कल्याणकारी, मध्य-कल्याणकारी और अन्त-कल्याणकारी मार्ग का उपदेश करने वाले भगवान् शाक्यमुनि भला किस प्रकार प्रजाओं के प्रति द्वेष करने वाले, उसको विमोह में डालने या उसका अकल्याण करने वाले हैं, यह कुछ समझ में नहीं आता। ऐसा लगता है कि अभेदवादी शंकर भी सम-विषय से बरी नहीं थे और अरक्षित क्षणों में वे गाली भी दे सकते थे, जो प्राकृत पुरुष के लिये भी योग्य नहीं है। बुद्ध-जीवन की उच्च मनोभूमि से तो इसकी कोई तुलना ही नहीं।

इस प्रकार आचार्य शंकर के द्वारा बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान को हमने देखा। एक प्रकार से तो निश्चय ही हमने एतद्विषयक ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य का एक संक्षिप्त विवरण ही उपस्थित किया। यह एक विशेष उद्देश्य से ही किया गया। शंकर की महान् तार्किक शक्ति के साथ ही साथ हमने इसका भी कुछ अनुमान लगा ही लिया है कि बौद्ध दर्शन के प्रति उनकी सामान्यतः क्या प्रवृति हो सकती थी। शंकर के उपर्युक्त प्रत्याख्यानों को देखकर कोई भी स्पष्ट और सीधे सादे विचारों वाला आदमी यह नहीं कह सकता कि शंकर की विचार-प्रणाली की समता किसी भी प्रकार बौद्ध विचार-प्रणाली से दिखाई जा सकती है। किन्तु भारतीय दर्शन का यह एक विरोधाभास है कि बौद्ध दर्शन की पद-पद पर असमञ्जसता दिखाने वाले शंकर भी अपने विरोधियों (जो सम्भवतः बौद्धों से भी अधिक शंकर के विरोधी हैं)—के द्वारा 'प्रच्छन्न बौद्ध' अर्थात् 'छिपे हुए बौद्ध' तक कहलाए गए हैं।

क्या शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं? क्या उनका निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म 'शून्य' का ही दूसरा नाम है? अथवा क्या स्वयं शांकर वेदान्त शाश्वतवादी औपनिषद आत्मवाद का आवरण ओढ़े हुए विशुद्ध बौद्ध विज्ञानवाद का ही नव संस्करण है? इन बातों की संक्षिप्त समीक्षा

यह एक बड़े आश्चर्य की बात है (उपर्युक्त प्रत्याख्यानों के प्रकाश में विशेषतः) कि शंकर को बौद्धों की पंक्ति में बिठलाने का प्रस्ताव करने वाले एक दो आचार्य नहीं, किन्तु अनेक आचार्य हैं। किन्तु उनके विचारों को उनका ठीक मूल्य देने के पहले हमें उनके कुछ प्रतिनिधि स्वरूप उद्गारों से परिचित होना चाहिए। सब से पहले शंकर के सबसे बड़े

कुछ वैष्णव और अन्य आचार्य शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' बताते हैं

प्रतिपक्षी आचार्य रामानुज हैं। आचार्य शंकर ने वैदिक धर्म के उद्धार करने का व्रत लिया था (और निश्चय ही उनकी तपस्विता और तेजस्विता ने एक अद्‌भुत धर्म-संस्कार किया भी था) किन्तु रामानुज उन्हें वेद-पूजा का तो महत्व देने को तैयार हैं ही नहीं (शंकर के 'आगम' विषयक विचार को लेकर देखिए उनके प्रति उनकी तिरस्कारमयी उक्ति—दूसरे प्रकरण में 'नास्तिक' और 'आस्तिक' मतों के विवेचन में उद्धृत) उल्टे उन्हें बौद्धों की पंक्ति में बिठलाने का प्रस्ताव करते हैं। पहले उनकी ओजस्विनी संस्कृत-वाणी को ही उद्धृत करते हैं। श्रीभाष्य २।२।२७ में ये वैष्णव आचार्य कहते हैं 'एवंरूपेण सकर्मकेण ज्ञाधात्वर्थेन सर्वलोकसाक्षिकमपरोक्षमवभासमानेनैव ज्ञानमात्रमेव परमार्थ इति साधयन्तः सर्वलोकोपहासकरणं भवन्ति वेदवादच्छद्‌मप्रच्छन्नबौद्ध निराकरणे निपुणतरं प्रपञ्चितम्' इत्यादि। इस समालोचना में दो बातें स्पष्ट हैं। समालोचक शंकर के ज्ञानवाद को अच्छा कहीं समझता या कम-से-कम उसे अपूर्ण समझता है और दूसरी बात यह कि वह (उसी के अनुपम शब्द-चयन में) उन्हें 'वेदवादच्छद्मप्रच्छन्न बौद्ध' समझता है। इसका अर्थ यह है कि शंकर का वेदवाद तो कपट है, वास्तव में वे छिपे बौद्ध हैं। यादव प्रकाश भी अपनी धारावाहिक शैली में एक ही श्लोक में बहुत सी बातें कह जाते हैं—**वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्। बोद्धाऽनृतो बुद्धि फले तथाऽनृते यूयं च बौद्धाश्च समानसंसदः॥** रामानुज और यादव प्रकाश (११वीं शताब्दी) दोनों वैष्णव आचार्य हैं और शंकर के 'प्रच्छन्न बौद्ध' होने के विषय में उनके विचार दे दिए गए हैं। निश्चय ही उन दोनों के वचनों में शंकर की कुछ निन्दा अपेक्षित है। अब हम नवीं शताब्दी के एक और दार्शनिक के विचार देखते हैं। भास्कर 'भेदाभेद सिद्धान्त' के प्रचारक हैं और भास्कर भाष्य का स्वरूप साम्प्रदायिक नहीं है। भास्कर का भी खयाल है कि मायावाद माहायानिक बौद्धों से ही ली हुई चीज़ है 'माहायानिकबौद्धगाथितं मायावादम्' (भास्कर भाष्य १।४।४५)। जिस प्रकार शंकर ने बुद्ध के लिए कहा है कि 'ये प्रजाएँ विमोहित हों' 'विमुह्येयुरिमाः प्रजाः' इसीलिए बुद्ध ने उपदेश दिया है, उसी प्रकार भास्कर ने भी मायावादियों पर आरोप लगाया है कि वे स्वयं लोक को विमोहते फिरते हैं और जिस प्रकार ब्रह्मसूत्रकार ने बौद्धों को निराकृत किया है उसी न्याय से मायावादी वेदान्ती भी निरस्त हो जाते हैं। मायावाद उनका स्वकल्पित सिद्धान्त है अथवा बौद्धों से इसे उन्होंने लिया है। वह वैदिक सिद्धान्त नहीं है। देखिए उन्हीं के शब्दों का

उद्धरण 'केचित्तु श्रुत्वर्थमाचार्योक्तिं च पृष्ठतः कृत्वा मायामात्रं स्वबुद्धचा कल्पयित्वा अन्यदेव दर्शनं रचयन्ति। विगीतं छिन्नमूलं माहायानिक--। बौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति......ये तु बौद्धमतावलम्बिनो मायावादिनः तेऽपि अनेनैव न्यायेन सूत्रकारेण निरस्ता वेदितव्याः' आदि । 'तात्पर्य परिशुद्धि' के प्रसिद्ध रचयिता, बौद्धों के पराक्रमशील होने पर 'ईश्वर' को उनसे बचाकर उसकी स्थिति को कायम रखने वाले (न्याय कुसुमाञ्जलि में 'ईश्वर' की सिद्धि करने का प्रयत्न कर—देखिए इनका 'ईश्वर' के प्रति सम्बोधन 'पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः) उदयनाचार्य (९८४ ई०) भला अपने 'ईश्वर' को शंकर के द्वारा मायाविशिष्ट चैतन्य बना दिए जाने को (जिसी ने सम्भवतःवैष्णव आचार्यों को भी शंकर के प्रति विस्मयाविष्ट और रोषान्वित किया) किस प्रकार सहन कर सकते थे, रामानुज की तरह उन्हें भी शंकर का ब्रह्म और ईश्वर का विभेद किस प्रकार पसन्द आ सकता था जब उनकी वर्षों के परिश्रम की लिखी हुई 'कुसुमाञ्जलि'बौद्धों के द्वारा तो निराकृत हुई ही स्वयं शंकर के मत के द्वारा भी अनायास ही निराकरण का विषय बन सकती थी, कम-से-कम परमार्थ सत्य का तो विषय नहीं बन सकती थी, अतः उन्हें कहना पड़ा :

यन्मायावादिनो ब्रह्म यच्छून्यं शून्यवादिनः ।
न हि स्वरूपभेदोऽस्ति स्वतस्सिद्धत्वतस्तयोः ॥

आनन्दतीर्थ (मध्व, तेरहवीं शताब्दी) ने भी इन्हीं की परम्परा में कहा:

यच्छून्यवादिनः शून्यं तदेव ब्रह्म मायिनः ।
न हि लक्षणभेदोऽस्ति निर्विशेषस्त्वतस्तयोः ॥

ऐसा मालूम पड़ता है मानो उदयन के शब्दों को ही उलट-फेर कर आनन्द-तीर्थ ने रख दिया हो ! देखिए 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के भी प्रभावशाली शब्द—

प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थाभिधायिनः ।
वेदान्ताः यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते ॥

निश्चय ही मायावादियों के प्रति इतनी भर्त्सना तथा उनकी अपेक्षा में बौद्धों के साथ सहानुभूति इससे अधिक नहीं दिखाई जा सकती थी। इस प्रकार की भावनाएँ शंकर के मायावाद को वैदिक मार्ग का प्रवर्तक कभी मान ही नहीं सकती थीं। उल्टे उनके लिये मायावादी वेदान्ती अन्त में नास्तिक ही ठहरता था। 'मायावादिवेदान्त्यपि नास्तिक एव पर्यवसाने सम्पद्यते'। ऐसा भीमाचार्य ने

अपने 'न्यायकोश' में कहा था। इस हालत में तो मायावादी शंकर अधिक-से-अधिक ऊपर जायँ तब कहीं बौद्धों के साथ बैठ सकते हैं, और असम्भव नहीं कि भीमाचार्य यदि उन्हें कहीं अन्य स्थान पर बैठाने का ही प्रस्ताव न करते हों। 'शास्त्र दीपिका' तो मायावाद से बौद्ध दर्शन को अच्छा समझती है 'तस्माद्वरमस्मात् मायावादान्याहायानिकवादः'। इस मायावाद से तो माहायानिक मत ही अच्छा है।

'प्रकरण पञ्चिका' में शालिकनाथ ने भी माहायानिक पक्ष में वेदान्तियों के प्रवेश को ब्रह्मवादियों का मोह ही कहा है। 'तस्मादेषोऽपि माहायानिक-पक्ष प्रवेशो ब्रह्मवादिनां मोह एव'। इतना ही नहीं, स्वयं शांकर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य 'पद्मपाद' अपनी 'पञ्चपादिका' (चतुःसूत्री-शांकरभाष्य की अद्वितीय टीका) में भी स्वीकार करते हैं कि शांकर दर्शन में अंशतः माहा-यानिक पक्ष का भी समर्थन है। 'अतः स एव माहायानिकपक्षः समर्थितः'। इस विषय में उदाहरण और बढ़ाए जा सकते हैं, किन्तु उनसे हमारा मूल मन्तव्य हल नहीं होगा। अतः हम अपने वास्तविक विवेचन को प्रारम्भ करने से पहले दूसरे पक्ष की ओर भी देखते हैं कि उसे इस विषय में क्या कहना है।

सब से पहले हमें यह देखना चाहिए कि स्वयं भगवान् शंकर को इस बात की सम्यक् अनुभूति थी कि उनके अनेक विचार बौद्ध आचार्यों से मिलते हैं, अतः वे जानते थे कि उनका पर्यवसान माध्यमिक मत में दिखलाया जा सकता है।

उपर्युक्त आक्षेपों पर शंकर और शांकर दर्शन के कुछ आचार्य

ऊपर जितनी भावनाएँ प्रकट की गई हैं, उन सब से शंकर अभिज्ञ से दिखाई पड़ते हैं और जान पड़ते हैं उन सब से कुछ अधिक जानते हुए भी। उन्होंने स्वयं ही प्रश्न उठाया है कि क्या यह ब्रह्म शून्य ही है ? 'शून्यमेव तर्हि तत्' ? और उसका उत्तर आचार्य देते हैं 'न। मिथ्याकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः'। मिथ्या-कल्पित वस्तुओं को भी ठहरने के लिए कुछ प्रतिष्ठा चाहिए और वही प्रतिष्ठा ब्रह्म है। इस प्रकार भगवान् शंकर बड़ी अन्तर्दृष्टि के साथ कहते हैं कि दिक्, देश, गुण, गति और फल के भेद से शून्य परमार्थसत् अद्वय ब्रह्म मन्दबुद्धियों को 'असत्' सा ही दिखाई पड़ता है 'दिग्देश गुण गति फलभेद शून्यं हि परमार्थसत् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनाम् असद् इव प्रतिभाति' (छान्दोग्य-भाष्य ८।१।१)। इतना ही नहीं, उन्होंने इन से भी अधिक प्रभावशाली और स्पष्ट शब्दों में शून्य और ब्रह्म को मिलाने की चेष्टा का निराकरण किया है। 'ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधः

नाभावसानः' अर्थात् यह हमारा प्रतिषेध ब्रह्म में ही अवसान होने वाला है, अभाव में नहीं (ब्रह्मसूत्र भाष्य ३।२।२२)। इसी प्रकार छान्दोग्य-भाष्य ६।२।१ में भी, यथा 'सदभावमात्रं तत्वं परिकल्पयन्ति बौद्धाः। न तु सत्-प्रतिद्वन्द्विवस्त्वन्तरमिच्छन्ति।' अर्थात् भगवान् शंकर कहते हैं कि सत् के अभाव मात्र तत्व का बौद्ध लोग परिकल्पन करते हैं, किन्तु वे सत् की प्रतिद्वन्द्वी किसी दूसरी वस्तु को नहीं चाहते अर्थात् उसकी स्थापना नहीं करते। इसके विपरीत शंकर अपनी प्रतिष्ठा 'ब्रह्म' पर मानकर उसमें केवल रूप-प्रपञ्च का ही निषेध करते हैं 'तस्मात् ब्रह्मणः रूपप्रपञ्चं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेत्यवगन्तव्यम्[1]।' (ब्रह्मसूत्र भाष्य ३।२।२२)। हम पहले देख ही चुके हैं कि उन्होंने शून्यवाद के निराकरण के प्रसंग में शून्यवाद के प्रति कितनी घृणा के भाव प्रकट किए हैं 'न ह्ययं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारः अन्यत्तत्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम्'। (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।३१)। माण्डूक्य कारिका पर भाष्य करते हुए भी आचार्य शंकर ने कई बार बुद्ध के प्रति निर्देशों को किस प्रकार अन्यथा व्याख्यात कर दिया है, यह हम 'माण्डूक्य-कारिका' के विश्लेषण को उपस्थित करते समय देख चुके हैं। इस तथ्य से भी यह स्पष्ट है कि शंकर बौद्ध दर्शन से व्यतिरिक्त अपने मत को दिखाना चाहते हैं। माण्डूक्यकारिका-भाष्य में शंकर अद्वैतवाद और शून्यवाद का विभेद दिखाते हुए कहते हैं कि अद्वैतवाद में शून्यवाद का प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकता क्योंकि अद्वैतवाद वस्तुत्व पर प्रतिष्ठित है 'तथा च सति अद्वैतस्य वस्तुत्वे प्रमाणाभावात् शून्यवादप्रसंगः द्वैतस्य चाभावात्। न। रज्जुसर्पादिकल्पनाया निरास्पदत्वानुपपत्तिरित्युक्तमेतत् (२।३२)। अधिक उद्धरण देने की जरूरत नहीं है। बौद्ध दर्शन का जो प्रत्याख्यान हम शांकर भाष्य के आधार पर दे चुके हैं, वही केवल एक मात्र शंकर के इस दृष्टिकोण को दिखाने के लिए पर्याप्त है कि वे अपने दर्शन को उस प्रकार बौद्ध दर्शन से सम्बन्धित दिखाए जाने का समर्थन नहीं कर सकते जिस प्रकार कि वैष्णव आचार्यों ने उसे दिखाने का प्रस्ताव किया है। हम कह सकते हैं कि शंकर उसमें अपनी निन्दा अनुभव करते। किन्तु यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अतः न केवल शंकर के ही किन्तु उनके विचार-सम्प्रदाय के कुछ अन्य विचारकों के भी साक्ष्य को सुनना चाहिए कि वे शंकर पर लगाए गए इल्जामों के बारे में क्या कहते हैं।

---

(१) तथा मिलाइए वहीं, 'कल्पित रूप प्रत्याख्यानेन ब्रह्मस्वरूपावेदनमिति निर्णीयते।

तो सब से पहले सर्व दर्शनरणरंगमल्ल 'षड्दर्शनीवल्लभ' वाचस्पति मिश्र की ही बात सुनें। इनका सब से बड़ा साक्ष्य यही है कि शंकर ने बाह्य जगत् का अपलाप नहीं किया हैं किन्तु उसे एक अतीत सत्य की अपेक्षा में ही मिथ्या बताया है। किसी का किसी पर आरोप होने के लिए किसी तत्व की स्थिति होनी आवश्यक है। निष्प्रपञ्च परमार्थ सत्य ब्रह्म ही जगत् की प्रतिष्ठा में अवस्थित है। 'अपि चारोपितं निषेधनीयम्। आरोपश्च तत्वाधिष्ठानो दृष्टः, यथा शुक्तिकादिषु रजतादेः। न चेदस्ति किञ्चित् तत्वं कस्य कस्मिन्नारोपः तस्मात् निष्प्रपञ्चं परमार्थसत् ब्रह्म अनिर्वाच्य प्रपञ्चात्मनाऽऽरोप्यते। तच्च तत्वं व्यवस्थाप्य अतात्विकत्वेन सांव्यवहारिकत्व प्रमेयाणानां बाधकेनोपपद्यते इति युक्तमुत्पश्यामः'। (भामती २-२-३१)।

यद्यपि वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त उद्धरण में हम बौद्ध दर्शन के प्रति कोई संकेत नहीं पाते, किन्तु हमने जिस दृष्टि से उसे उद्धृत किया है वह यह है कि शंकर के जगन्मिथ्यात्व की प्रतिष्ठा में परमार्थसत् ब्रह्म को देखते हैं। वाचस्पति मिश्र। हमने शंकर के विज्ञानवाद के खण्डन में देखा है कि वे किस प्रकार बाह्यार्थ को उपलब्धि में परिवर्तित कर देने के विरुद्ध हैं। एक और साक्ष्य देते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि ब्रह्मवादी नीलादि की आकार वाली वित्ति को नहीं मानता, किन्तु नील से अनिर्वचनीय को मानता है, अतः माहायानिक मत में उसका अनुप्रवेश नहीं हो सकता 'न हि ब्रह्मवादिनो निलाद्याकारां वित्तिमभ्युपगच्छन्ति किन्तु अनिर्वचनीयं नीलादिति' (भामती २।२।२८)। इसी के अनुकूल मत 'न्यायमकरन्द' के रचयिता आनन्दबोध भट्टार्काचार्य उपस्थित करते हैं जब कि वे वाचस्पति मिश्र के प्रायः समान ही शब्दों में कहते हैं 'न हि वयं नीलाद्याकारां वित्तिमभ्युपगच्छामः येन माहायानिकपक्षानुप्रवेशः। किन्तु अनाद्यविद्याविक्रीडितमलीकनिर्भासमाकारं प्रपञ्चमाचक्ष्महे।' इस प्रकार शांकर सम्प्रदाय की परम्परा में बहुत बाद में आने वाले इन आचार्य ने भी यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनके दर्शन-सम्प्रदाय का माहायानिक मत में प्रवेश नहीं होता। ब्रह्मवादियों के यहां ब्रह्म की सदा प्रतिष्ठा है जिस पर जगत् आश्रित है तथा ब्रह्म से व्यतिरिक्त ही सब का अपलाप इष्ट है। बाह्य जगत् का वे अपलाप नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से तो यह 'विज्ञानाकार' होकर आश्रित हो जायगा और तब तो फिर माहायानिकों के पक्ष में ही अनुप्रवेश करना दुर्निवार हो जायगा। देखिए 'न्याय मकरन्द' की यह उक्ति 'न खलु नभः स्थलकमलायमानं प्रपञ्चामाचक्ष्महे येनायमाश्रयो न स्यात् इति.......प्रतिभासमानाकारस्य

बहिरलापे विज्ञानाकार एवायमाश्रितः स्यात्। तथा च माहायानिकपक्षानुप्रवेशो दुर्निवारः स्यात् ।.........ततश्च बाह्यार्थस्यापलापो नास्तीति निर्णयः। विद्योदयादनन्तरं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य असत्वलक्षणमपलपनमिष्टमेवेति'।

इतना ही नहीं, 'न्यायमकरन्द' ने शंकर की इस बात की भी गवाही दी है कि हमारे यहां अभाव आत्यन्तिक नहीं है किन्तु ब्रह्मपर्यवसान ही है अथवा यों कहिए कि कहीं-ही-कहीं है 'न हि निषेधवाक्येषु कस्यचिद् आत्यन्तिको निषेधः। किन्तु किञ्चित् क्वचिदिति'। 'पञ्चपादिका' के मनीषी चिन्तक (पद्मपाद, सनन्दन) ने भी इस बात पर जोर दिया है कि वेदान्त में प्रतिष्ठित 'असत्' के स्वरूप से बौद्ध 'असत्' में महान् विभेद है। उनका कहना है कि अध्यस्त वस्तु भी असत् नहीं हुआ करती, क्योंकि यदि वह वैसी हो तो फिर वह प्रतिभास ही नहीं कर सकती। और माहायानिक मानते हैं कि सब असत् ही है। 'नाप्यध्यस्तमसदेव,तथात्वे प्रतिभासायोगात्। ननु सर्वमेवेदमसदिति भवतो मतम्।'

'पञ्चपादिका' पर 'विवरण' लिखने वाले आचार्य प्रकाशात्मन् का भी इस विषय में साक्ष्य सुन लीजिए। वे कहते हैं कि वेदान्तवाद को सुगत-विज्ञानवाद के समान कहना एक 'दुर्जन-रमणीय' वाणी है। 'दुर्जनरमणीयां वाचं जल्पति सुगतविज्ञानवादसमानोऽयं वेदान्तवाद इति'। (पञ्चपादिका-विवरण)। किन्तु शांकर दर्शन का सौगत मत से क्या सम्बन्ध है, इसका सब से अच्छा निरूपण तो प्रायः दो के द्वारा ही किया हुआ दिखाई पड़ता है। अर्थात् सर्वज्ञात्ममुनि (९००) के द्वारा तथा श्रीहर्ष (११९०) के द्वारा। इनमें भी सर्वज्ञात्ममुनि का किया हुआ निरूपण अत्यन्त विशद है और साथ ही काव्यमय भी। पहले ही अपने 'संक्षेप शारीरक' में आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि इस प्रकार समस्या का अवतरण करते हैं—

'आपका यह दर्शन शाक्यभिक्षु-दर्शन के समान दिखाई पड़ता है। अगर बाह्य वस्तु मिथ्या है तो फिर ये दोनों दर्शन क्यों नहीं आपस में समान हैं? 'ननु शाक्यभिक्षुसमयेन समः प्रतिभात्ययं च भवतः समयः। यदि बाह्यवस्तु वितथं नु कथं समयाविमौ न सदृशौ भवतः'॥ २।२५। फिर आगे यह भी कहते हैं कि यदि 'बोध्य' को छोड़ 'बोध' को ही तुम परमार्थ का शरीर बताते हो, तब तो मालूम पड़ता है कि यह सब अपना मत तुमने बुद्ध मुनि से ही लिया हुआ है—

यदि बोध एव परमार्थवपुः न तु बोध्यमित्यभिमतं भवति। ननु चाश्रितं भवति बुद्धमुनेः मतमेव कृत्स्नमिह मस्करिभिः २।२६

तो फिर तुम वैदिक मुनि कैसे हो? तुम तो भदन्त मुनि (बुद्ध) के समान हो!

उपयन भदन्त मुनिना सदृशः कथमेष वैदिकमुनिर्भवति २।२७ । इन सब पूर्वपक्षों का समाधान करते हुए सर्वज्ञात्ममुनि कहते हैं कि 'मिथ्यात्व' तो अद्वैत वेदान्त में है, किन्तु 'असत्व' नहीं है और फिर बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद पर प्रतिष्ठित है और वेदान्त दर्शन स्थिरत्व पर, अतः दोनों में लेश मात्र भी साम्य नहीं है। इसी तथ्य को उनका यह निम्नलिखित विचित्र श्लोक स्पष्ट करता है—

परमात्मसंश्रयतयोजनितं प्रविभक्तमेव तु परस्परतः ।
स्थिरत्वमभ्युपेतमिह नः समये ननु मातृमानविषय-प्रभृति ॥

संक्षेप शारीरक २।२८

श्री हर्ष अपने 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' (प्रथम परिच्छेद) में कहते हैं कि सौगत मतवादियों और ब्रह्मवादियों में यही मुख्य विभेद है कि जब कि सौगत मत सब को अनिर्वचनीय कहता है तो ब्रह्मवादी विज्ञान से व्यतिरिक्त इस विश्व को सत्व और असत्व से अनिर्वचनीय कहते हैं—'एवं च सति सौगतब्रह्मवादिनोः को विशेष इति चेदयं विशेषः यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति .... विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सत्वासत्वाभ्यामनिर्वचनीयं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते' ।

इस प्रकार हमने ऊपर दो समानान्तर और परस्परविरुद्ध मतों को देखा है, जो स्वयं शंकर के सम्प्रदाय तथा अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों के द्वारा शांकर दर्शन के सौगत दर्शन के साथ सम्बन्ध को लेकर प्रकटित किए गये हैं। यह प्रश्न इतना गूढ़ और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है कि बिना शांकर मत की गूढ़तम सूक्ष्मताओं का विवेचन किये इसका निर्णय नहीं किया सकता, और फिर उतना ही जरूरी है उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन को उसके ठीक रूप में समझना भी। यदि बौद्ध दर्शन के उसी स्वरूप को हम ठीक समझते हैं अथवा यों कहिए कि यदि बौद्ध दर्शन की अन्तिम बात वही है जैसी कि वह शंकर और उनके अनुयायियों के द्वारा ब्रह्मसूत्र-भाष्य और उसकी टीकाओं में प्रदर्शित की गई है, तब तो फिर बौद्ध दर्शन के साथ शांकर दर्शन के सम्बन्ध के अधिक विवेचन करने का अवसर ही नहीं रहता क्योंकि फिर तो शंकर ने जो बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान किए हैं उन्हीं से हमें निर्णय दे देना चाहिए। अथवा शांकर दर्शन के ही एक दो और व्याख्याकारों के साक्ष्य को देखकर इसे समाप्त कर देना चाहिए। किन्तु ऐसा हम नहीं कर सकते। हमें वैष्णव आचार्यों के मतों को उनका पूरा मूल्य देना होगा और साथ ही यह भी देखना होगा कि बौद्ध दर्शन के जिस रूप का खण्डन शंकर ने किया है क्या वही उसका

मौलिक रूप है अथवा जिसे वे अपना मत समझ कर स्थापित कर रहे है क्या वही पूर्वकालीन बौद्ध मत भी है, जिसका उन्हें ज्ञान नहीं था। हम शांकर दर्शन के मूल भूत सिद्धान्तों में से एक-एक को लेकर दोनों दर्शनों के इस विषयक दृष्टिकोण को उपस्थित करेंगे।

मायावाद

'आत्मैकत्व विज्ञान' शांकर दर्शन की मूल प्रतिष्ठा है और वह आधारित है उपनिषदों के गम्भीर प्रज्ञानों में जहां से शंकर ने उसे लिया है। 'ज्ञानस्य ह्येषा परा काष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम्' (ज्ञान की यह परम काष्ठा है, यह जो कि आत्मा की एकता का ज्ञान) यह एक शंकर का वाक्य उनके समग्र दर्शन की पूरी व्याख्या कर देता है। 'आत्मैकत्व विज्ञान' से ही सम्बन्धित समस्या है 'माया' की, जो हमें व्यथित करने के लिए उपस्थित है। स्वरूपत: वह कुछ नहीं है, किन्तु उसने आकुलीकृत कर दिया है दुनिया के श्रेष्ठतम मस्तिष्कों को भी। जब शंकर नहीं समझ सके (या कहिए पूर्व मनीषी भी) तो उन्होंने माया को निकाला, किन्तु जब हम माया को भी नहीं समझ पावें तो क्या निकालें? इस लेखक का विचार है कि वैष्णव आचार्य शंकर के मायावाद को समझ नहीं सके। इसके पचाने के लिए बड़े बल की जरूरत है। जब वैष्णव आचार्य शंकर के मायावाद को नहीं पचा सके तो उन्होंने शंकर की निन्दा करनी शुरू कर दी। निश्चय ही शंकर का साहस अपार है। जब हम भास्कर जैसे भेदाभेदवादी को भी 'माहायानिकबौद्धगथितं मायावादम्' कहते हुए देखते हैं तो हमें आश्चर्य होने लगता है कि क्या सचमुच शंकर मायावाद के लिये बौद्धों के ऋणी हैं। निश्चय ही इस प्रकार के प्रस्ताव को देखकर हम मायावाद के प्राचीन इतिहास की ओर देखते हैं, अर्थात् उपनिषदों में उसको स्वरूप को देखने की ओर प्रवृत्त होते हैं। किन्तु यहां भी एक बड़ा विवाद है। जो आचार्य शंकर के 'मायावाद' को 'माहायानिक बौद्धगाथित' कह चुके, वे उपनिषदों में भी उसकी प्रतिष्ठा कैसे होने देंगे[1]? और फिर वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने वाले विद्वानों के भी तो मत इस विषय में कहां मिलते हैं? डायसन और थीबो के इस विषयक मतों में कब समानता है! अत: इस

---

(१) जब कि उनके पास इस प्रकार की पौराणिक भावनाएँ भी तो उपस्थित हैं:
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च। पद्मपुराण १।१४

....

वेदार्थवन् महाशास्त्रं। मायावादमवैदिकम्। पद्मपुराण

सम्बन्ध में बड़ी सावधानी से चलने की आवश्यकता है। निर्गुण ब्रह्म जगत् का कारण है, किन्तु उस निर्गुण, निर्विशेष तत्व में से यह गुणमय, प्रपञ्चमय जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो गया और उत्पन्न होने पर भी वह ब्रह्म निर्विकारी कैसे बना रहा, इसी समस्या के हल के लिए 'माया' का आश्रय शंकर ने लिया है। माया के कारण ही निर्गुण और अखण्ड ब्रह्म नामरूपात्मक जगत् के रूप में परिवर्तित-सा प्रतीत होता है। भेद सभी कल्पित है। एक ही ब्रह्म की सत्ता खण्ड-खण्ड होकर हमें दीखती है। और वह माया के कारण। माया न सत् है और न असत्। वह अनिर्वचनीय है। माया में दो शक्तियां हैं, आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति के कारण माया आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढँक लेती है और दूसरी शक्ति के आधार पर वह जगत् के पदार्थों की सृष्टि करती है (अनिर्वचनीय रूप से)। इसी तथ्य को 'संक्षेप शारीरक' में इस प्रकार समझाया गया है—

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्म रूपम्
जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगात्
आत्मत्वमात्रविषयाश्रयता बलेन[1] ।। १।२०

इतना संक्षिप्त रूप से माया के विषय में कह कर अब हम इस विचार पर आते हैं कि विज्ञानवादी बौद्धों ने भी इसे प्रयुक्त किया है और प्रपञ्च विषय को ही लेकर, यथा शंकर और उनकी परम्परा के आचार्यों ने। अद्वैत वेदान्त में भी माया का सम्बन्ध ज्ञेय या विषय से रहता है जब कि अविद्या का ज्ञाता या

---

(१) मिलाइए 'अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्। आवरणशक्तिस्तावत् अल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृ बुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्, घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चाति मूढः, तथा बद्धवति यो मूढ़ दृष्टेः स नित्योपलब्धिः स्वरूपोऽहमात्मा। विक्षेपशक्तिऽस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृत रज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयति एवमज्ञानमपि स्वावृत्तात्मनि विक्षेप-शक्ति आकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यं, तदुक्तम्——विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्। वेदान्तसार (सदानन्द-कृत)।

विषयी से, यद्यपि शंकर ने तो इतना विभेद नहीं भी रक्खा है और कहीं कहीं क्या बहुत जगह 'अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्' आदि कह कर माया और अविद्या के शब्दों के प्रयोग में बाहर और भीतर का विभेद नहीं रक्खा है। हमें भी मूल बात ही पकड़नी चाहिए। 'लंकावतार सूत्र' में शून्यवादियों और विज्ञानवादियों के एक विवाद का वर्णन है, जो मायावाद के प्रश्न को लेकर है। विज्ञानवादी कहता है सर्वशून्यवादी को सम्बोधित कर—'सर्वं जगत् मायात्मकतया स्वभावशून्यमुपगतं माध्यमिकवादिभिः तदा मायास्वभावसंवृतिग्राहिणी बुद्धिरपि भवतां नास्ति बाह्यवत्। तथा च माया केनोपलभ्यते ग्राहकवस्तु सज् ज्ञानमन्तरेण। यस्य तु विज्ञानमेव परमार्थसत् ग्राह्यरूपतया भ्रान्तं तथा प्रतिभासते न तस्यायं दोषः'। अर्थात् बाह्यार्थशून्यवादी सर्वशून्यवादी पर यह आक्षेप करता है कि माध्यमिक सब जगत् को मायात्मक और स्वभाव-शून्य कहते हैं, किन्तु जिस प्रकार वे बाह्य पदार्थों का अपलाप करते हैं उसी प्रकार वे बुद्धि की भी तो सत्ता स्वीकार नहीं करते जो भी उनके लिए माया स्वरूप ही है, तो फिर जब ग्राहक वस्तु रूप सत् बुद्धि है ही नहीं, तो फिर वे माया का ग्रहण ही किससे करते हैं? किन्तु वे, जो परमार्थ ज्ञान विज्ञान को ही मानते हैं, जो सत् है, उनके लिए तो ग्राह्य रूप जगत् भ्रान्ति के सदृश ही भासता है जो ठीक है। इस पर आपत्ति करते हुए माध्यमिक कहते हैं कि जब माया ही नहीं है, तब भ्रान्ति ही किसके द्वारा ग्रहण की जा सकती है?—'यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति माया केनोपलभ्यते'। जब तुम हाथी इत्यादि बाह्य पदार्थों को ही नहीं मानते और विज्ञानमात्र की ही सत्यता स्वीकार करते हो तो बाहर का तो पदार्थ तुम्हारे लिए कहीं है ही नहीं, तो फिर भास क्या करता है? 'यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते'। दृश्य तो तुम्हारे यहां (विज्ञान-वादियों के यहां) है ही नहीं, विज्ञान ही तुम्हारे लिए ग्राह्य है और विज्ञान ही ग्राहक। वेद से व्यतिरिक्त सभी वेद्य माया है, तो किसकी किससे प्रतीति तुम करते हो? चित्त तो चित्त को नहीं देख सकता और चित्त भी जब माया है, तब कौन किसको ग्रहण करेगा? 'चित्तमेव यदा माया तदा किं केन गृह्यते। उक्तञ्च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति'॥ इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण में हम देखते हैं कि मायावाद शंकर से भी ५००-६०० वर्ष पूर्व प्रचलित था और विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही उसे अपने-अपने ढंगों से स्वीकार करते थे। चूंकि श्रौत परम्परा के प्रसिद्ध आचार्यों ने भी शंकर के मायावाद को 'अवैदिक' बताया है, अतः यदि हम बौद्ध आचार्यों के ऋण को

शंकर पर मानें तो यह अनुचित न होगा। भास्कर जैसे निष्पक्ष आचार्य (भेदाभेदवादी थे और वैसे भी भास्कर भाष्य साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रायः विमुक्त है) का साक्ष्य भी हमें प्राप्त ही है 'माहायानिक बौद्धगाथितं मायावादम्'। किन्तु ऐसा करना शंकर की मौलिकता पर आघात करना होगा। हमारे लिए यह समान ही है कि शंकर ने अपने विचार श्रुतियों से लिए हैं या बौद्ध आचार्यों से (केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही इसका महत्व है, या साम्प्रदायिक दृष्टि से) क्योंकि ज्ञान पर हम किसी का एकाधिकार नहीं मानते। जो बात हमारे लिए महत्वपूर्ण है वह यह है कि शंकर ने पूर्व बौद्ध आचार्यों से माया के सिद्धान्त को अपने पूज्याभिपूज्य परमगुरु (गौडपाद) के माध्यम से अथवा अन्य स्रोतों से लिया है किन्तु शंकर का मायावाद बिलकुल वही नहीं है जो बौद्धों का। विज्ञानवादी के लिए बाह्य धर्मों के मायामयत्व का अभ्युपगम नास्तितासाधर्म्य के कारण है और माध्यमिकों का है सब के ही दृष्ट-नष्ट-स्वरूप होने के कारण, परन्तु शंकर का है सत् और असत् से अनिर्वचनीय होने के कारण ही।

उदाहरण के लिए 'लंकावतार सूत्र' के इस उद्धरण को लीजिए 'पुनरपरं महामते न माया नास्ति साधर्म्यदर्शनात् सर्वधर्माणां मायोपमत्वं भवति। महामतिराह—किं पुनर्भगवन् विचित्रमायाभिनिवेशलक्षणेन सर्वधर्माणां मायोपमत्वं भवति ? उत वितथाभिनिवेश लक्षणेन ? तद्यदि भगवन् विचित्रमायाभिनिवेशलक्षणेन सर्वधर्माणां मायोपमत्वं भवति हन्त तर्हि भगवन् न भावाः मायोपमाः। तत्कस्य हेतोः ? रूपस्य विचित्रलक्षणाहेतुदर्शनात्। न हि भगवन् ! कश्चिद्धेतुरस्ति येन रूपं विचित्रलक्षणाकारं ख्यायेत मायावत्। अतएव तस्मात् कारणान्न भगवन् विचित्रलक्षणाभिनिवेश साधर्म्याद्भावा मायोपमाः। भगवान् आह—न महामते विचित्र माया लक्षणाऽभिनिवेशसाधर्म्यात् सर्वधर्माः मायोपमाः। किं तर्हि महामते वितथाशु विद्युत् सदृश साधर्म्येण सर्वधर्मा मायोपमाः। तद्यथा विद्युल्लता क्षणभंगदृष्टनष्टदर्शनं पुनर्बालानां ख्यायते। एवमेव महामते सर्वभावाः स्वविकल्पसामान्यलक्षणाः प्रविचयभावान्न ख्यायन्ते रूप लक्षणाभिनिवेशतः। तत्रेदमुच्यते—

न माया नास्ति साधर्म्याद्भावानां कथ्यतेऽस्तिता।
वितथाशुविद्युत्सदृशाः तेन मायोपमाः स्मृताः॥

शंकर के द्वारा यह मत खण्डित कर ही दिया गया है, अतः फिर अब यहां पिष्टपेषण करने की जरूरत नहीं। इस प्रकार यह निश्चित है कि शंकर

का मायावाद पूर्ववर्ती बौद्ध मायावाद से कुछ विभिन्न स्वरूप का है। परन्तु ज्ञात या अज्ञात रूप से उसका स्रोत तो वही है। वैष्णव आचार्यों ने उसकी इतनी भर्त्सना की है, उसे अवैदिक बताया है और विज्ञानभिक्षु जैसे आचार्य ने उसे 'अप्रामाणिक' माना है, उसका भी रहस्य यही है।

जगत् के दृष्ट-नष्ट-स्वरूप होने के कारण शंकर ने उसे वितथ, नास्तित्व-रूप अथवा मायामय नहीं बताया, किन्तु उसके विचित्र होने के कारण उसे मायामय बताया है और उसके आधारस्वरूप परम सत्य की अपेक्षा में उसे बताया है मिथ्या।

जगन्मिथ्यात्व का स्वरूप

'नामरूपाभ्यामस्पृष्टं यदित्येतत् तद् ब्रह्म, नाम रूपविलक्षणं नाम रूपाभ्यामस्पृष्टं.......एवं लक्षणं ब्रह्म' (छान्दोग्य–भाष्य ८।१४।१) 'नाम रूप से अस्पृष्ट जो है वह ब्रह्म है, नाम रूप से विलक्षण, नाम-रूप से अस्पृष्ट, इस लक्षण वाला ब्रह्म'। शंकर का यह गम्भीर निनाद बौद्ध प्रज्ञानों में अलक्षित है—'अविद्या-कल्पितेन दोषेण पारमार्थिकं वस्तु न दूष्यति न च मिथ्याज्ञानं परमार्थवस्तु दूषयितुं समर्थः (गीता भाष्य १३।२) अर्थात् 'अविद्या-कल्पित दोष पारमार्थिक वस्तु को दूषित नहीं कर सकते, न मिथ्याज्ञान दूषित कर सकता है परमार्थ वस्तु को।' आत्म-ज्योति कार्य और कारण से अतीत होने पर भी कार्य और कारण को अवभासित करने वाली है 'कार्यकारणातीतं तथापि कार्यकारणावभासकं—आत्मज्योतिः' (बृहदारण्यक भाष्य ४।३।१०)। यह जगत् स्वविषय रूप (अपने क्षेत्र में) सत्य ही है। 'स्व विषये सर्वं सत्यमेव' (छान्दोग्य-भाष्य ८।५।४) किन्तु 'अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तदात्मना विनिर्मुक्तमसत् सम्पद्यते' (कठ-भाष्य २।२०) अर्थात् अणु या महान् जो कोई वस्तु है, यदि आत्मा से विरहित करके उसे देखें, तो वह 'असत्' ही है।

अध्यास को भी लें तो मृगतृष्णिका आदि भी बिना किसी आधार के नहीं होते 'न हि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदाः भवन्ति'। रज्जु में यदि सर्प की भ्रान्ति करनी है, तो सर्प पहले होना (सत्) ही चाहिये।

अध्यास

'रज्ज्वात्मना अवबोधात् प्राक् सर्पः सन्नेव भवति' (बृहदारण्यक-भाष्य १।६)। असत् शशविषाण की कहीं उत्पत्ति नहीं देखी गई। 'असतः शशविषाणादेः समुत्पत्यदर्शनात् (तैत्तिरीय भाष्य २।६)। इस प्रकार शंकर ने अनेक तर्कों से दिखाया है कि नामरूपात्मक जगत् अविद्या से प्रत्युपस्थापित है, अविद्याकल्पित है, किन्तु (और यह 'किन्तु' अत्यन्त

महत्वपूर्ण है यदि हमें बौद्ध दर्शन के साथ शंकर के विचार को उसके ठीक रूप में मिलाना है) 'नामरूपपक्षस्यैव विद्याविद्ये' अर्थात् विद्या, और अविद्या केवल नामरूप-पक्ष के ही हैं) । 'न हि परमार्थतो निर्विकल्पे ब्रह्मणि कश्चिद्विकल्प उपपद्यते' (तैत्तिरीय भाष्य २।८) । परमार्थ रूप निर्विकल्प ब्रह्म में कोई विकल्प उत्पन्न नहीं होता । इतने से सम्भवतः हमने दोनों दर्शनों के मायावाद और जगन्मिथ्यात्व सम्बन्धी सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डाला है । गौडपाद के दर्शन को विवेचित करते समय हम पहले कुछ और उद्धरण माहायानिक आचार्यों के माया वाद सम्बन्धी सिद्धान्तों के दे चुके हैं, अतः उन्हें भी मिलाकर देखने से यह विषय कुछ और स्पष्ट हो जायगा, ऐसा हमारा विश्वास है ।

व्यवहार और परमार्थ अथवा संवृति और परमार्थ सत्य

सत्य-द्वय के सिद्धान्त के विषय में शंकर पर बौद्ध आचार्यों के ऋण के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते । कुमारिल ने 'सत्य-द्वय-कल्पना' का बड़ा तीव्र प्रत्याख्यान किया है और उसी के आधार पर 'सर्वं ज्ञानजातं यथार्थम्' इस प्रकार कह कर आचार्य रामानुज ने किया है । जो तर्क कुमारिल ने बौद्धों के खिलाफ उठाए हैं वही तर्क रामानुज ने शंकर के विरुद्ध प्रयुक्त किए हैं । इसलिए कुमारिल और रामानुज के तर्क देख लेने पर इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इस सत्य द्वय के सिद्धान्त के सम्बन्ध में शंकर बौद्धों के ऋणी हैं । भगवान् शंकर ने व्यवहार और परमार्थ सत्यों का बड़ा व्यापक प्रयोग किया है और उन सबकी समता हम प्रायः माध्यमिकों में पाते हैं । यहां हम केवल शंकर के इस विषय सम्बन्धी कुछ उदाहरण देते हैं और उन्हें चौथे प्रकरण में निर्दिष्ट एवं विस्तार से उद्धृत माहायानिकों के इस विषय सम्बन्धी विचारों से तथा इसी प्रसंग में गौडपाद के दर्शन से भी मिलान करने से यह बात बड़ी आसानी से समझ में आती है कि दोनों में अथवा यों कहिये कि तीनों में (अर्थात् शंकर, गौडपाद और माहायानिक आचार्यों में) इस विषय में कितनी गहरी समानताएँ हैं । शंकर के सामने यदि कोई भी विरोधी श्रुति आती है जो उनके अद्वैत से मेल नहीं खाती तो वे झट कह देते हैं कि यह तो व्यवहार-अवस्था के लिए है और 'सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह' (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१४) । इस प्रकार के अनेक उदाहरण शंकर के भाष्यों में भरे पड़े हैं[१], विशेषतः उपनिषदों के भाष्यों में । किन्तु इस सत्य-द्वय के सिद्धान्त को शंकर

(१) विशेषतः देखिए बृहदारण्यक भाष्य ३।५।१

ने श्रुतियों या ब्रह्मसूत्रों के भाष्यों तक ही सीमित नहीं रक्खा है, उसे उन्होंने ब्रह्म और जगत् के विभेद को सूचित करने के लिए भी प्रयुक्त किया है 'सत्यमुक्तं सत्यत्वं विकारणां—तत्तु न परमार्थापेक्षया । किं तर्हि ? इन्द्रियविषयापेक्षया उक्तं ।' (छान्दोग्य भाष्य ७।१७) । पुनः 'सत्यं च व्यवहारविषयं......न परमार्थ सत्यं । एकमेव हि परमार्थ सत्यं ब्रह्म ।' (तैत्तिरीय भाष्य २।६)

माहायानिकों ने संवृति को अविद्या कहा था और उसे आवरण करने वाली बताया था 'अभूतं ज्ञापयत्यर्थं भूतउावृत्य वर्तते । अविद्या जायमानेव कामलातंकवृत्तिवत्' । देखिए किस प्रकार वह वेदान्तियों के 'अज्ञान' के दोनों काम अर्थात् 'आवरण' और 'विक्षेप' निकाल देती है । शंकर भी तो कहते हैं 'अविद्यया अन्यत् वस्त्वन्तरमिव पश्यति'[१] (प्रश्न-भाष्य ४।५) । इसी प्रकार शंकर ने अनेक स्थलों पर प्रकट किया है व्यवहार की अवस्था से मनुष्य जब उठता है तो परमार्थ अवस्था में उसको व्यवहार नहीं रहता, अर्थात् फिर ब्रह्म ही ब्रह्म अनुभव होता है, प्रपञ्च नहीं रहता । (इससे व्यतिरिक्त) माहायानिकों ने इस तथ्य को तो नहीं, किन्तु इसके कुछ सदृश भाव को ही इस प्रकार प्रकट किया है—

सम्यक् मृषा दर्शन लब्ध भावं रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः ।
सम्यक् दृशां यो विषयः स तत्वं मृषा दृशां संवृतिसत्यमुक्तम् ।।

(बोधिचर्यावतार)

इसी सत्य-द्वय के विभाग से स्वभावतः हम असत्य से सत्य-प्राप्ति विषयक सिद्धान्त पर आते हैं। व्यावहारिक सत्य एक प्रकार से असत्य का ही नाम है । उस व्यावहारिक सत्य से पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति होती है, ऐसी भावना शंकर के दर्शन में वर्तमान है । बौद्धों में भी बिलकुल यह इसी प्रकार से है । 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' । यह भावना दोनों जगह वर्तमान है । आचार्य शंकर ने अपने इस मत का दिग्दर्शन ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय और प्रथम पाद के आरम्भणाधिकरण में किया है और रामानुज ने इसका प्रत्याख्यान श्रीभाष्य के जिज्ञासाधिकरण में किया है [२] ।

असत्य के माध्यम से सत्य की प्राप्ति

---

(१) शंकर सिद्धान्त में अविद्या की निवृत्ति के लिए देखिए बृहदारण्यक भाष्य ४।३।२०; तैत्ति० २।८-९; ५।१।१; बृहदारण्यक ० ४।४।२०; ५।१।१; छान्दोग्य० ८।१२।१; बृहदारण्यक० ४।४।६; ४।३।२३;, देखिए कोकिलेश्वर शास्त्रीः अद्वैत फिलासफ़ी, पृष्ठ २३२, पदसंकेत भी

(२) कुमारिल ने भी ऐसे ही किया है बौद्धों के सिद्धान्त को लेकर 'संवृत्या

माहायानिकों के कार्य-कारणभाव के अपलाप करने के विषय में हम चतुर्थ प्रकरण में ही कह आए हैं। उनके कार्य-कारण भाव के अपलाप की विशेषता यह है कि वह निःस्वभाव में पर्यवसित होता है।

कार्य-कारणभाव का अपलाप

'भावानां निःस्वभावानां न सत्ता विद्यते यतः।
सतीदमस्मिन् भवतीत्येतन्नैवोपपद्यते ॥'

शंकर की स्थिति इससे भिन्न है। यहां निःस्वभाव नहीं, किन्तु सभी स्वभावों को देने वाला है, सभी कारणवादों को कारणता प्रदान करने वाला है 'कार्यकारणातीतं तथापि कार्य-करणावभासकं—आत्मज्योतिः (बृहदारण्यक-भाष्य ४।३।१०)

'कूटस्थात्....कारणात् कार्यमुत्पद्यते' (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।२६)

'न हि वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति। परमार्थतः कारणात् व्यतिरेकेण अभावः कार्यस्य' (ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।१।४)। यहीं शंकर और बौद्ध आचार्यों का इस विषय में विभेद है।

जो बात कारणवाद के स्वरूप में है वही बात प्रमाण-विचार के सम्बन्ध में भी है। प्रमाण-प्रमेय व्यवहार कुछ माध्यमिकों ने नहीं छोड़ा है, सब को ही शून्य या निःस्वभाव बना कर उड़ा दिया है 'प्रमाणमप्रमाणं चेत् ननु तत्प्रमितं मृषा। तत्वतः शून्यता तस्मात् भावानां नोपलभ्यते'॥ बोधिचर्यावतार। निश्चय ही बाह्यार्थ निषेधवाद का खण्डन करने वाले शंकर की ऐसी स्थिति नहीं हो सकती, किन्तु परमार्थ अवस्था की अपेक्षा में 'अविद्यावद्विषय' तो उन्होंने भी उसे बताया है। उनका तर्क अध्यासवाद पर प्रतिष्ठित है और उसे इस प्रकार हमें समझना चाहिए। 'देह और इन्द्रियों में जब तक 'मैं' और 'मेरा' का अभिमान नहीं है, तब तक प्रमाता होने की भावना का उदय नहीं हो सकता, अतः प्रमाण-प्रवृत्ति भी सम्भव नहीं हो सकती। इन्द्रियों का बिना उपादान किए प्रत्याक्षादि व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता और बिना अधिष्ठान के इन्द्रियों का व्यवहार नहीं हो सकता। और जब तक देह में 'आत्म' भाव का अध्यास नहीं किया जाय, तब तक देह कुछ नहीं कर सकती। यदि यह सब कुछ न हो तो असंग

प्रमाण-विचार

यत्स्वरूपं हि तद् वाङ्मात्रनिबन्धनम्। हेतुत्वं परमार्थस्य प्रतिपत्तुं न शक्नुयात्॥ निरालम्बवाद।

आत्मा का प्रमातृत्व भी नहीं बन सकता। और जब प्रमातृत्व नहीं है, तब प्रमाण-प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। अत: अविद्यावद्विषय ही हैं सब प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र'।[1] शंकर के तर्कों में एक प्रशान्तवाहिता है, एक अनुद्विग्नता। बौद्ध विचारकों में एक वेग है, एक तीव्र प्रतिक्रिया, भीषण तेज। अब हम बौद्ध और शांकर दर्शन के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय पर आते हैं, अर्थात् शून्य, ब्रह्म और अनिर्वचनीय के सम्बन्ध पर।

शून्य, निर्गुण और अनिर्वचनीय पर उपसंहाररूप से कुछ कथन

जैसा कि हम पूर्व निर्दिष्ट कर चुके हैं, अधिकतर पूर्वोद्धृत आचार्यों के मत इसी समस्या की ओर निर्देश करते हैं। शंकर के ब्रह्म और श्रीहर्ष के अनिर्वचनीय को हम अच्छी तरह से जानते हैं, अत: उनके विषय में हमारे मन में कुछ अधिक विकल्प नहीं उठते क्योंकि वे सब संगत हैं। हम 'शून्य' के विषय में चतुर्थ प्रकरण में भी विचार कर चुके हैं और वहां हमने विशेषत: माध्यमिकों के इस अनुनय को ठीक रूप में ही स्वीकार करने का प्रस्ताव किया है कि यदि हमें माध्यमिकों के साथ न्याय करना है तो निश्चय ही उन मनस्वियों के गम्भीर चिन्तनों में तथाकथित 'अभाव' की कल्पना हमें नहीं करनी चाहिए। 'अभावं न विकल्पयेत्'। शायद इतने से ही यह समझ लिया जायगा कि यह लेखक कहां जा रहा है। भगवान् शंकर ने जो यह कहा है कि हमारा प्रतिषेध तो ब्रह्मावसान है और सौगत मत का अभावावसान, (ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेध: न अभावावसान:) वह उन भगवान् ने आंशिक रूप में ही ठीक कहा है। ब्रह्मवादियों के लिए तो यह कहना ठीक है कि ब्रह्म-पर्यन्त उनका प्रतिषेध है, किन्तु 'वैनाशिकों' को तो गलत ही समझा गया है। हमारा विनम्र अभिप्राय है कि यदि शब्दों के पीछे लड़ना नहीं है तो एक अर्थ में 'ब्रह्मावसान' प्रतिषेध शून्यवादियों का भी है। यह एक अत्यन्त साहसिक वचन है, किन्तु देखिए—

(१) देहेन्द्रियादिषु अहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहार: सम्भवति। न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याक्रियते। न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति असंगस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य का उपोद्घात।

तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं जगत् ।
तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत् ॥
यदि नास्ति स्वभावश्च परभावः कथं भवेत् ।
स्वभावपरभावाभ्यामृते कः स तथागतः ॥

क्या इन चार पंक्तियों में समग्र वेदान्त दर्शन उपस्थित नहीं हो जाता ? क्या इन चार पंक्तियों के ही प्रकाश में समग्र वेदान्त दर्शन व्याख्यात नहीं किया जा सकता ? 'ब्रह्म' क्या है ? एक नाम ही तो है जिसके द्वारा परम सत्यता का निर्देश करते हो[1] ? 'आत्मा' भी क्या वैसे ही नहीं है ? 'तथागत' क्या है ? 'श्री' भी कह सकते हो, 'नारायण' भी कह सकते हो, 'राधा' भी कह सकते हो, 'कृष्ण' भी कह सकते हो और सबका कर सकते हो वेदान्त में समन्वय । 'तथागत' ने क्या बिगाड़ा है ? अब तो शून्य उनमें समा गया । 'शून्य' नहीं अब 'तथागत' है । और तथागत, तथागत

'तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं जगत्'

तथागत जिस स्वरूप वाले हैं उसी स्वरूप वाला यह जगत् है । तथागत में यह जगत् और जगत् में तथागत हैं । तो क्या तथागत शून्य नहीं हैं ? क्या पाप करते हो ? तथागत और शून्य ?

शून्यमिति न वक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत्
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ।

तथागत को शून्य कह कर मत पुकारो, अशून्य भी उन्हें मत कहो, उभय न कहो, अनुभय मत कहो । उनको दिया हुआ नाम केवल प्रज्ञप्ति के लिए है । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' । 'स्कन्ध' और 'नैरात्म्य वाद' कहां चले गए, जो अब ब्रह्मवादियों की तरफ बढ़ते हुए चले आ रहे हो, भदन्तो ! उनका क्षेत्र चला गया, व्यवहार में, संवृति के गर्भ में वे छिप गए । अब तो 'तथागत' के साथ ही तादात्म्य है ।

स्कन्धो न नान्यः स्कन्धेभ्यो नास्मिन् स्कन्धा न तेषु सः ।
तथागतः स्कन्धवान्न कतमोऽत्र तथागतः ॥

'तथागत' स्कन्ध नहीं है, स्कन्धों से अन्य भी नहीं है । तथागत में स्कन्ध स्थित नहीं हैं, स्कन्धों में तथागत स्थित नहीं हैं । तो फिर यह तो कोई कुरुक्षेत्र की भूमि से बोलता दिखाई पड़ता है 'मयि सर्वमिदं प्रोतं.......न चाहं

---

(१) देखिए पीछे योगवासिष्ठ का दर्शन ।

तेष्ववस्थितः'। नहीं, कुरुक्षेत्र की भूमि से ही नहीं, याज्ञवल्क्य की यज्ञशाला से भी आवाज आ रही है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। अब यह शब्द 'कं ब्रह्म' के रूप में नहीं, किन्तु 'कः तथागतः' के रूप में आ रहा है :

यदि नास्ति स्वभावश्च परभावः कथं भवेत् ।
स्वभावपरभावाभ्यामृते कः स तथागतः ॥

तथागत में 'स्व' का, अपने का, भाव नहीं, पर का भाव तो होगा कहां से ? 'स्वभाव' और परभाव के विना अब प्रश्न यही है कि वह तथागत 'क' है। 'कः स तथागतः'। उसी देव को हवियां ले जाओ। इस प्रकार नागार्जुन ने स्पष्ट दिखला दिया है--

सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता य यस्युज्यते ।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्यता यस्य न युज्यते ॥

'शून्यता' का और 'सर्व' का कैसा योग ! कैसा समन्वय ! और सभी कारिकाओं के रचयिता महामनीषी नागार्जुन ही। 'सर्व' की भी सिद्धि उसी के लिए, जिस के लिये शून्यता की सिद्धि है। जिसको शून्यता' का योग नहीं हैं, उसको 'सर्व' भी क्या युक्त होगा ? 'शून्यता' और 'सर्व' एक ही चीज़ हैं। 'अभावं न विकल्पयेत्'। इस स्थिति में देखिए कि क्या 'ब्रह्मसिद्धि' कार की यह उक्ति सावकाश होती है या नहीं :

लब्धरूपे क्वचित् कञ्चित् तादृगेव निषिध्यते ।
विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य सम्भवः ॥

माध्यमिकों ने भी परम तत्त्व को 'निरभिलाप्य', 'अवाच्य', 'अनक्षर' और अनिर्वचनीय ही निर्णीत किया है। यह निश्चित है कि नागार्जुन के शून्य का अर्थ असत् नहीं है बल्कि वह सदसदनिर्वचनीय तत्त्व है। अतः शून्य और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है और केवल शून्य को बौद्ध आचार्यों के अभिप्राय से विभिन्न रूप में समझते हुए अद्वैत वेदान्ती उससे अपने ब्रह्म की विभिन्नता दिखाते रहे। श्री हर्ष का यह कहना कि बौद्ध दर्शन विज्ञान को भी मिथ्या बताता है जब कि वेदान्त विशुद्ध विज्ञान से अतिरिक्त सब को मिथ्या बताता है, ठीक नहीं है क्योंकि असंग और वसुबन्धु जैसे विज्ञानवादियों ने विज्ञप्तिमात्रता को मिथ्या नहीं बताया है। असंग ने महायान सूत्रालंकार में तथता-स्वरूप परमार्थ का लक्षण का लक्षण किया है 'न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा न जायते व्येति न चावहीयते। न वर्धते नापि विशुद्धयते पुनर्विशुद्धयते तत् परमार्थ लक्षणम्'॥ क्या इस परमार्थ के लक्षण और वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के लक्षण में एक अक्षर का भी

अन्तर है ? ऐसा लगता है कि असंग और वसुबन्धु के ग्रन्थ शंकर को प्राप्त नहीं थे और केवल धर्मकीर्ति और दिङ्नाग जैसे प्रतिक्रियावादी बौद्ध आचार्यों के क्षणिकवाद को ही शंकर ने बौद्ध दर्शन का सर्वस्व मान लिया है, जिसका उन्होंने निरसन किया है। अश्वघोष की तथता तो बिलकुल वेदान्त के ब्रह्म के समान है, यह बताने की यहां आवश्यकता नहीं। अतः कुछ वेदान्ती आचार्यों के विरोध के होते हुए भी ब्रह्म और शून्य एक हैं, अनिर्वचनीय हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं और इसी प्रकार का निश्चित साक्ष्य 'योग वासिष्ठ' का था, यह हम पहले देख चुके हैं। यह एक आश्चर्य का विषय है कि विज्ञानवाद के स्वप्न और माया की उपमाओं के विरुद्ध एक वस्तुवादी का रूप धारण करते हुए शंकर ने उनका तो विरोध किया था, किन्तु स्वयं अपने मायावाद की स्थापना के लिये उन्हीं उपमाओं का उपयोग उन्होंने किया था। वस्तुतः, जैसा यामाकामी सोजन ने हमें बताया है, विज्ञानवाद का जन्म तर्क से हुआ ही नहीं था[१], उसका जन्म और विकास योग की साधना से सम्बद्ध था, इसीलिये उसने 'योगाचार' की संज्ञा भी पाई थी। बौद्ध और वेदान्त दर्शन अपने सम्पूर्ण विकास की परम्परा में इसी समस्या में उलझे रहे कि विज्ञान नित्य है या अनित्य। बौद्ध दर्शन का अधिकतर झुकाव अनित्यता की ओर था और उसका कहना था कि वेदान्तियों का अल्प मात्र दोष परम तत्त्व को नित्य मानना है। दूसरी ओर विमुक्तात्म मुनि और सदानन्द यति जैसे अद्वैतवादी कहते रहे कि यदि बौद्ध विज्ञान को नित्य मान लें, यदि उनका शून्य सदसद्विलक्षण हो जाय, यदि शून्य असत् न रहे, तो उनका बौद्धों से कोई झगड़ा नहीं है, बौद्ध दर्शन वेदान्त में प्रवेश कर जायगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि हजारों वर्षों की दार्शनिक चिन्ता के बाद भी भारतीय मनीषा नित्यता-अनित्यतावाद के उस अतिवाद में ही पड़ी रही जिससे बचने के लिये तथागत ने उपदेश दिया था। राष्ट्र के सर्वोत्तम मस्तिष्कों का हजारों वर्ष का श्रम और उनका लौटकर तथागत के मौन पर ही आजाना, यही बौद्ध और वेदान्त दर्शनों के समग्र इतिहास का निष्कर्ष है। ब्रह्म को शून्यत्व की ओर ले जाने के कारण, आत्मा को शाश्वत विज्ञान का रूप देने के कारण, शंकर प्रच्छन्न या प्रकट बौद्ध थे, उसी प्रकार जैसे कि तथता और विज्ञप्तिमात्रता को ब्रह्मत्व के पास लाने के कारण अश्वघोष, असंग और वसुबन्धु थे प्रच्छन्न या प्रकट ब्रह्मवादी। वैष्णव आचार्यों ने अवज्ञापूर्वक आचार्य शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा था, किन्तु आज विचारकों के जगत् में बौद्ध धर्म अपनी महिमा को

(१) देखिए उनका ग्रन्थ 'सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट', पृष्ठ २१३

पुनः प्राप्त कर रहा है और बौद्ध होना, विशेषतः एक वेदान्ती के लिये, विशेष गौरव की बात है। यह उसके ज्ञान की सच्चाई की गवाही है, वेदान्त के निश्चयों का स्वाभाविक विकास है। शंकर वेदान्त के निष्कर्ष इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं, ऐसा बौद्ध शास्त्रों के साथ उनका मिलान करने से स्पष्ट हो जाता है। अतः हम चाहें तो, वैष्णव आचार्यों से विभिन्न अर्थ में; शंकर को प्रच्छन्न या प्रकट बौद्ध कह सकते हैं। और यह उनके प्रति निन्दा का नहीं, बल्कि गौरव का ही सूचक है।

शंकर को छोड़ कर जो चार शेष वेदान्त के आचार्य बचते हैं, वे तो सीधे बौद्धों के साथ कभी सम्पर्क में नहीं आए, क्योंकि उनके समय तक बौद्धों की परम्परा भारत में रही ही नहीं थी। इन वैष्णव आचार्यों ने तो शंकर पर ही आक्रमण कर बौद्धों पर भी आक्रमण की अपनी सन्तुष्टि मान ली है। जिस भक्ति रस का परिपाक भारत में इन मनीषियों के प्रज्ञानों के परिणामस्वरूप हुआ उसका विवेचन हम आगे करेंगे। चूंकि हमारा उद्देश्य यहां स्वतन्त्र रूप से भारतीय दर्शनों का विवेचन नहीं किन्तु उनको बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में देखना ही हमारा यहां काम है और चूंकि इन आचार्यों के भाष्यों में बौद्ध दर्शन के प्रति कोई नई बात कही हम नहीं पाते, अतः वे हमारे विचार के विषय नहीं हैं। किन्तु फिर भी 'यस्य पृथिवी शरीरम्' कहने वाले दर्शन के साथ हमारे द्वारा पहले उद्धृत 'तथागतो यत्स्वभावः तत्स्वभावमिदं जगत्' जैसे वाक्य मिलाने योग्य हैं। और फिर हे वैष्णव आचार्यों! आप भी तो सभी मनीषी वेदान्ती हो। अनेक स्तोत्रों को पाठ करने वाले, साथ ही गम्भीर विचारक मनीषियो! आपकी सेवा में एक बौद्ध 'आलमन्दार' उपस्थित करना यहां अनावश्यक न होगा जिसमें आप वैष्णव दर्शन की सर्वोत्तम भावनाएँ सर्वोत्तम रूप से प्रदर्शित देखेंगे, केवल इस भेद के साथ कि आलम्बन यहां बुद्ध हैं, स्वयं आपके पुराणों के मन्तव्यानुसार भगवत्स्वरूप हैं। लीजिये आलमन्दार स्तोत्र का यह बौद्ध संकरण!

'अनुकम्पक सत्वेषु संयोगविगमाशय।
अवियोगाशय सौख्याहिताशय नमोऽस्तु ते॥
सर्वावरण निर्मुक्त सर्वलोकाभिभू मुने।
ज्ञानेन ज्ञेयं व्याप्तं ते मुक्तचित नमोऽस्तु ते॥
अशेषं सर्वसत्वानं सर्वक्लेश विनाशक।
क्लेश प्रहारक क्लिष्टसानुक्रोश नमोऽस्तु ते॥

अनाभोग निरासंग अव्याघाता समाहित ।
सदैव सर्वप्रश्नानां विसर्जक नमोऽस्तु ते ॥

आश्रयेऽथाश्रिते देश्ये वाक्ये ज्ञाने च देशिके ।
अव्याहतमते नित्यं सुदेशिक नमोऽस्तु ते ॥
उपेत्य वचनैस्तेषां चरिज्ञ आगतौ गतौ ।
निःसारे चैव सत्वानां स्वववाद नमोऽस्तु ते ॥
सत्पौरुष्यं प्रपद्यन्ते त्वां दृष्ट्वा सर्वदेहिनः ।
दृष्टमात्रात्प्रसादस्य विधायक नमोऽस्तु ते ॥
आदान स्थान संत्याग निर्माण परिणामने ।
समाधिज्ञानवशितामनुप्राप्त नमोऽस्तु ते ॥
उपाये शरणे शुद्धौ सत्वानां विप्रवादिने ।
महायाने च निर्याणे मारभञ्ज नमोऽस्तु ते ॥

ज्ञान प्रहाण निर्याणि विघ्नकारक देशिक ।
स्वपरार्थेऽन्यतीर्थ्यानां निराधृष्य नमोऽस्तु ते ॥
विगृह्य वक्ता पर्षत्सु द्वय संक्लेष वर्जित ।
निरारक्ष असंमोष गुणकर्ष नमोऽस्तु ते ॥
चारे विहारे सर्वत्र नास्त्यसर्वज्ञ चेष्टितम् ।
सर्वदा तव सर्वज्ञ भूतार्थिक नमोऽस्तु ते ॥
सर्वसत्वार्थ कृत्येषु कालं त्वं नाति वर्तसे ।
अवन्ध्यकृत्य सततमसंमोष नमोऽस्तु ते ॥

सर्वलोकमहोरात्रं षट्कृत्वः प्रत्यवेक्षसे ।
महाकरुणया युक्त हुताशय नमोऽस्तु ते ॥
चारेणाधिगमेनापि ज्ञानेनापि च कर्मणा ।
सर्व श्रावक प्रत्येक बुद्धोत्तम नमोऽस्तु ते ॥

त्रिभिः कायैर्महाबोधिं सर्वाकारमुपागत ।
सर्वज्ञ सर्व सत्वानां काङ्क्षाच्छिद् नमोऽस्तु ते ॥
निरवग्रह निर्दोष निष्कालुष्यानवस्थित ।
आनिङक्ष्य सर्वधर्मेषु निष्प्रपञ्च नमोऽस्तु ते ॥

निष्पन्नपरमार्थोऽसि सर्वभूमि विनिःसृतः ।
सर्वसत्वाग्रतां प्राप्तः सर्वसत्वविमोचकः ॥

अक्षयैरसमैर्युक्तो गुणैर्लोकेषु दृश्यसे ।
मण्डलेष्वप्यदृश्यश्च सर्वथा देव मानुषैः[१] ॥

इस प्रकार अत्यन्त संक्षिप्त और परिमित रूप में हमने देखा कि समग्र वेदान्त दर्शन के इतिहास में बौद्ध दर्शन का उससे एक अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, केवल वैष्णव सम्प्रदायों को छोड़कर, और उस हालत में महायान-साधना से उसका एक उचित साम्य तात्विक रूप से विवेचित किया जा सकता है, जैसा कि पूर्व उद्धृत 'बुद्ध-काय' की स्तुति से अच्छी प्रकार प्रकट है। हमने यह भी देखने का प्रयत्न किया है कि शंकर किन अर्थों में 'प्रच्छन्न बौद्ध' हैं। वस्तुतः बौद्ध और वेदान्त दर्शनों का सम्पूर्ण विकास ही, विभिन्न निष्ठाओं और तर्क-पद्धतियों का अनुसरण करते हुए भी, परमार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में समान निष्कर्षों पर पहुँचा है। गौडपाद और शंकर यदि किन्हीं अर्थों में प्रकट या प्रच्छन्न बौद्ध हैं, तो यह उनका गौरव ही है, उसी प्रकार जैसे कि बौद्ध अपनी स्वतन्त्र पद्धति का अनुसरण करके भी अन्त में 'तथागत' में शून्य को अभिव्याप्त कर ब्रह्मवादियों की ही पंक्ति में बैठने के अधिकारी बने हैं। वे अभाव के लिए ही प्रतिषेध नहीं करते, किन्तु 'तथागत' में अतीत सत्य देखते हैं। इस दिशा का हमारे विचारमण्डल में कभी प्रवर्तन कहीं किया गया। किन्तु इतिहास किसी का पक्षपात नहीं करता। बौद्ध आचार्यों के प्रति तिरस्कार का भाव निरास्पद है। उनके आदि शास्ता 'वेदान्तज्ञ' हैं और वे भी उन्हीं की परम्परा का प्रवर्तन करने वाले हैं। जहां शंकर हैं, जहां श्रीहर्ष हैं, वहीं नागार्जुन हैं, आर्यदेव और कमलशील हैं। अश्वघोष तो पूरे वेदान्ती ही हैं, वेदान्ती अर्थात् ज्ञान के चरम निष्कर्ष को जानने वाले। और फिर ज्ञान अनन्त है। जिनके शास्ता ने 'वेदान्तज्ञ' की उपाधि धारण की है, उनके शिष्यों को भी उसे ग्रहण करने दो। वह उनका स्वाभाविक दायाद्य है। शंकर के बारे में हमें फिर कहना चाहिए कि बौद्ध दर्शन का कठोर प्रत्याख्यान करके भी उन्होंने उसकी बड़ी सेवा की है। वे उपनिषदों के अनुपम व्याख्याता हैं और उनसे हटकर उन्होंने सम्भवतः कुछ नहीं कहा है। किन्तु उपनिषदों में जिस अज, साम्य, अद्वय तत्त्व का निरूपण है, उसे ही तो प्रथम वेदान्ताचार्य (गौडपाद) ने बुद्धों का विषय बताया था। यह बात यहां दुहराने की नहीं है कि अद्वयवादी माध्यमिकों के 'अजातिवाद' का आचार्य गौडपाद ने अनुमोदन

उपसंहार

---

(१) असंग-कृत 'महायान सूत्रालंकार'। सोजन: सिस्टम्स ऑफ़ बुद्धिस्टक थॉट पृष्ठ २४७-५१ में उद्धृत।

किया है । 'ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम्' । हम पहले देख चुके हैं (अनात्मवाद के विवेचन में) कि द्वैत की निरुक्ति से बचने के लिये ही भगवान् बुद्ध ने 'अनात्मवाद' का निषेधात्मक वर्णन किया था। मैत्री-भावना में किस प्रकार अद्वैत संनिविष्ट है, यह भी बताने की आवश्यकता नहीं। सारांश यह कि अद्वय मार्ग का प्रकाशन ही बौद्ध आचार्यों ने किया है । अतः बौद्ध दर्शन का सम्पूर्ण विकास अद्वय तत्त्व का विकास ही है । इतना ही नहीं, सामाजिक नीति में उसकी प्रतिष्ठा वेदान्त से भी अधिक उसने की है । बुद्ध-धर्म उच्चतर ब्रह्मवाद ही है । जो विद्वान् बौद्ध दर्शन का अन्तर्भाव वेदान्त में दिखाने का प्रयत्न करते हैं (अधिकतर प्रवृत्ति ऐसी ही है) उन्हें यह न भूल जाना चाहिये कि बुद्ध की आध्यात्मिक अनुभूति ब्रह्मवाद से उच्चकोटि की अवस्था थी और ऐतिहासिक रूप से अद्वैत वेदान्त का ही माहायानिक मत में प्रवेश हुआ है । बौद्ध दर्शन को गलत रूप से समझते हुए अद्वैत वेदान्ती उससे अपने मत को अलग बताते रहे, परन्तु आज जब बौद्ध शास्त्रों का प्रकाशन हुआ तो पता चला कि जिसे ये लोग अपना परमार्थ सत् कहते थे वही तो इनके पूर्ववर्ती बौद्ध आचार्यों का भी अभिप्राय था । अतः इस प्रकरण में जो कुछ कहा गया है उसका अन्तिम सारांश यही है कि बौद्ध और वेदान्त की खाई मिटाकर हमें बौद्ध-वेदान्त एक कर देना चाहिए और भारतीय दर्शन का इतिहास इसका समर्थन करेगा । "द्वन्द्वः सामासिकस्य च" ।

ओ—बौद्ध दर्शन और मध्ययुगीन भक्ति-साधना

उपोद्घात

ऋग्वेद और उपनिषदों में भक्ति-साधना का जो रूप आविर्भूत हुआ, उसका विवेचन हम कर चुके हैं। भागवत और शैव साधनाओं का भी उल्लेख हम पहले कर चुके हैं । इसी प्रकार गीता के भक्ति-दर्शन और महायान बौद्ध धर्म के भक्तिवाद के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके हैं । यहां हम मध्ययुगीन भक्ति-साधना का संक्षिप्त अध्ययन बौद्ध दृष्टि को ध्यान में रखते हुए करेंगे ।

मध्ययुगीन भक्ति-धारा की पूर्वभूमि

मध्य-युग की भक्ति-धारा प्रवृत्तियों के विचार से दो मुख्य धाराओं में होकर बही । एक सगुण धारा और दूसरी निर्गुण धारा । सगुण धारा की दो शाखाएँ थीं रामभक्ति-शाखा और कृष्णभक्ति-शाखा । रामभक्ति-शाखा का आधार था रामानुज और रामानन्द द्वारा प्रचारित भक्ति-धर्म, जो राम की भक्ति पर आश्रित था । गोस्वामी तुलसीदास इस

भक्ति-धारा के अत्यन्त प्रभावशाली भक्त-साधक हैं। उनका भक्तिवाद न केवल रामानुज और रामानन्द की भक्ति-परम्परा पर ही आधारित है, बल्कि वह सम्पूर्ण श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित भक्ति-धर्म है, 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' भक्ति मत है। 'श्रुति सम्मत हरि भगति पथ' का प्रचार तुलसीदास ने किया है, जो वर्णाश्रम-धर्म की आधार-भूमि पर आधारित है। कृष्णभक्ति शाखा वल्लभाचार्य के मत पर आधारित थी। अतः कुल मिलाकर हम सगुण धारा को श्रौत परम्परा की भक्ति-साधना की प्रतिनिधि मान सकते हैं। निर्गुण धारा की बात दूसरी है। उसका सम्बन्ध श्रमण परम्परा से अधिक है बनिस्वत श्रौत परम्परा से। ब्राह्मण्य और श्रामण्य की परम्परा के भेद को हम क्रमशः तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में अच्छी प्रकार समझ सकते हैं, जो क्रमशः इन परम्पराओं के मध्ययुगीन रूपों के प्रतीक हैं। तुलसी और कबीर में जो अन्तर है वही श्रौत परम्परा और श्रमण-परम्परा में है। तुलसीदास और कबीर में से हम किसे अधिक पसन्द करते हैं, इससे हमारे मन की यह परीक्षा हो सकती है कि उसका झुकाव वैदिक और बौद्ध विचार-धाराओं में से किसकी ओर अधिक है। अस्तु, कबीर और सामान्यतः भक्ति की निर्गुण धारा के ऊपर बौद्ध धर्म के प्रभाव की बात पर हम बाद में आयेंगे। अभी हम भौगोलिक दृष्टि से मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन पर कुछ और विचार कर लें। जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, उत्तरी भारत में सगुण मत और निर्गुणवादी भक्ति-धारा, दक्षिण में वेदान्त भावित वैष्णव धर्म और बंगाल में प्रेम॰ रूपा भक्ति या 'शृंगारिक रहस्यवाद', इन तीन मुख्य रूपों में यह भारतव्यापी भक्ति-आन्दोलन चला। यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध बात है कि भक्ति का उदय दक्षिण में हुआ। चारों वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्य प्रायः दक्षिण निवासी थे और उनके पूर्व भी भक्ति की परम्परा वहां प्रचलित थी। 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी'। यह उक्ति ऐतिहासिक प्रकाश में सर्वथा व्याख्यात की जा सकती है। ऐसा लगता है कि दक्षिण से भक्ति पूर्वी भारत में गई और फिर वहां से उत्तरी भारत में उसका विकास हुआ। हम पहले दिखा चुके हैं कि ठीक यही क्रम महायान बौद्ध धर्म के विकास का था[१], जो बौद्ध धर्म में प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व उत्पन्न प्रथम भक्ति-आन्दोलन था। मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन को हम ठीक ही श्रुति-स्मृति, पुराण, भागवत, गीता और रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य

---

(१) देखिये पीछे, पृष्ठ ५५६-५५७

आदि आचार्यों की परम्परा से संयुक्त करते हैं, परन्तु एक दूसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पक्ष भी है उसे प्राचीन भारतीय साधना से जोड़ने का और वह है महायान बौद्ध धर्म के साथ उसका सम्बन्ध ।

बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति-साधना का आरोहण हुआ

बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति-साधना का आरोहण हुआ। सातवीं और आठवीं शताब्दियों में जब कि पौराणिक धर्म का पुनर्गठन हो रहा था और वर्ण-धर्म के रूप में जाति-भेद की नींव पुनः दृढ़ की जा रही थी, महायान के विरति और विवेक सम्बन्धी तत्त्वों को शैवों ने और मानवीय और भक्ति-सम्बन्धी तत्त्वों को वैष्णवों ने महायानी बौद्ध साधकों से ग्रहण किया। इस प्रकार इन दोनों साधनाओं ने बौद्ध धर्म को आत्मसात् कर लिया। पुराणों के योगी शिव और महायान बौद्ध धर्म के ध्यानी बुद्ध में नाम-मात्र को भी अन्तर नहीं है। यह सम्मिश्रण या समन्वय नेपाल में सब से अधिक हुआ, जहां बौद्ध और शैव साधनाएँ दोनों साथ-साथ चल रही थीं। नेपाल की इस युग की अनेक मूर्तियां ऐसी हैं जिनके सम्बम्ध में हम पूरी तरह निर्णय नहीं कर सकते कि वे शिव की हैं या बुद्ध की। इसी एकात्मता के कारण बौद्ध मठ और विहार आसानी से शैव मत के गिरि सम्प्रदाय के साधुओं के हाथ में आ गये, जिनका बौद्ध श्रमणों से नाम-मात्र का भेद था। इसी प्रकार बोध-गया का मन्दिर शैव सम्प्रदाय के हाथ में चला गया। वही उपासक, वही उपास्य। महायान का शैव और वैष्णव रूपान्तर एक अत्यन्त अदृश्य ढंग से हो गया। बारहवीं शताब्दी के जयदेव ने पुराणों के आधार पर भगवान् बुद्ध की विष्णु के आठवें अवतार के रूप में स्तुति की, बाद के वैष्णव कवियों (विशेषतः तुलसीदास) ने भी उनको इसी रूप में स्वीकार किया। पता भी नहीं चला कि इतना बड़ा बौद्ध श्रमण-संघ कहां चला गया। वस्तुतः वह गया कहीं नहीं, मध्ययुगीन भक्ति-साधना में अन्तर्हित हो गया। बुद्ध विष्णु रूप में समा गये। जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा की रथ-यात्रा क्या थीं, वह दोनों ओर बोधिसत्त्वों से घिरे हुए बुद्ध की रथ-यात्रा का वैष्णव रूपान्तर ही थी, जिसे चीनी यात्री फाह्यान् ने पांचवीं शताब्दी में देखा था[1]। हम पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार सातवीं शताब्दी के बौद्ध भक्त-कवि शान्तिदेव ने दुःखी प्राणियों के

(१) देखिये यदुनाथ सरकारः इण्डिया थ्रू दि एजेज़, पृष्ठ ३२-३३

साथ तादात्म्य की भावना की अभिव्यक्ति की थी जो महायानी साधना की आधार-भूमि है। उसी के आधार पर वैष्णव धर्म की दरिद्र-नारायण की कल्पना का विकास हुआ। हम पहले बोधिसत्व-सिद्धान्त के विकास के सम्बन्ध में दिखा चुके हैं कि महायान ने ऐतिहासिक बुद्ध के व्यक्तित्त्व को उनका निर्माण-काय कहा था, जिसे वे नाना लोक-धातुओं के सत्त्वों के कल्याणार्थ धारण करते हैं। भगवान् विष्णु के अवतार लेने में माया का आश्रय लेकर यह लोक-कल्याण की बात ही वैष्णव साधना में कही गई है। मायावाद और अवतारवाद के सिद्धान्त पहले बौद्ध साधना में प्रकट हुए हैं, यह आश्चर्यकर लगते हुए भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। तथागत जो स्वयं निःस्वभाव (निर्गुण) और धर्मता स्वरूप हैं, लोक के कल्याण के लिये माया-निर्मित रूप को, गौतम बुद्ध आदि अनेक बोधिसत्त्वों के रूप में, धारण करते हैं। इस प्रकार एक तथागत धर्म-शून्य (ब्रह्म-निर्गुण-निराकार) हैं और एक उनके मायाश्रित रूप, रूप-काय (सगुण) गौतम बुद्ध। यह विभेद वैष्णव भक्ति के निर्गुण-सगुण रूपों के आविर्भाव से शताब्दियों पूर्व महायान ने कर दिया था। जिस प्रकार राम एक ओर 'एक, अनीह, अरूप, अनामा, अज, सच्चिदानन्द परधामा, अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनादी', हैं, परमार्थ-रूप, अविगत, अलख, अनादि और अनूप हैं, और दूसरी ओर दाशरथि भी, कौशल्या की गोद में खेलने वाले भी, रावण को मारने वाले भी, लोक-मर्यादा की स्थापना करने वाले भी। वही बात इस वर्गीकरण के शताब्दयों पूर्व तथागत के सम्बन्ध में कह दी गई थी। जैसे कबीर ने कहा था 'हम उस राम को नहीं मानते थे जो दशरथ के घर उत्पन्न हुआ था, जिसने धनुष् को तोड़कर सीता से विवाह किया था, जिसने रावण को सताया था, आदि।' उनकी प्रसिद्ध उक्ति है भी 'दशरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना। राम-नाम का मरम है आना।' बिलकुल यही बात महायानी आचार्यों ने कही थी कि हम उस बुद्ध को नहीं मानते जिसने शुद्धोदन के घर जन्म लिया था, जिसने तपस्या की थी, जिसने ज्ञान प्राप्त किया था, जिसने उपदेश दिया था। हमारे बुद्ध तो वे हैं जिनका कभी इस लोक में आना ही नहीं हुआ, जिन्होंने कभी कोई उपदेश ही नहीं दिया। जो आये और जिन्होंने उपदेश दिया, वे तो हमारे बुद्ध के माया-निर्मित रूप हैं। वस्तुतः बुद्ध तो धर्म-शून्य हैं, तथता-स्वरूप हैं, निःस्वभाव हैं, और इस लोक में जो दिखाई पड़ता है वह उनकी छाया-मात्र है। जगत् तथागत का प्रतिबिम्ब मात्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति की निर्गुण और सगुण दोनों कल्पनाएँ अपने पूर्ण समन्वय

के साथ तथागत के व्यक्तित्त्व में अभिव्यक्ति प्राप्त कर चुकी थीं और राम और कृष्ण के अवतारवाद को लेकर इस प्रकार के समन्वय का मार्ग बाद में चलकर मध्ययुगीन भक्ति-साधना में विकसित और समृद्ध हुआ।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जगन्नाथ की रथ-यात्रा का उत्सव भगवान् बुद्ध की रथ-यात्रा के उत्सव के आधार पर विकसित किया गया। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण हैं जिनके आधार पर हम देख सकते हैं कि एक अद्भुत ढंग से महायानी साधना का वैष्णव रूपान्तर मध्य-युग में हुआ। इतिहास के मनीषी विद्वान् डा० यदुनाथ सरकार ने हमें बताया है कि मध्ययुग के एक उड़िया कवि ने जगन्नाथ भगवान् की स्तुति में 'दारु ब्रह्म' नामक एक कविता लिखी है। उसमें उसने जगन्नाथ भगवान् की बुद्ध-रूप में स्तुति की है। इस कविता में कवि ने भगवान् जगन्नाथ को यह कहते दिखाया है, "मैं बुद्धावतार हूँ। मैं कलि-युग के जीवों का उद्धार करूंगा[1]।" वस्तुतः यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि जगन्नाथ भगवान् की मूर्ति पहले बुद्ध-मूर्ति ही थी। यही बात बदरिकाश्रम की मूर्ति के सम्बन्ध में भी कही जाती है। सारनाथ के समीप शिव की एक प्राचीन मूर्ति 'शिव संघेश्वर' (संघ के स्वामी शिव) के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी बौद्ध धर्म के शैव धर्म के रूप में अन्तर्भावित हो जाने की कहानी को गुप्त रूप से कहती है। दिल्ली के समीप एक गांव में बुद्ध की मूर्ति 'बुद्धो माता' के नाम से पूजी जाती है। तान्त्रिक धर्म के माध्यम से भी बौद्ध धर्म बड़ी आसानी से हिन्दु-धर्म में समाविष्ट हो गया। यह कार्य विशेषतः पूर्वी बंगाल और असम में सम्पन्न हुआ। इस पर हम अलग प्रकाश डालेंगे। यहां यह कह देना आवश्यक होगा कि तांत्रिक बौद्ध धर्म के देवी-देवताओं को पूरी तरह हिन्दु धर्म के तांत्रिक साधकों ने अपना लिया, अथवा दोनों में कुछ भेद भी था, हमारी दृष्टि से तो यह कहना भी असंगत होगा। बौद्ध तांत्रिक धर्म की तारा और शैवों की शक्ति में कोई अन्तर नहीं है। जब भक्ति-धर्म का आविर्भाव हो रहा था, तांत्रिक धर्मों की साधना का यह सम्मिश्रण बंगाल और असम में चल रहा था, जिसने अपना प्रभाव सम्पूर्ण भक्ति-आन्दोलन पर छोड़ा है।

जहां तक निर्गुणवादी सन्तों की धारा का प्रश्न है, वह उत्तरकालीन बौद्ध साधना से अत्यधिक प्रभावित थी, इस सम्बन्ध में आज इतिहासकारों के दो मत नहीं हैं। डा० हरप्रसाद शास्त्री ने नैपाली बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में महत्त्व-

---

(१) देखिये यदुनाथ सरकार : इण्डिया थ्रू दि एजेज़, पृष्ठ ३३ का पद-संकेत।

पूर्ण गवेषणाएँ की थीं और उनके फलितार्थों का निर्गुण सम्प्रदाय के सन्तों की साधना के उद्गम-सम्बन्धी सिद्धान्तों पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। लामा तारानाथ के इस कथन में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि योगी गोरखनाथ-पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गये थे। ऊपर जिन तथ्यों के विवरण हम दे चुके ैं उनकी पूरी संगति में यह बात है। परन्तु फिर भी खुद कुछ विद्वानों ने लामा तारानाथ की सूचना को सही नहीं माना है। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि नाथपंथी सम्प्रदाय, जिसके संस्थापक मत्स्येन्द्रनाथ थे जो गोरखनाथ के गुरु थे, अपनी उपासना-पद्धति में भग्न बौद्ध धर्म के प्रभाव के साक्ष्य को लिये हुए है। कबीर नाथपंथियों के विरुद्ध थे, परन्तु अपने हठयोग की भाषा के प्रयोग के लिय वे इसी साधना के लिये ऋणी हैं और उसके माध्यम से बौद्ध तान्त्रिक साधना के भी, जिसका स्वयं उन्हें पता नहीं था। बंगाल के न्यारा और सहजिया सम्प्रदाय, जो वैष्णव समझे जाते हैं, उत्तरकालीन बौद्धों के ठीक वंशज हैं, ऐसा स्वर्गीय डा० हरप्रसाद शास्त्री का निश्चित मत है। पाल वंशीय राजा जिन्होंने बंगाल में आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दियों में शासन किया, बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और बंगाल (जिला वर्दवान) में सन् १४३६ में प्रतिलिपि की हुई 'वोधिचर्यावतार' की पाण्डुलिपि का मिलना इस बात का साक्ष्य देता है वहां इस धर्म के कुछ अनुयायी उस समय तक विद्यमान थे, जैसे कि आज भी हैं। चैतन्य महाप्रभु ने अपनी दक्षिण-यात्रा के समय सन् १५११ में एक बौद्ध नैयायिक को परास्त किया था, अतः भक्ति-युग में भी बौद्ध धर्म यद्यपि भारत में लुप्त-प्राय हो गया था, परन्तु उसका सर्वथा तिरोभाव नहीं हुआ था।[२] बौद्ध धर्म के एक प्रभावशाली स्वतंत्र साधना-मार्ग के रूप में विद्यमान न रहते भी मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन में उसने जो हाथ बटाया है, वह अल्प महत्त्व का नहीं है। वैसे तो स्वयं भक्ति के सम्पूर्ण आन्दोलन में महायान छिपा पड़ा है, यह हम कह चुके हैं, किन्तु स्वतंत्र रूप से उसने जो दान दिया है वह भी अल्प या तुच्छ नहीं है। भक्ति-साधना की पूर्वभूमि तैयार करने वाले शान्तिदेव की भक्ति-भावना के सम्बन्ध में हम महायान का निर्देश करते समय कह चुके हैं। उन्हें हमने वस्तुतः तुलसीदास का बौद्ध रूप ही कहा है। एक दूसरे बौद्ध कवि जिन्होंने भक्ति-साधना का उपयोग तथागत की आराधना

---

(१) देखिये यदुनाथ सरकार : इण्डिया थ्रू दि एजेज़, पृष्ठ ३९

(२) देखिये वहीं पृष्ठ ३६

के रूप में किया है वह हैं तेरहवीं शताब्दी के मध्य-भाग के रामचन्द्र कवि-भारती, जिन्होंने बुद्ध की वन्दना-स्वरूप सौ संस्कृत छन्द लिखे हैं जिनका नाम है 'भक्ति-शतकम्' । रामचन्द्र कवि-भारती एक बंगाली ब्राह्मण थे जिनकी बौद्ध धर्म में दीक्षा लंका में हुई थी। भक्ति के उस युग में जब चारों ओर राम और कृष्ण की विरुदावली गाई जा रही थी, एक भारतीय ब्राह्मण ने बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर भक्ति के उस समय सहज-उपलब्ध माध्यम के द्वारा तथागत की भी कुछ अर्चना कर दी, यह हमारी संस्कृति और उसके सर्वाश्लेषी रूप के लिये कुछ कम गौरव की वस्तु नहीं है। 'भक्ति-शतकम्'[1] कोई कम महत्त्व वाली शुष्क नैतिक रचना नहीं है। उसमें वही आत्म-तल्लीनता, निरभिमानिता, और आराध्य के प्रति एकनिष्ठता मिलती है, जो शान्तिदेव और तुलसीदास जैसे साधक-कवियों की विशेषता है।

भारत में उस समय बौद्ध धर्म के विद्यमान न होने से वह इस सम्बन्ध में अधिक रचनाएँ हमें न दे सका। परन्तु अन्य देशों में जहां वह अपने जीवन्त रूप में उस समय विद्यमान था उसने नाना उपासना-पद्धतियों के अपने समन्वय-कार्य को आगे बढ़ाया और जिस प्रकार तुलसीदास ने सगुण-निर्गुण, ज्ञान-भक्ति, शैव-वैष्णव आदि के भेदों को मिटाकर साधना के अविरोध मार्ग को प्रकाशित किया, उसी प्रकार बौद्ध धर्म ने भी यह कार्य अन्य देशों में किया। नैपाल का उदाहरण हम दे ही चुके हैं, जहां शैव और बौद्ध धर्म का समन्वय किया गया। तिब्बत और चीन ने विशेषतः बौद्ध धर्म को तान्त्रित रूप दिया। चीन और जापान में ध्यान बौद्ध धर्म का विकास हुआ जो उन देशों की प्रकृति के साथ महायान का सम्बन्ध-साधन ही था। वस्तुतः दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में भक्ति और महायान का कल्याणकारी समन्वय-विधान सब से अधिक देखने योग्य है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार हिन्द-चीन में समन्त नामक भिक्षु के द्वारा एक मन्दिर संयुक्त रूप से बुद्ध और शिव के लिये समर्पित किया गया था और उसका समर्पण-वाक्य था 'जिनशंकरयोः' । हिन्द-चीन के बारहवीं शताब्दी के एक अभिलेख में बोधि-द्रुम की स्तुति इन महत्त्वपूर्ण शब्दों में की गई है, 'हे महाभाग सनातन वृक्ष ! ब्रह्मा तेरी जड़ हैं, शिव

---

(१) यह प्रसन्नता की बात है कि पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी ने इस भक्ति-रस-पूरित रचना का हिन्दी अनुवाद किया है, जिसे मूल-सहित महाबोधि सभा, सारनाथ ने प्रकाशित किया है।

तेरे तना हैं, विष्णु तेरी शाखाएँ हैं'[1], आदि। पौराणिक देव-त्रयी के साथ बौद्ध धर्म के प्रतीक-रूप बोधि-वृक्ष का कैसा सुन्दर समन्वय-विधान है। स्याम के मन्दिरों में इसी युग में यदि मूर्तियां बुद्ध और बोधिसक्तों की स्थापित की गईं तो मन्दिरों की दीवारों पर चित्रकारी की गई रामायण के दृश्यों की और यदि मूर्तियां राम और सीता की स्थापित की गईं तो चित्रकारी की गई बुद्ध के जीवन-दृश्यों की। इसी प्रकार जावा में बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म का समन्वय-साधन किया गया, जो 'यजुर्वेद-बुद्ध-स्तुति' और बुद्ध-वेद के रूप में आज भी देखा जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में महायान बौद्ध धर्म ने केवल वैष्णव और शैव साधनाओं से ही समन्वय स्थापित नहीं किया, उसने कन्फ्यूशियन धर्म के भी साथ-साथ रहना सीखा और उसके साथ मेल बढ़ाया। इस प्रकार जब कि तुलसीदास सोलहवीं शताब्दी में भारत में शैव और वैष्णवों के झगड़े को मिटा रहे थे, बौद्ध भक्त-साधक हिन्द-चीन, स्याम, जावा, सुमात्रा, और दक्षिण पूर्वी एशिया के अन्य अनेक द्वीपों में उसी कार्य को एक बड़े पैमाने पर कर रहे थे।

अब हम विशेषतः सन्त-साधना पर बौद्ध धर्म के प्रभाव की कुछ चर्चा करें। सन्त-साधना वस्तुतः बौद्ध धर्म का भग्न रूप ही है। बौद्ध धर्म गिरते-गिरते भारत में अपनी देन को साधना की उस अमिट विरासत के रूप में छोड़ गया जिसे हम आज सन्त-साधना कहते हैं। मध्यकालीन सन्त बौद्धों के ठीक उत्तराधिकारी हैं। सन्त-साधना के प्रतिनिधि कबीर को लेकर हम बौद्ध विचारधारा के साथ उनके जीवन-दर्शन की कुछ तुलना करेंगे।

जहां तक कबीर के व्यक्तित्वका सम्बन्ध है, वे एक अनोखे व्यक्ति हैं। उनकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती। उनकी कुछ बातें जैसे मस्त मौलापन, बेपरवाही और सदा रमते राम रहना हमें औपनिषद ऋषि सयुग्वा रैक्व की याद दिलाती हैं। उनके जीवन का कठोर अनुशासनात्मक रूप और उनकी ध्यानप्रियता हमें बोधिधर्म से उनकी तुलना करने की ओर प्रवण करती हैं। उनका विलक्षण मस्त स्वभाव किसी भिक्षु साधक में उपलब्ध नहीं हो सकता। भिक्षु साधक की सी गम्भीरता लिये हुए कबीर नहीं हैं। परन्तु वज्रयान के

---

(१) ब्रह्ममूल शिवस्कन्ध विष्णुशाख सनातन। वृक्षराज महाभाग सर्वाश्रयफलप्रद ॥ डा० लाहा द्वारा सम्पादित 'बुद्धिस्टिक स्टडीज' में लुई फिनो के लेख 'बुद्धिज्म इन इण्डो चायना' में उद्धृत, पृष्ठ ७६०-७६१

चौरासी सिद्धों में अनेक से कबीर की तुलना की जा सकती है। सरहपा (सरोरुहपाद) के समान वे खरी बात कहने वाले और जातिवाद पर तीव्र प्रहार करने वाले हैं। उलटवासियों में कबीर ने सिद्ध ढेण्डणपाद की शैली को ही नहीं, उनके व्यक्तित्व को भी बहुत कुछ पाया है। कबीर में कुछ बातें ज्ञानेश्वर की भी हैं, कुछ प्रह्लाद की भी, कुछ बुद्ध की भी और कुछ स्वामी दयानन्द की भी। अन्त में जिन्होंने चीनी ध्यानी (जैन) बौद्ध गुरुओं की पुस्तक बहाकर अनुभूति से ज्ञान-सम्पादन करने की प्रवृत्ति और उनकी अनोखी प्रश्न करने और उत्तर देने की प्रणाली को देखा है, वे आसानी से ऐसे किसी एक साधु से कबीर की तुलना कर सकते हैं। कुल मिलाकर कबीर का अपने आप में एक अत्यन्त मौलिक व्यक्तित्त्व है। यही बात उनकी साधना के सम्बन्ध में भी है। हम उन पर बौद्ध धर्म के प्रभाव की बात कहेंगे, परन्तु इससे हम अनभिज्ञ नहीं हैं कि कबीर अन्ततः सब प्रभावों से अतीत हैं। वस्तुतः भारतीय इतिहास में बुद्ध के बाद कबीर जैसा मौलिक स्वतन्त्रचेता पुरुष कोई दूसरा हुआ ही नहीं। भगवान् बुद्ध बार-बार कहते थे कि उन्होंने जो स्वयं साक्षात्कार किया है उसे ही वे कहते हैं और विना 'मसि-कागद' छुए ही कबीर ने ज्ञानी का यह लक्षण कर दिया था 'सो ज्ञानी जो आप विचारै।' भगवान् बुद्ध ने कहा था, 'यं मया सामं दिट्ठं तदहं वदामि' 'जो मैंने स्वयं देखा है, उसे मैं कहता हूँ'। कबीर के शब्दों में इसका शब्दशः अनुवाद है, मैं कहता आंखिन की देखी' जो अनुभूति की समानता के कारण स्वतः आ गया है। कबीर की साधना बहुमुखी थी और विलक्षण भी। वे ज्ञानी भी थे और भक्त भी। वे प्रेमोपासक सूफी कवियों के साथ भी थे और अनहद नाद सुनने वाले योगियों के साथ भी। वे राम की बहुरिया बनकर नाचने के लिये भी तैयार हैं और शून्य-समाधि का भी उन्होंने अभ्यास किया है। शून्य में उन्होंने स्थान किया है, बेहद के मैदान में वे सोये हैं और साथ ही जो तत्त्व रोटी में उन्होंने पाया है, उसे अन्यत्र कहीं पाया नहीं। कबीर साहब अत्यन्त विनम्र हैं, हरि-जननी के बालक हैं, किन्तु ध्रुव और प्रह्लाद की अपेक्षा उन्होंने अपनी काया का अधिक शोधन किया है, ऐसा उनका दावा है। कबीर राम-नाम के उपासक हैं, राम-नाम के जप को कल्याण का एकमात्र मार्ग समझते हैं, राम और अल्लाह की एकता दिखाते हैं, परन्तु साथ ही कहते हैं 'जहां अल्लाह और राम की गम नहीं है, वहां कबीर ने घर बनाया है। 'अल्लह राम की गम नहीं तहँ घर किया कबीर'। कबीर क्या हैं और क्या नहीं हैं, यह जानना बड़ा

कठिन है। कबीर का ज्ञान अथाह है। सचमुच हम कह सकते हैं 'कोरी को कोउ मरमु न जाना'। कबीर ने अनेक साधनाओं को स्वीकार किया है और वे स्वयं उन सब से ऊपर हैं। चूंकि कबीर इस हद तक मौलिक हैं, इसीलिये वस्तुतः बुद्ध और बौद्ध धर्म के साथ उनके सम्बन्ध का भी प्रश्न उठता है।

कबीर ने अपने जीवन का लक्ष्य बताते हुए कहा है, 'हम समर्थ का परवाना लाये हैं और हंस को उबारने आये हैं'। 'समरथ का परवाना लाये हंस उबारन आये'। समर्थ के परवाने लाने की बात यदि हम छोड़ दें तो मानव-आत्मा की विमुक्ति का सन्देश लाने वालों में कबीर बुद्ध के साथी हैं। भक्त नाभादास ने कबीर के जीवन-कार्य का मूल्यांकन करते हुए सुन्दर शब्दों में कहा है, "कबीर ने वर्णाश्रम धर्म और षड्दर्शनों की मर्यादा नहीं रक्खी। उसके वचनों में पक्षपात नहीं था। उसने सब के हित की बात कही। उसने जगत् को अभिभूत कर किसी के मुख को देखकर बात नहीं कही।"

कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट् दर्शनी।
पक्षपात नहिं वचन सबन के हित की भाषी।
आरूढ़ दसा ह्वै जगत् पर मुख देखी नाहिन भनी।

उपर्युक्त शब्द भगवान् बुद्ध पर कबीर से भी अधिक लागू हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं। कबीर और बुद्ध के युग के व्यवधान को देखते हुए और समाज में बुद्ध (क्षत्रिय राजकुमार) और कबीर (जुलाहे) की स्थिति को भी ध्यान में रखते हुए जाति-भेद का जो प्रतिवाद भगवान् बुद्ध ने किया था और चातुर्वर्णी शुद्धि का जो सन्देश उन्होंने सुनाया था, उसकी महत्ता का पूरा अनुमान हम नहीं लगा सकते। बुद्ध भुक्तभोगी नहीं थे, फिर भी उन कारुणिक शास्ता ने ब्राह्मणों के जातिगत अभिमान के लिये उन्हें फटकारते हुए कहा था कि ब्राह्मणों की स्त्रियां भी अन्य स्त्रियों के समान ऋतुमती और गर्भवती होती हैं, जनन करती हैं, दूध पिलाती हैं और जैसे अन्य पुरुष स्त्रियों के गर्भ से उत्पन्न होते हैं वैसे ही ब्राह्मण होते हैं, फिर वे कैसे दावा करते हैं कि वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं, अन्य नहीं[1]। शास्ता के इसी उपदेश को लेते हुए वज्रयानी सिद्ध सरहपा (सरोरुहपाद) ने कहा था, "ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे। जब हुए होंगे तब हुए होंगे। इस समय तो वे भी वैसे ही पेट से पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग...' अपमान की चोट खाये हुए कबीर ने इसे इस प्रकार रक्खा था:

(१) देखिये अस्सलायण-सुत्तन्त (मज्झिम २।५।३)

"तुम कैसे ब्राह्मण और हम कैसे शूद्र ?
क्या हममें लोहू है और तुम में दूध ?"
"तुम कत बाह्मन हम कत सूद ?
हम कत लोहू तुम कत दूध ?"

मानव की आधारभूत एकता की याद दिलाकर वे कहते हैं :

'एकै बूंद, एक मल-मूतर।
एक चाम इक गूदा।
एक जोति ते सब उत्पन्ना।
को बाह्मन को सूदा ॥

बिलकुल बुद्ध और सरोरुहपाद के तर्क का अनुसरण करते हुए कहते हैं :

जो तुम बाह्मन बमनी जाये,
अवर राह ते काहे न आये ?
कारी पियरी दूहउ गाई,
तिनकर दूध देहु बिलगाई !
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्र कै मांही

अन्यत्र भी,

नादे-बिन्दे रुधिर के संगै,
घट ही मँह घट सपचै,
अष्ट कमल दोउ पदुमी आया,
छूत कहां तै उपजी ?

जाति-भेद के सम्बन्ध में कबीर और बुद्ध के विचारों में इतना साम्य है कि कहीं-कहीं शब्द बिलकुल अनायास और स्वाभाविक रूप से एक हो गये हैं। कबीर साहब ने कहा है 'जाति न पूछो साधु की पूछि लीजिये ज्ञान'। यह इस बुद्ध वचन के बिलकुल समान है, 'जातिं मा पुच्छि, चरणं च पुच्छि'। इसका अर्थ है 'जाति मत पूछो, आचरण पूछो'। कर्म से मनुष्य ऊँचा या नीचा होता है, जाति या वर्ण से नहीं, यह बुद्ध के समान कबीर का भी आधारभूत सन्देश था। बुद्ध ने ब्राह्मण के लक्षणों के सम्बन्ध में जो कहा था वही कबीर ने 'सो ब्राह्मण जो ब्रह्म विचारै' के रूप में कहा है।

कबीर के समतावाद और जाति-भेद-विरोध को हम श्रौत-परम्परा से लिया हुआ न मानकर बौद्ध परम्परा से लिया हुआ मानते हैं, इसका एक आधारभूत कारण है। श्रौत-परम्परा के साधकों ने केवल व्यक्तिगत साधना

में समदृष्टि के महत्त्व को स्वीकार किया है, उसका। अभ्यास भी किया है, परन्तु समाज-व्यवस्था में वे समचर्या के पक्षपाती कभी नहीं रहे। स्वयं गीता का दर्शन चातुर्वर्ण्य की आधारभूमि पर प्रतिष्ठित है। 'पण्डिताः समदर्शिनः' की व्याख्या वहां चातुर्वर्ण्य की बाधक नहीं है। इस प्रकार अभेद की पूर्ण निष्ठा श्रौत परम्परा में कभी नहीं आ सकी। वहां अधिक-से-अधिक समदृष्टि ही रही, समचर्या कभी नहीं, जो श्रमणता का दूसरा नाम है। तुलसीदास तो परम कारुणिक थे, सब जगत् को रामसीयमय जानकर प्रणाम करते थे, परन्तु समाज-व्यवस्था का प्रश्न आने पर, सामाजिक नीति की मर्यादा का उल्लंघन उन्हें पसन्द न था। इसीलिये वे कह सके थे 'पूजिय विप्र सकल गुणहीना। नाहिं शूद्र गुण गणहिं प्रवीना'। तुलसीदास तो फिर भी स्मार्त वैष्णव थे, महाराष्ट्र-सन्त ज्ञानेश्वर को ही ले लीजिये। वे तो आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ थे, सब प्राणियों में समत्त्व की भावना करने वाले थे और उन्हीं का यह कहना है, 'मान लो कि किसी शूद्र के यहां अच्छे-अच्छे पकवान तैयार हुए हैं। अब चाहे कोई ब्राह्मण कितना ही दुर्बल क्यों न हो, फिर तुम्हीं बतलाओ कि क्या कभी उस ब्राह्मण को वे पकवान खाने चाहिये[1]"। इससे हम भली प्रकार समझ सकते हैं कि वेदान्तियों और भक्तों की समचर्या का क्या स्वरूप है और कबीर की भावनाओं का उससे क्या भेद है। बुद्ध और सरोरुहपाद के उद्धरणों को दे देने के बाद निष्कर्ष निकालने की आवश्यकता नहीं रहती कि कबीर के इन सम्बन्धी विचारों का स्रोत क्या है।

सहजयानी सिद्धों की मान्यताओं में गुरु विश्वास पर जोर देना, गुरु को भगवान् से भी बड़ा मानना भी एक विशेष बात थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर ने इसे पूरी तरह स्वीकार किया है। उनका प्रयुक्त 'सतगुरु' शब्द उस समय वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी साधुओं में समान रूप से व्यवहृत होता था। कबीर ने भगवान् का सर्वोत्तम नाम 'सत नाम' या 'सत्तनाम' कहा है उपनिषदों में सत्य के द्वारा ईश्वर का वर्णन तो किया गया है और गीता में भी[2]। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' में 'सन्त' शब्द पर विचार करते हुए इन उद्धरणों में से कुछ को दिया है[3]। वस्तुतः सत्य

(१) गीता ३।३५ की व्याख्या में, ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ ७५ (रामचन्द्र वर्मा का अनुवाद)

(२) देखिये पीछे पृष्ठ १४-१५

(३) देखिये उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ३-८

का ब्रह्म या ईश्वर के साथ एकाकार तो श्रौत परम्परा के साहित्य में अनेक बार किया गया है, परन्तु स्पष्टतः 'सत्यनाम' शब्द ईश्वर या ब्रह्म के लिये व्यवहृत प्राचीन साहित्य में नहीं किया गया है । हम जानते हैं कि अंगुत्तर-निकाय में बुद्ध को 'सच्चनाम' (सत्यनाम--सत्तनाम) कहा गया है[1] । हमारा दृढ़ विश्वास है कि सन्त-साधना का 'सत्तनाम' पालि 'सच्चनाम' ही है, जो तथागत का एक नाम है । इसी प्रकार कबीर द्वारा बाहुल्य से प्रयुक्त 'सुरति-निरति' शब्दों की अनेक व्याख्यायें आचार्य क्षितिमोहन सेन, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं अन्य सन्त साहित्य के अधिकारी विद्वानों के द्वारा की गई हैं । इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र निवेदन यह है कि कबीर की 'सुरति' को बौद्ध साधना की 'स्मृति' से मिलाना चाहिये । 'स्मृति' का निरूपण करते समय इस सम्बन्ध में हम पहले भी कुछ कह चुके हैं । कबीर की 'निरति' तो वस्तुतः 'विरति' ही है । इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन यहां सम्भव नहीं है ।

कबीर की उलटवांसियों पर सिद्ध ढेण्डणपाद की उलटवांसियों की पूरी झलक है, इसका संकेत हम पहले कर चुके हैं। यहां कुछ उदाहरण देना आवश्यक होगा :

ढेण्डणपाद की उलटवांसियां	कबीर की उलटवांसियां
बदल बिआएल गबिया बांझै	**बैल बियाना गैया बांझ**
निते निते बिआला सिह षम जूझे	**नित-नित स्यार सिंह सौं जूझै**

इस प्रकार अन्य अनेक उलटवांसियों की समता दिखाई जा सकती है । वस्तुतः सहजयानी बौद्ध इस प्रकार की उलटबांसियों का प्रयोग अधिकता से किया करते थे और कबीर ने इन्हें उन्हीं की परम्परा से सुनकर रुचि पूर्वक प्रयोग किया था। सहजयान के सहज-मत का परिष्कार भी कबीर ने किया था। कबीर साहब कहते थे 'सहज समाधि भली' और सहज से उनका तात्पर्य था सहज में ही इन्द्रियों पर वशित्व प्राप्त कर लेना । उनका कहना था--

सहज सहज सब कोइ कहै सहज न बूझै कोइ ।
सहजै जिन विषया तजी सहज कहीजै सोइ ॥

सरोरुहपाद और कबीर की वाणियों में अनेक साम्य हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा ।

---

(१) अंगुत्तर-निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ३४६; जिल्द चौथी, पृष्ठ २८९
(पालि टैक्सट् सोसायटी का संस्करण ।)

सरोरुहपाद——जहि मन पवन न संचरह रवि शशि नाइ पवेश ।
तहि बट चित्त विशाम करु, सरुहे कहिय उवेश ।।
कबीर——जिहि वन सीह न संचरै, पंखि उड़ै नहिं जाय ।
रैनि दिवस का गम-नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ ।।

कबीर ने 'शून्य' शब्द का बहुल प्रयोग किया है, उन्होंने शून्य में समाधि लगाई है। 'गगन-गुफा' से उठने वाला 'असमानी सबद' शून्य ही है। सहस्रार चक्र को उन्होंने शून्यचक्र से मिलाया है। ऐसा लगता है कि कबीर ने अलख निरंजन और और शून्य तत्त्व को मिला दिया है। इस प्रकार कबीर ने निर्गुण-वादी वेदान्त और शून्यवादी बौद्धमत का हमें समन्वय ही दिया है जब कि उन्होंने कहा है, 'कह कबीर जहँ वसहु निरंजन तहँ किछु आह कि सून्यं'। ब्रह्मवाद और शून्यवाद की परिणति अनिर्वचनीयता में ही है, यह इस पद की स्पष्ट ध्वनि है।

हठयोग के वर्णन में कबीर ने शरीर में सूर्य, चन्द्र, गंगा, यमुना, सरस्वती की स्थापना की है। सूर्य जब चन्द्र से मिल जाता है, तब अमृत की प्राप्ति होती है। इस प्रकार की सब भाषा और हठयोग सम्बन्धी सब विचार उन्होंने बौद्ध योगियों से लिये हैं। इसी प्रकार कबीर अपने अनेक रहस्यवादी प्रतीकों के लिये भी अपने पूर्ववर्ती बौद्ध सिद्धों के ऋणी हैं। इस विषय का अधिक निरूपण करना हमारे लिये अनावश्यक होगा क्योंकि हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वान् इसका निरूपण कर चुके हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के उपदेशों में अनेक बातें ऐसी हैं जिनकी अद्भुत समता बुद्ध के विचारों से हैं और कबीर के विचारों और उनकी अभिव्यक्ति के स्वरूपों की इसी प्रकार अनेकों बातें ऐसी हैं जो उन्होंने बौद्ध धर्म के अन्तिम अवशिष्ट स्वरूप चौरासी बौद्ध सिद्धों और नाथपंथियों से ली हैं। कहने की आवशयकता नहीं कि नाथपंथियों के अनेक गुरु बौद्ध चौरासी सिद्धों में से ही थे।

अब हम उत्तरी भारत के सगुण भक्तों, पूर्वी भारत के प्रेमरूपा भक्ति के उपासकों और महाराष्ट्र सन्तों की ओर मुड़ते हैं। तुलसीदास ने भक्ति का स्वरूप रखते हुए कहा है 'श्रुति सम्मत हरि भगति पथ संयुत विरति विवेक'। 'संयुत विरति विवेक' में उन्होंने साधु-मत या सन्त-साधना को अवकाश दिया है, श्री डा० बलदेवप्रसाद मिश्र के इस मत से हम सहमत हैं[1]। इतना जोड़ देना आवश्यक होगा कि विरति और विवेक ही बुद्ध और बौद्ध धर्म के मुख्य

(१) देखिये उनके 'तुलसी-दर्शन' में तुलसीदास के भक्ति-मार्ग का विवेचन।

सन्देश है, और श्रमण-धर्म का अनुवाद ही साधुमत है। तुलसीदास की भक्ति नैतिक अधिष्ठान है, इसलिये वह बौद्ध साधना को मान्य है। तुलसीदास जैसे वेद-भक्त कवि ने देवताओं की निन्दा की है, इन्द्र को ईर्ष्यालु बताया है, उसकी उपमा कुत्ते से दी है। बौद्ध धर्म के अदृश्य किन्तु निश्चित प्रभाव का इसे साक्ष्य माना जा सकता है। महाराष्ट्र के भक्त कवियों की यह एक विशेषता है कि कृष्ण के माधुर्यमय जीवन को लेकर भी उन्होंने समाज-नीति का बहुत अधिक ध्यान रक्खा है और उनके वर्णन ऐकान्तिक साधना में इतने दूर नहीं चले गये हैं जितने सूर के या अन्य कृष्णोपासक कवियों के। भक्ति अन्ततः एक राग ही है। सूरदास ने अन्त समय कहा था 'खंजन नैन रूप रस माते'। भगवान् बुद्ध का कोई उपासक इस प्रकार की बात उनके सम्बन्ध में नहीं कह सकेगा, यद्यपि बुद्ध में भी अनन्त सौन्दर्य है। भक्ति में रूप की आसक्ति कुछ न कुछ चाहिये, बौद्ध साधना पूर्णतः अनासक्तिवाद है। बुद्ध के रूप-काय में हम रस-मत्त नहीं हो सकते, जैसे कि कृष्ण या राम के पद-पंकजों में। अब हम तात्त्विक दृष्टि से बौद्ध विचार और भक्ति-दर्शन का कुछ तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

मूल बुद्ध-दर्शन और भक्ति साधना-तत्व का पारस्परिक विचार करते समय सब से पहले यही प्रश्न उपस्थित होता है कि कौन मुख्य है, प्रतिपद् या

बुद्ध 'प्रतिपद्' (मार्ग) पर जोर देते हैं, जब कि भक्ति 'प्रपत्ति' (शरणागति) से अधिक आश्वासन ग्रहण करती है

प्रपत्ति ? वास्तव में इस संप्रश्न के हल में बुद्ध के विचार और भक्ति की भावना के पारस्परिक सम्बन्ध का सारा तत्व निहित है। सामान्यतः ऐसा कहा जा सकता है कि बुद्ध-दर्शन में भक्ति का अभाव है। भक्ति का प्रधान तत्व है शरणागति, पूर्ण आत्म-विस्मृति और अपने उपास्य देव में अनन्य निष्ठा। भक्ति दर्शन का उदय चाहे किसी भी रूप में और किसी भी देश में हो, यह भावना निश्चय ही वहां सब से अधिक बलवती मिलेगी। अनन्य भाव से उपास्य देव के प्रति शरणागति होनी ही चाहिए। इसी को 'प्रपत्ति' कहा जाता है वैष्णव दर्शन में। क्या दक्षिण के वेदान्ती भक्त, क्या बंगदेश के 'प्रेमा' भक्ति में डूबे हुए वैष्णव साधक, क्या निर्गुण में समाधि लगाने वाले उत्तर भारत के सन्त अथवा क्या 'राम चरण रस मत्त' सगुणोपासक भक्त, सभी अनन्य भाव से प्रभु की भक्ति का उपदेश देते हैं और उसे एकमात्र शान्ति का उपाय समझते हैं। इतना

व्यापक यह तत्व है कि इसके उदाहरण न तो वैष्णव-दर्शनों में से ही और न भक्त-कवियों में से ही यहां देने की आवश्यकता है। सभी एक आवाज़ से अपनी निर्बलता और दीनता को प्रख्यापित करते हुए जैसे तुलसीदास को अपना प्रतिनिधि बनाकर प्रभु से पुकारते हैं 'विष पियूष सम करहु अगिनि हिम तारि सकहु विनु बेरे। तुम सम और दयालु कृपानिधि पुनि न पाइहों हेरे'। भगवान् की कृपा के विना भक्त का कोई दूसरा सहारा नहीं है। परन्तु बुद्ध का विचार तो सर्वथा मनुष्य के वीर्य और 'प्रधान' (प्रयत्न) पर ही आश्रित है और उसमें तो मनुष्य का थकित हृदय सिवाय अपने साधन के और शास्ता के उदाहरण के और किसी बात में आश्वासन नहीं ले सकता। बावरि के सोलह शिष्यों में से उपसीव नामक ब्राह्मण ने जब भगवान् से पूछा था 'हे शक्र! मैं अकेले महान् ओघ (संसार-प्रवाह) को निराश्रित हो पार करने की हिम्मत नहीं रखता। हे समन्त चक्षु! आलम्बन बतलाओ जिसका आश्रय ले मैं इस ओघ (भव) को तरूँ'। तो भगवान् का केवल यही उत्तर था 'आकिंचन्य को देख, स्मृतिमान् हो, 'कुछ नहीं है' को आलम्बन बना कर ओघ पार करो। कामों को छोड़, कथाओं से विरत हो, रात दिन तृष्णा-क्षय को देखो'[१]। भक्ति-भावनामय प्राणियों को यहां आश्वासन की गुंजायश नहीं है। फिर जब भिक्षु भगवान् से प्रव्रज्या पाता है, तो उसके योगक्षेम का भार वहाँ बुद्ध 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' कह कर अथवा 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' ऐसा उद्घोष कर या फिर 'तुलसीदास मेरो' ऐसा ही कह कर नहीं लेते, किन्तु उन कारुणिक शास्ता का कुछ क्रम ही और है 'आ भिक्षु! यह धर्म सु-आख्यात है, अच्छी प्रकार दुःख का क्षय करने के लिए तू ब्रह्मचर्य का आचरण कर'। इस प्रकार भगवान् बुद्ध कहते हैं। तथागत किसी की जिम्मेवारी अपने ऊपर नहीं लेते, किन्तु पवित्र जीवनपर्यन्त वे जामिन अवश्य बनते हैं। उनको अपना शास्ता स्वीकार करने का तात्पर्य यह नहीं है कि तथागत किसी के परित्राता बन जाते हैं, प्रत्युत बुद्ध तो केवल मार्ग के दिखाने वाले हैं और मार्ग तो स्वयं भिक्षु को ही चलना होगा। उनके मार्ग में तो कर्म ही केवल अपना है और 'अत्तदीप' होने का ही तथागत का सर्वोत्तम उपदेश है। 'जो कुछ भी वीर्य के द्वारा प्राप्तव्य है, उसे प्राप्त किए विना

(१) देखिए सुत्त निपात--उपसीवमाणव पुच्छा।

मेरा वीर्य न रुकेगा 'ऐसा संकल्पवान् व्यक्ति ही बुद्ध के विचार में आश्वासन प्राप्त कर सकता है। यही बुद्ध के दर्शन का भक्ति के तत्त्व से महान् विभेद है। भक्त अपने बल में विश्वास नहीं कर सकता, यद्यपि वह नित्य प्रयत्नशील रहता है, वह जानता है कि विषय-वासनाएँ बुरी हैं और उन्हें जीतने के लिए निरन्तर प्रयत्न भी करता है, किन्तु 'हौं हारयौ करि जतन विविध विधि' की विवशता अन्त में आ ही जाती है। इसीलिए भक्त कह उठता है 'जानत हूँ अनुराग तहां अति सो हरि तुम्हरे प्रेरे। तुलसिदास यह विपति बांगुरो तुम्हहिं सों बनै निवेरें'। गीतोक्त भगवान् कृष्ण की वाणी कि माया का तरना अत्यन्त कठिन होने पर भी भगवान् की अनन्य शरणागति से सरल हो जाता है[1], इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। कहने का तात्पर्य यह है कि पवित्रता के मार्ग पर तो चलने के बुद्ध दर्शन और भक्ति दर्शन दोनों ही इच्छुक हैं, किन्तु बुद्ध की वीर्यवती वाणी जब कि पुरुषार्थ को प्रधान वस्तु मानती है तो भक्ति की विकलतामयी वाणी उसकी अपर्याप्तता स्वीकार कर भगवत्कृपा भी चाहने वाली होती है। एक आवाज यदि विशुद्ध ज्ञान और पुरुषार्थ की है तो दूसरी अशक्तता और भावना की भी। निर्बल मानवता को कदाचित् दूसरी ही अधिक आकर्षक और आश्वासनकारी मालूम होती है। इसी में भक्ति और महायान धर्म बौद्ध धर्म की सफलता का सारा रहस्य छिपा है, किन्तु स्थविरवाद की उपर्युक्त प्रवृत्ति के कारण ही वह भी सभी युगों में वेदान्त दर्शन के साथ ही अधिक विचारशील लोगों के मनन का विषय हुआ है। इस प्रकार बुद्ध-दर्शन और भक्ति दर्शन के सम्बन्ध के समग्र प्रश्न को हमने इस बात में देखा कि जब कि बुद्ध की वाणी का समग्र जोर 'प्रतिपद्' अथवा मार्ग पर चलने में ही है, भक्ति उसकी सुगमता के लिए भगवत्कृपा की भी कांक्षिणी होती है। यदि भगवत्कृपा कोई वास्तविक और नियमित वस्तु है तो वह 'प्रधान' करने वाले को अवश्य स्वतः मिल ही

---

(१) दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
मिलाइये वहीं 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्', 'अनित्यमसुखं......भजस्व माम्', 'शृणु मे परमं वचः—मन्मना भव मद्भक्तो' 'मामेकं शरणं व्रज', 'अनन्येनैव योगेन......तेषामहं समुद्धर्ता' 'मय्येव मन आधत्स्व' 'भक्तिरव्यभिचारिणी', 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन' आदि, आदि।

जायगी[१]। और यदि भगवत्कृपा मिल जाती है तो 'प्रतिपद्' पर चल सकने में ही क्या सन्देह है ? अतः विचार की दृष्टि से विभिन्न दिखाई देने वाली भी ये विचार-पद्धतियों जीवन में इतनी विभिन्न नहीं हैं। कुछ भी हो, विभेद तो यहां प्रधानता देने में है और हम देखते हैं कि बुद्ध-दर्शन प्रतिपद् पर तो भक्ति-दर्शन 'प्रपत्ति' पर जोर देता है। दक्षिण की भक्ति-परम्परा में तो इस प्रश्न को लेकर वैष्णवों के दो भाग ही हो गए। अर्थात् एक वे जो आचारमार्ग को ही प्रधान मानने लगे और दूसरे वे जो शरणागति को अधिक महत्वपूर्ण मानने लगे[२]। गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति-पद्धति में हमें प्रतिपद् और प्रपत्ति का सन्तुलित रूप मिलता है। प्रपत्ति से वहां साधना का आरम्भ है, परन्तु उसकी परीक्षा प्रतिपद् में है। गोस्वामी वल्लभाचार्य के 'पुष्टिमार्ग' में प्रपत्ति ही भक्ति का सर्वस्व हो गई है और प्रतिपद् पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। यहां यह आपत्ति हो सकती कि बुद्ध के द्वारा भी तो शरणागति का विधान किया गया है और वहां भी तो 'बुद्धं सरणं गच्छामि-धम्मं सरणं गच्छामि-संघं शरणं गच्छामि' इस प्रकार त्रिशरण की व्यवस्था है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यह शरणागति वैष्णव या भक्तिमयी शरणागति से सर्वथा भिन्न है। तथागत ने अपनी शरीर-पूजा से तो भिक्षुओं को विरत रहने और केवल मार्ग पर चलने का तो आदेश दिया ही[३], साथ ही किसी भी प्रकार की अपनी पूजा या उपासना का आदेश उन्होंने कभी नहीं किया। भगवान् तो बोधि-राजकुमार द्वारा बिछाई हुई चैल-पंक्ति पर भी न चले[४] और

---

(१) "भिक्षुओ, यदि प्राणी ईश्वर-निर्माण के कारण सुख-दुःख भोगते हैं, तो अवश्य भिक्षुओ! तथागत अच्छे ईश्वर के द्वारा निर्मित हैं जो कि वें आस्रव-विहीन सुख-वेदना को अनुभव करते हैं। यदि भिक्षुओ, नहीं......तो भी भिक्षुओ तथागत आस्रव-विहीन सुख-वेदना को अनुभव करते हैं....." देवदह सुत्त (मज्झिम-निकाय)

(२) अर्थात् क्रमशः बडकलै (जिनके प्रवर्तक आचार्य वेदान्तदेशिक थे), और टेंकलै (जिनके प्रवर्तक आचार्य लोकाचार्य थे)

(३) देखिए महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ-निकाय में) 'अव्यावटा मा तुम्हे आनन्द होथ तथागतस्स सरीर पूजाय'।

(४) देखिए बोधिराज कुमार सुत्त में 'राजकुमार ! बिछे धुस्सों को समेट लो। भगवान् भावी प्रजाओं का खयाल कर उन पर न चलेंगे'। आनन्द की

भिक्षुओं के द्वारा धर्म का पालन किए जाने पर ही उन्होंने अपने को सर्वोत्तम रूप से सत्कृत और पूजित हुआ माना[१]। वस्तुतः बुद्ध, धर्म और संघ की अनुस्मृति या शरणागति का प्रयोजन चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार और दुःख-विमुक्ति ही है[२]? 'महानाम! तुम तथागत का स्मरण करो 'ऐसे वे भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध विद्या-चरण-सम्पन्न, सुगत, लोकविद्, अनुपम पुरुष-दम्य-सारथी देव-मनुष्यों के शास्ता हैं। जिस समय महानाम! आर्य श्रावक तथागत को अनुस्मरण करता है, उस समय उसका चित्त न राग-लिप्त होता है, न द्वेष-लिप्त, न मोह-लिप्त। उसका चित्त ऋजु मार्ग पर आपन्न होता है। इस प्रकार आर्य श्रावक परमार्थ ज्ञान को प्राप्त होता है, धर्म ज्ञान को प्राप्त होता है, धर्म से संयुक्त हुआ वह आध्यात्मिक आनन्द को प्राप्त होता है.......महानाम! तुम इस बुद्धानुस्मृति को प्राप्त कर यह भावना करो.......और फिर महानाम! तुम धर्म का अनुस्मरण करो—भगवान् का धर्म सु-आख्यात है, तत्काल फलदायक है कालान्तर में नहीं, यही दिखाई देने वाला और विज्ञों द्वारा अपने आप ही में जानने योग्य है.......और फिर महानाम! तुम संघ का अनुस्मरण करो, भगवान् का श्रावक संघ सुप्रतिपन्न है, भगवान् का श्रावक-संघ ऋजु-प्रतिपन्न है.........'[३]। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है बुद्ध के साधना-मार्ग में त्रिशरणानुस्मृति का एकमात्र उद्देश्य नैतिक ही है, अन्य कोई

बोधि-राजकुमार के प्रति उक्ति, मज्झिम० २।४५ में; देखिये चुल्लवग्ग ५ भी।

(१) देखिए महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३)

(२) मिलाइये, यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च संघञ्च सरणं गतो।
चत्तारि अरिय सच्चानि सम्मपञ्ञाय पस्सति॥
दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियञ्चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं॥
एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमम्।
एतं सरणमागम्य सब्बदुक्खा पमुच्चति॥

(३) महानाम सुत्त (अंगुत्तर० ११।२।२); देखिए सर्वास्तिवाद परम्परा में भी यही विचार, 'बुद्धसंघकरान् धर्मान् अशैक्षान् उभयांश्च सः। निर्वाणं चैति शरणं यो याति शरण त्रयम्'॥ अभिधर्मकोश ४।३२

रहस्यात्मक तत्व नहीं। कुछ भी हो, बौद्ध साधना का भी आरम्भ शरणागति से ही है, ऐसा कहा जा सकता है। आचार्य बुद्धघोष ने एक जगह कहा है कि आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ की सूचना देने वाली शरणागति ही है। शरणागति आध्यात्मिक जीवन के उदय का लक्षण है। यह एक महान् आध्यात्मिक सत्य है जिसकी सिद्धि भक्ति-दर्शन के समान स्थविरवाद बौद्ध धर्म में भी हुई है। हम पहले देख चुके हैं कि श्रद्धा की कितनी महिमा बौद्ध धर्म के आदिम स्वरुप में स्वीकृत है और श्रद्धा की विकसित अवस्था को ही आचार्य बुद्धघोष ने 'भक्ति' (भत्ति) कहा है। फिर गुरु-भक्ति के रूप में तो भक्ति बुद्ध के प्राथमिक शिष्यों में भी विद्यमान थी। भगवान् के परम अग्रणी शिष्य सारिपुत्र का उनके प्रति उद्गार है 'मार सेना को दमन करने वाले बुद्ध, एक ही के प्रति श्रद्धा रखना, एक ही की शरण जाना, एक ही को प्रणाम करना, भवसागर से तार सकता है'[1]। इस एक वाक्य में अनन्य भक्ति के समग्र तत्व हमारी समझ से उपस्थित हैं। फिर शास्ता के इन्हीं परम ज्ञानी शिष्य ने अपने शास्ता के प्रति जो उद्गार अपने परिनिर्वाण के लिए उनसे अन्तिम विदाई लेते समय किये, उनमें ही भक्ति-तत्व का क्या कम परिपाक हुआ है। स्थविर (सारिपुत्र) ने रक्तवर्ण हाथों को फैलाकर शास्ता के चरणों को पकड़ कर कहा 'भन्ते! इन चरणों की वन्दना के लिए सौ हज़ार कल्पों से भी अधिक काल तक मैंने असंख्य पारमिताएँ पूरी कीं। वह मेरा मनोरथ सिर तक पहुँच गया। अब आपके साथ फिर जन्म ले एक स्थान में एकत्रित होना नहीं है। अब यह विश्वास छिन्न हो चुका। अनेक शत सहस्र बुद्धों के प्रवेश-स्थान अजर, अमर, क्षेम, सुख, शीतल, अभय, निर्वाण पुर जाऊँगा। यदि मेरा कोई कायिक या वाचिक कर्म भगवान् को न रुचा हो तो भगवान् क्षमा करें। मेरा जाने का समय है'[2]। इसी प्रकार आनन्द के भी कई उद्गार स्मरणीय है[3]। बीमार भिक्षु वक्कलि तो अपने साथी भिक्षु के द्वारा कहे हुए बुद्ध-वचनों को भी चारपाई पर लेटे हुए नहीं सुन सकता था। 'मेरे लिये यह उचित नहीं कि मैं चारपाई

---

(१) मिलिन्द प्रश्न में सारिपुत्र-वचन के रूप में उद्धृत, देखिए भिक्षु जगदीश काश्यप का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २९६

(२) देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१३

(३) उदाहरणतः उन्होंने परिनिर्वाण के समय कहा 'मैंने परम श्रद्धा के साथ बुद्ध की सेवा की है.... अब मैंने जीवन के विशाल भार को फेंक दिया है"।

पर लेटे शास्ता के वचनों को सुनूं। ' धरती पर अपने को उतरवा कर उसने बुद्ध वचनों को सुना। इससे सिद्ध है कि व्यावहारिक रूप में बुद्ध के शिष्य अपने शास्ता को उपास्य दृष्टि से ही देखते थे और यह प्रवृत्ति भिक्षु नागसेन के समय तक तो इतनी पहुँची कि मिलिन्दप्रश्न के स्थविरवाद-परम्परा के ही ग्रन्थ होने पर भी उसमें बुद्ध की पूजा और भक्ति जैसी बहुत सी बातें कही गई हैं[1]। महायान के भक्ति तत्व को निश्चय ही इन से बहुत प्रेरणा मिली होगी। यही बुद्ध के विचार का भक्ति तत्त्व से संक्षिप्त सम्बन्ध-निरूपण है।

महायान दर्शन और भक्ति तत्त्व

महायान धर्म में भक्ति तत्त्व का किस गूढ़ रूप से समावेश हो गया, यह हम पहले देख चुके हैं। हमने यह भी पहले देखा है कि बोधिसत्वों आदि की पूजा और भगवान् बुद्ध को जगत् के त्राता और पिता समझने की प्रवृत्ति किस प्रकार बौद्ध धर्म में समा गई और मूलतः विशुद्ध नैतिकवाद पर प्रतिष्ठित बौद्ध धर्म कालान्तर में एक भक्तिमय स्वरूप प्राप्त कर गया। इन सब बातों का विवेचन हम चतुर्थ प्रकरण में चुके कर हैं[2]। यहां इतना कह देना और आवश्यक होगा कि बौद्ध धर्म में भक्ति के विकास के पूर्वरूप में प्रतिपद् और प्रपत्ति की भावना में समन्वय था, या प्रतिपद् का स्थान कुछ ऊँचा था। इस स्थिति का प्रतीक अश्वघोष का युग है। सौन्दरनन्द में भगवान् बुद्ध नन्द से कहते हैं, "अभ्यर्थनं मे न तथा प्रणामो धर्मे

---

(१) देखिए मिलिन्द प्रश्न, एक तरफ तो महास्थविर नागसेन यह कहते हैं, 'परिनिब्बुतो महाराज भगवा, न च भगवा पूजं सादियति, बोधिमूले येव तथागतस्स सादियना पहीना, किं पन अनुपादिसेसाय निब्बान धातुया परिनिब्बुतस्स' तो दूसरी ओर ही अविरुद्ध भाव से कहने लगते हैं 'न च भगवा पूजं सादियति असादियन्तस्सेव तथागतस्स ञाणरतनारम्मणेन सम्मापटिपत्तिं सेवन्ता तिस्सो सम्पत्तियो पटिलभन्ति...... इमिना पि महाराज कारणेन तथागतस्स परिनिब्बुत्तस्स असादियन्तस्सेव कतो अधिकारो अवज्झो भवति सफलो', मेण्डक पञ्हो, पृष्ठ १०० (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)। लोकधर्म की भावना को इस प्रकार उत्साह देना ही भक्ति की जड़ों को प्ररूढ़ करना है।

(२) देखिये पीछे महायान धर्म का विवेचन।

यथैषा प्रतिपत्तिरेव'[१] अर्थात् मुझे प्रणाम करना मेरा वैसा सम्मान नहीं है, जैसा कि धर्म का आचरण करना। बाद में बुद्ध की शरणागति प्रधान हो गई और धर्माभ्यास गौण। 'सुखावती-व्यूह' की यही परिस्थिति है। मध्ययुगीन भक्ति से प्रायः इसी अवस्था की अधिक समानता है। अब हम संग्राहक रूप से भक्ति-दर्शन और बौद्ध दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध पर आते हैं।

संग्राहक दृष्टि से बौद्ध-दर्शन और भक्ति दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध—तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में—प्रमाण-मीमांसा के क्षेत्र में—आचार-मीमांसा के क्षेत्र में—

भक्ति-दर्शन भी एक मार्ग है जिस प्रकार कि मूलतः बुद्ध-दर्शन था। दोनों ही तत्वमीमांसा से विशेष सम्बन्ध नहीं रखते, इसी अर्थ में कि मार्ग उनके लिए प्रधान है। किन्तु यहां एक अन्तर भी है। भक्ति केवल करुणा पर आश्रित है, और बुद्ध में करुणा और बुद्ध दोनों हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि करुणा से बुद्धि ही कुछ अधिक है। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं 'को जानै को जइहै सुरपुर को......तुलसिहिं बड़ो भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को' उसी प्रकार बुद्ध भी साधना के फल को कालान्तर की चीज नहीं मानते। इस जीवन में भक्तगण इतने 'रामचरणरसमत्त' रहे कि उन्होंने पाई हुई मुक्ति का भी निरादर किया। 'धरम न अरथ न काम रुचि पद न चहहुँ निरवान। जनम जनम रति रामपद यह वरदान न आन' ऐसा गोस्वामी तुलसीदास जी ने गाया और महाराष्ट्र में भी सन्त तुकाराम ने योग और मोक्ष को पैरतले पड़ी हुई चीज़ें बतलाया। ये सब बातें बताती हैं कि भक्तों ने इसी जीवन में उस आनन्द को पाया था जिससे परम और कुछ नहीं है। इसी अत्यन्त सुख रूप निब्बाण को इसी जीवन में साक्षात्कार कर भिक्षु साधक कह सकते थे 'सुसुखं वत जीवाम।' हम सुख से जी रहे हैं। भक्तों ने तत्व मीमांसा नहीं की। वे प्रायः वैष्णव आचार्यों के ही तत्त्ववाद पर अपनी प्रतिष्ठा रखते रहे। अतः बौद्ध दर्शन की तरह स्वतन्त्र विचार का बीज उनमें कभी नहीं उग सका। हां कबीरदास जी इसके एक बड़े जबरदस्त अपवाद हैं। 'अपनी राह तू चले कबीरा' ऐसा गम्भीर निनाद वही एक व्यक्ति थे जो मध्ययुगीन भारत में कर सकते थे। जातिगत और वंशगत श्रेष्ठता के

---

(१) सौन्दरनन्द १८।२२

विचारों को सब से पहले इन्हीं महात्मा ने मध्ययुगीन भारत में विध्वंसित किया। जैसा हम पहले कह चुके हैं, कबीर ने जब सृष्टि के आदि कारण का चिन्तन करते हुए यह कहा था 'कह कबीर जहँ बसहु निरंजन तहँ किछु आह कि सून्यं' तो उन्होंने बौद्धों के शून्य और वेदान्त के निर्गुण निर्विकार—जो सन्तों का 'निरंजन' है—के बीच मध्यस्थता कर दी थी। 'तहँ किछु आह कि सून्यम्' का उत्तर नासदीय सूक्त के ऋषि से लेकर नागार्जुन, शंकर, श्रीहर्ष और सैकड़ों अन्य मनीषियों की बुद्धियां भी आज तक नहीं दे सकी हैं। इसी शून्य में स्नान कर कबीर साहब शीतल हुए थे। 'तपन गई सीतल भया, जब सुन्नि किया असनान।'[1] इतना जबरदस्त प्रभाव मध्ययुगीन साधना पर शून्यवाद का उपलक्षित होता है कि महान् मुसलमान साधक मलिक मुहम्मद जायसी भी विना गाए नहीं रहे। 'इहै जब तकै पुन्न यह जप तप सब साधना। जानि परै जब सुन्न मुहमद सोई सिद्ध भा। भा भल सोह सो सुन्नहिं जानै। सुन्नहि तें सब जग पहचानै। सुन्नहि तै है सुन्न उपाती। सुन्नहिं ते उपजहिं बहु भांती। सुन्नहिं मांह इन्द्र बरम्हण्डा। सुन्नहि ते टीके नवखण्डा। सुन्नहिं ते उपजे सब कोई। पुनि बुलाइ सब सुन्नहिं होई। सुन्नहिं सात सरग उपराहीं। सुन्नहि सातों धरति तराहीं। सुन्नहिं ठाठ लाग सब एका। जीवहिं लाग पिण्ड सगरे का। सुन्नम सुन्नम सब उतराहीं।' सुन्नहि मँह सब रहे समाई'। इतना ही नहीं, परम तत्त्व को वे 'गुपुत तें, गुपुत सुन्न तें सुन्नू' भी कहते हैं और फिर शून्य और ब्रह्म अथवा आत्म-स्वरूप का वह समन्वय करते हैं जिसको आज तक कोई भारतीय दार्शनिक नहीं कर सका है 'हुता जो सुन्नम सुन्न नावँ ठावँ ना सुर सबद। तहां पाप नहिं पुन्न मुहमद आपुहि आपु आपु महँ'। निश्चय ही यहां नागार्जुन (शून्यवाद) और शंकर (ब्रह्मवाद) दोनों के ही अद्वितीय समन्वय को इस सूफी साधक ने हमें दिया है।

जिस प्रकार तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र की ओर भक्तों ने विशेष ध्यान नहीं दिया, उसी प्रकार प्रमाण-मीमांसा की भी उन्होंने कोई चिन्ता नहीं की। वेद के प्रामाण्य को तो प्रायः सब ने स्वीकार किया ही। 'श्रुति सम्मत हरि भगति पथ' गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा, दक्षिण में समर्थ रामदास ने भी अपने 'दासबोध' में वेद-भक्ति की शपथ ली, और तो और जायसी भी तो इस पर-

---

(१) मिलाइये अन्यत्र भी—'हद्द छोंडि बेहद गया किया सुन्नि असनान', 'सहज सुन्न में रहै समाना।

म्परा से विरहित नहीं हो सके। 'वेद पन्थ जो नहिं चलहिं ते भूलहिं वन मांझ। झुंठ बोल थिर रहै न रांचा। पण्डित सोइ वेद मत सांचा॥ वेद वचन मुख सांच जो कहा। सो जुग जुग अहिथिर होइ रहा'। बंगीय वैष्णव भक्त तो इससे भी आगे बढ़ गए। उन्होंने न केवल वेद को ही प्रमाण माना, किन्तु श्रीमद्भागवत पुराण को भी सर्वशास्त्रचक्रवर्तित्व का स्वरूप दे दिया। 'भक्ति-सन्दर्भ' में तो 'मदीयलीलाशून्यं वैदिकमपि वाचं नाभ्यसेत्' इसका भी प्रतिपादन किया गया और श्री रूप गोस्वामी जी ने अपने 'संक्षेप भागवतामृत' में मुक्तिविस्तार करते हुए 'प्रधानत्वात् प्रमाणेषु शब्द एव प्रमाण्यते' यह भी कहा जो बौद्ध विचार की परम्परा के किसी भी स्तर से कोई मेल नहीं खा सकता। यह दिशा बिलकुल बौद्ध विचार से विपरीत चली गई है। चूंकि मनीषी आचार्यों की भक्ति की सिद्धि प्रधानतया वेद से न होकर श्रीमद्भागवत से ही होती है, इसलिए वे इतना भी कहने से नहीं चूके हैं 'वेदेर निगूढ़ अर्थ बूझने ना जाय। पुराण वाक्य सेई अर्थ करये निश्चय'। सम्भवतः यह शब्द प्रमाण को उसकी आत्यन्तिक सीमा तक बढ़ाना है। किन्तु सम्भवतः यह प्रवृत्ति तत्कालीन कठोर तर्कवाद के प्रति प्रतिक्रिया रूप में ही थी जैसा कि सार्वभौम के इन शब्दों से भी प्रकट है---'तर्क शास्त्रे जड़ आमि यैछे लौहदण्ड। आमे द्रवाइले तुमि प्रताप प्रचण्ड'। दक्षिण की भक्ति परम्परा, जिसमें वेदान्त की भावना एक गम्भीर रूप से सर्वत्र निहित है, इस विषय में बड़ी संयत है। उग्र रूप तो कबीर में ही हमें सभी प्रकार के बन्धनों को तोड़ने का मिलता है, फिर चाहे वे बन्धन वेद के हों या किसी अन्य के।' साधु सती और सूरमा इन पटतर कोउ नाहिं। अगम पन्थ को पग धरें डिगें तौ कहां समाहिं।' जिस अदम्य वीर्य को बुद्ध ने प्रारम्भ किया था, उसी की एक झलक इन शब्दों में कैसी अच्छी मिलती है 'साध का खेल तो विकट बेड़ा मती सती और सूर की चाल आगे। सूर घमसान है पलक दो चार का सती घमसान पलक एक आगे। साध संग्राम है रैन दिन जूझना। देह पर्यन्त का काम भाई'। बंगाल का वैष्णव धर्म जिसका स्वरूप 'शृंगारिक रहस्यवाद' का था नैतिक तत्त्वों की कुछ अवहेलना सी करता रहा, कम-से-कम उसने इसे प्रधान स्थान नहीं दिया और इस कमी को श्री सुशील कुमार दे ने भी स्वीकार किया है[1]। अन्यथा अन्य भक्ति सम्प्रदायों ने स्पष्टतया नीति तत्व

(१) देखिए उनका 'वैष्णव फ़ेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बंगाल', अध्याय ६; स्वयं श्री चैतन्य देव अथवा उनके उपदेशों में तो इस कमी का आरोप करना

को एक प्रधान स्थान अपनी भक्ति साधना में दिया है। बाह्य कर्मकाण्ड का भी प्रायः सभी जगह अभाव है। 'पाइवे पै जानिवो करम फल भरि भरि वेद परोसो' तुलसीदास ने कहा है, जो यज्ञवादी धर्म के प्रति बौद्ध प्रवृत्ति के अनुकूल ही है।

इस प्रकार एक अनन्यसाधारण आध्यात्मिक वायु-मण्डल मध्ययुगीन भारत में भक्तों की परम्परा के द्वारा भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक कहीं साखी सबदी सुना कर, कहीं 'मंगल मुद दैनी' राम कथा का श्रवण कराकर, कहीं प्रभु की ह्लादिनी शक्ति के साक्षात्कार करा कर, कहीं 'न तुम्हीं सोडवीं राम हा अन्तकालीं' ऐसा आश्वासन देकर, प्रसारित किया गया जो निश्चय ही निर्बल मनुष्यों में (सशक्त कौन है ?) चारित्र्यगुण का सञ्चार करने का अद्‌भुत सामर्थ्य रखता है। निश्चय ही इस मार्ग पर जो चलते हैं वे भी भवबन्ध को काटते हैं, यहीं अमृत परोसा हुआ अपने लिए देखते हैं, महान् ओघ को ये तरते हैं अथवा यों कहिए कि महान् ओघ ही इनके लिए सूख जाता है। 'राम जपत भवसिन्धु सुखाहीं' यह वाणी सत्य से खाली नहीं है और न असत्य है भक्ति मार्ग के विषय में कही हुई यह उक्ति ही 'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा'। सच्चिदानन्दमय राम के हृदय में रहते अज्ञानान्धकार प्रवेश नहीं कर सकता, काम नहीं ठहर सकता, विषय की तो वार्ता ही नहीं रहती। 'राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं'। अपरिमित आश्वासनप्रद साधना भक्ति है। पापी से पापी के लिये यहां आश्वासन है। ज्ञान और वैराग्य की साधना कलियुग में नहीं है। 'संन्यास लेते ही मन बिगड़ता है' और 'सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन'। इसी भूमिका को लेकर भक्ति चलती है। वह ज्ञान, विराग और वैदिक ज्ञान को मिथ्या नहीं कहती। 'सो सब भांति खरो'। परन्तु उसको ग्रहण करने की क्षमता

पाप ही होगा—सबे परस्त्रीरप्रति नाहि परिहास। स्त्री देखि दूरे प्रभु हयेन एक पाश'। इसी प्रकार उनका उपदेश भी 'एइ सब गुण हय वैष्णव लक्षण। सब कहा ना याय करि दिग्दरशन॥ कृपालु अकृतद्रोह सत्य-सार सम। निर्दोष वदान्य मृदु शुचि अकिंचन॥ सर्वोपकारक शान्त कृष्णैक शरण। अकाय निरीह स्थिर विजित षड्‌गुण॥ मितभुक् अप्रमत्त मानद अमानी। गम्भीर करुण मैत्र कवि दक्ष मौनी॥' शान्त भिक्षु के लक्षण भी तो यही हैं!

तो कलियुग के मनुष्य में नहीं है। इसलिये जिसको राम नाम प्रिय है 'ताको भलों अजहुँ कलि कालहुँ आदि मध्य परिनामो'। हम जानते हैं कि नाम साधना का महान् आश्वासन बौद्ध धर्म को भी बाद में मिला जो एक महा आध्यात्मिक प्राप्ति थी। 'जाकी प्रीति प्रतीति जहां तहँ ताको काज सरो' कह कर भक्तों ने इन साधनाओं से समन्वय स्थापित कर लिया है। इस प्रकार भक्ति का दर्शन भी एक अनुत्तर रूप से भारत में पवित्रता का स्थापन करने वाला ही हुआ और चूंकि भक्ति अपने विशुद्ध रूप में उन्हीं विरागादि गुणों को सम्पादन करने वाली होती है जिनके लिए बोधि पक्षीय धर्मों का उपयोग था, अतः वह भी शास्ता के शासन का एक अंग ही समझी जा सकती है, ऐसा कहने का हम प्रस्ताव रखते हैं, 'गोतमी ! जिन धर्मों को तू जाने कि ये विराग के लिए हैं, सराग के लिए नहीं, वियोग के लिए हैं संयोग के लिए नहीं, असंग्रह के लिए हैं, संग्रह के लिए नहीं, इच्छाओं को कम करने के लिए हैं इच्छाओं को बढ़ाने के लिए नहीं, सन्तोष के लिए हैं असन्तोष के लिए नहीं, एकान्त के लिए हैं भीड़ के लिए नहीं, उद्योगिता के लिए हैं अनुद्योगिता के लिए नहीं, सरलता के लिए हैं कठिनाई के लिए नहीं। तो तू गोतमी ! सोलहो आने जानना कि वह धर्म है, वह विनय है, वह शास्ता का शासन है'। चूंकि हम शत-सहस्र भक्तों के अनुभव पर जानते हैं कि भक्ति-धर्म ज्ञान-उपयोगी है, ब्रह्मचर्य-उपयोगी है, वह निर्वेद के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए, उपशम के लिए, अभिज्ञा के लिए, संबोध के लिए और निर्वाण के लिए सम्यक् रूप से सेवित किया जाने पर होता है, अतः हम विनम्रतापूर्वक कह सकते हैं (केवल नीति-दिशा को लेकर) कि वह (बोधि-पक्षीय धर्मों के) शास्ता का भी सोलहो आने धर्म भी है, विनय भी है और शासन भी है, जहां तक कि वह उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति करता है। महायानी बौद्ध जब नाम जप करने लग जाता है और वैष्णव साधक जब भावना करने लग जाता है, 'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो' तो प्रतिपद् और प्रपत्ति मिल जाती हैं और यही भारतीय साधना का चरम निष्कर्ष है। और फिर 'पूजेथ नं पूजनियस्स धातुं' कह कर तो निश्चय ही भगवान् ने कुछ बाकी ही नहीं छोड़ा। बिना भक्ति और श्रद्धा के बौद्ध धर्म के प्रथम फल का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, हां उसका अन्तिम फल तो प्रज्ञा ही है।

---

(१) पजापती सुत्त (अंगुत्तर० ८।२।१।३); बुद्धचर्या, पृष्ठ ८१

औ—बौद्ध दर्शन और तन्त्र-सिद्धान्त

तन्त्र दर्शन के स्वरूप और सिद्धान्तों पर एक विहंगम दृष्टि

अन्य भारतीय साधनाओं की तरह तन्त्रों की साधना भी अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवतः वह प्रागैतिहासिक भी हो सकती है, क्योंकि मिश्र आदि देशों में भी पुराने समय में तान्त्रिकों की किसी-न-किसी प्रकार परम्परा का पता लगा ही है। अथर्ववेद में तो मन्त्र-तन्त्रों की भरमार ही है। तन्त्र शब्द का अर्थ किया गया है वह शास्त्र जो ज्ञान का विस्तार करे। 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्'। इसी प्रकार शैव सिद्धान्त नामक ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि 'तनोति विपुलानर्थान् तन्त्रमन्त्रसमन्वितान्। त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते'। तात्पर्य यह कि शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान और दर्शन के अर्थ में 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध होता है। भगवान् शंकर ने[1] सांख्य-दर्शन-प्रणाली के लिए भी 'स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता' ऐसा कहा है। इसी प्रकार न्याय दर्शन और योग दर्शन तक के लिए भी उनके साथ 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग महाभारत में उपलब्ध होता है। तन्त्र का पर्यायवाची शब्द ही 'आगम' है। तत्त्व-वैशारदी[2] में सर्वतन्त्रस्वतंत्र वाचस्पति मिश्र ने 'आगम' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है 'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मात् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः।' तन्त्रों या आगमों के तीन प्रकार बताए गए हैं। वैष्णवागम (पाञ्चरात्र या भागवत) शैवागम और शाक्तागम। महाभारत-काल से ही इन मतों का वर्णन सतत होता चला आया है और उपर्युक्त प्रकार से जो उनका विभाजन किया गया है उसमें निश्चय ही बहुत से वैष्णव आचार्यों के मत भी स्वभावतः आ ही जाते हैं। किन्तु तन्त्र की इतनी व्यापक भावना लेने से हमारा यहां प्रयोजन नहीं है। निश्चय ही शैव, शाक्त और प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्तों के भी निदर्शन करने से हमें यहां कोई प्रयोजन नहीं है। यहां हमारा तात्पर्य केवल उन सम्प्रदायों की विचार प्रणाली से है जो वैदिक परम्परा के समान बौद्ध परम्परा में भी प्रवेश कर अपनी वाममार्गी प्रवृत्तियों से उसकी जड़ों को खोखला कर रहे थे और जिन्होंने बौद्ध धर्म को तो बिलकुल विनष्ट ही कर दिया।

---

(१) ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१ में।
(२) १।७

तान्त्रिक लोग अद्भुत प्रतीकों का प्रयोग करते थे और बड़े योगी होने का भी दावा करते थे। उनका प्रभाव बौद्धों पर पड़ा और बौद्धों ने भी उनको बहुत कुछ दान दिया। विशेषतः नैपाल और बंगाल में शैवों और शाक्तों ने बहुत सी बातें बौद्धों से लीं। किन्तु तात्विक दृष्टि से बुद्ध की शिक्षाओं में और तन्त्र सिद्धान्तों में कुछ भी समन्वय नहीं था। भगवान बुद्ध ने मध्यमा प्रतिपद् पर जोर दिया था, अतः बौद्ध धर्म में हठयोग, मन्त्र-तन्त्र आदि को प्रोत्साहन नहीं था, अनर्थकारी बातों को तो होता ही कहां से। अतः जब बौद्ध धर्म में चौरासी सिद्धों का युग आया, जिनका वर्णन महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने ग्रन्थ 'पुरातत्व निवन्धावली' में विस्तार से दिया है,[1] तो यह भारत में बौद्ध धर्म के बुरे दिनों का ही सूचक था। उपासना चाहे भैरव भवानी की हो चाहे बुद्ध और तारा की, उस पर बुद्ध-धर्म टिक नहीं सकता था और ऐसा ही हुआ भी। हम पहले कह चुके हैं कि तूरानी देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार की आवश्यकता के परिणाम-स्वरूप तान्त्रिकता का समावेश बौद्ध धर्म में हो गया, अथवा यों कहना चाहिये कि उन देशों की तांत्रिक पृष्ठभूमि को स्वीकार कर बौद्ध धर्म ने उसके माध्यम से अपना संदेश देना शुरू किया। तिब्बत का लामाई बौद्ध धर्म और चीन और जापान के शिगोन (मंत्रयान सम्प्रदाय) इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। रहस्यात्मक मन्त्रों के उच्चारण ने बौद्ध धर्म में भी जोर पकड़ा। 'गते गते परगते परसंगते बोधि स्वाहा' (हे बोधि ! पार चले गये, पार चले गये, पार पहुँच गये, स्वाहा) जैसे मन्त्रों की आवृत्ति प्रज्ञापारमिता के प्राप्त्यर्थ होने लगी। मन्त्रवादी सम्प्रदायों में ही नहीं, ध्यान (जैन) बौद्ध धर्म के लाखों अनुयायी आज भी 'प्रज्ञा पारमिता हृदय सूत्र' के इस मन्त्र का जप प्रतिदिन करते हैं[2]। 'स्वाहा' शब्द बता रहा है कि वैदिक यज्ञवाद का अनिवार्य प्रभाव भी बौद्ध तन्त्रवाद पर पड़ा है। बुद्ध के मूल उपदेशों के अनुसार प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये शील और ध्यान का अभ्यास आवश्यक है, मन्त्रों की आवृत्ति से वह नहीं मिल सकती। परन्तु यह परिवर्तन बौद्ध साधना में आ गया। बुद्ध ने कहा था, 'मन्त्रोच्चारण एवं अग्नि आहुति द्वारा जन्म-मरण से मुक्ति नहीं होती। मन्त्रोच्चारण करने से और आहुति आदि देने से विषयों

बुद्ध-मन्तव्य सरल और केवल मध्यमा-प्रतिपद् पर प्रतिष्ठित

(१) पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३५-१६०

(२) देखिये सुजुकी : एसेज़ इन जैन बुद्धिज्म (थर्ड सीरीज़) पृष्ठ २०२-२०७

की तृष्णा दृढ़तर होती है'[१]। बुद्ध की शिक्षाओं के अनुसार योग की ऋद्धियों में न शान्ति है और न संयम। परन्तु बाद में बौद्ध धर्म में यह सब चल पड़ा।

उत्तरकालीन बौद्ध धर्म में तान्त्रिकता का समावेश

जब इस प्रकार बौद्ध धर्म में तान्त्रिकता का समावेश हो गया तो, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उसमें अनेक दोष उत्पन्न हो गए जिनका वर्णन तात्विक दृष्टि से यहां उपयुक्त न होगा। न केवल धार्मिक किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में भी नये-नये ग्रन्थ रच कर बुद्ध को अनेक योग की क्रियाओं का उपदेष्टा बताया गया और वह भी विभूतियों को प्राप्त करने के लिए। प्रातिमोक्ष शील भिक्षु-संघ से लुप्त हो गया और वामाचारी लोग मांस और मदिरा का भी प्रचार करने लगे।

इसी कारण बौद्ध धर्म और दर्शन के परिष्कार की भी आवश्यकता और आर्य सनातन धर्म रूपी महा समुद्र में नाम और रूप छोड़कर उसका समावेश और लोप

इसीलिए बौद्ध धर्म और दर्शन की परिशुद्धि की भी आवश्यकता प्रतीत हुई और यह काम शंकर ने बड़ी लगन के साथ किया। परिणामतः जिस आर्य-सनातन धर्म रूप महानद से बौद्ध धर्म निकला था, उसी में बाद में नामरूप खोकर वह मिल गया और यह काम भारत में विशेषतः तान्त्रिकता के बौद्ध धर्म में प्रवेश करने के कारण ही हुआ। यहां यह कह देना अनावश्यक न होगा कि बौद्ध धर्म का यह अन्तिम भग्न तांत्रिक रूप भी नाथ-पन्थ और सन्त-साधना पर अपने प्रभाव की अमिट छाप छोड़ गया है, जिसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं।

अं—बौद्ध दर्शन और आधुनिक भारतीय विचार

उपोद्घात

आधुनिक भारतीय विचार में, और न केवल आधुनिक भारतीय विचार में ही अपि तु समग्र विश्व के चिन्तन में, बौद्ध दर्शन अपने महत्व को पुनः प्राप्त कर रहा है। जैसा कि सर बैरन जयतिलक ने कहा है 'बौद्ध धर्म ही भावी संसार का धर्म होगा'[२]। यह श्रद्धा का विजृम्भण ही नहीं, किन्तु एक सत्य है। धर्म से तात्पर्य युग के सर्वोच्च

---

(१) बुद्ध-चरित १६।५७-५९

(२) देखिए उनका इस विषय पर निबन्ध 'विश्ववाणी' (मई १९४२, बौद्ध संस्कृति अंक) पृष्ठ ५२३-५२६

आध्यात्मिक आदर्शों से है और ये आदर्श बौद्ध धर्म ही दे सकता है, क्योंकि सार्वभौम तत्व उसी में सब से अधिक हैं, नैतिक अनुभूति की व्यापकता उसी की सब से अधिक तीव्र है, कर्मकाण्ड उसी में सब से कम है और वैज्ञानिक निष्कर्षों से उसी का सब से अधिक साम्य है । आध्यात्मिक संस्कृति पर उसी ने सब से अधिक जोर दिया है और लोक-कल्याण के लिए सेवा-धर्म का भी विस्तार उसने किया है । मनस्तत्व का अत्यन्त गम्भीर पर्यवेक्षण करके उसने अपने नैतिक तत्व का निर्माण किया है जिसे मिथ्या धार्मिक विश्वासों से ऊबा हुआ मनुष्य आज चाहता है । सारांश यह कि अनेक कारणों से बौद्ध धर्म और दर्शन न केवल भारत के ही किन्तु सम्पूर्ण विश्व के आकर्षण का कारण बन गया है ।

एक लम्बी मूर्च्छा के बाद भारतीय विचार की अभी स्फूर्तिमय जागृति और आत्मस्वरूपानुस्मृति

भारतीय विचार की तो अभी जागृति ही हुई है । उसे अपने आदर्श, पूर्व के चिन्तन आदि कुछ भी स्मरण नहीं रहे थे । गत शताब्दी में वह खूब सोया, जबकि संसार वैज्ञानिक मार्ग पर बढ़ रहा था । अभी उसकी मूर्च्छा जगी है । वह सोचता है कि मेरे भी आदर्श हैं जिन पर मैं अपने जीवन का निर्माण कर सकता हूँ । यहां यह कह देना न्याय्य होगा कि इस नव-जागरण में प्रधान कारण वास्तव में वही रहे हैं जिन्होंने उसका सम्मोहन भी किया था । हमें अपने बुद्ध, याज्ञवल्क्य, शंकर और अशोक कब स्मरण थे ? जब इन विषयक अध्ययन, गवेषण और मूल्यांकन पहले अँग्रेजों ने किया, तभी तो उनके पदचिह्नों पर हम इसमें प्रवृत्त हुए ! बुद्ध और बौद्ध दर्शन के विषय में तो यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप से ठीक ही है । 'सर्वदर्शन संग्रह' और 'शंकर दिग्विजय' के वर्णनों को छोड़ कर हम सुगत या उनके धर्म के विषय में क्या अभिज्ञा रखते थे ? बुद्ध को सिवाय नास्तिक, वेदनिन्दक और प्रजाओं के विमोहन करने को आए हुए भगवान् विष्णु के अवतार को छोड़ और हम क्या जानते थे ? सब से पहले सत्यान्वेषी, गवेषणप्रिय और स्वतन्त्रप्रज्ञ विदेशियों ने ही तो बौद्ध धर्म और दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ किया । प्रारम्भिक रूप से 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन सम्बन्धी ज्ञान हमने सब से पहले विदेशी विद्वानों से ही तो तो पाया । पश्चिम में ही तो ट्रैन्कनर, स्पीजल, वैस्टरगार्ड, चाइल्डर्स, जेम्स एल्विस, फ़ौसबॉल, एण्डरसन, बैंडल, पिशल, मिनयफ़, एडमण्ड हार्डी, ओल्डनबर्ग, कर्न, विगेन्डेट, रिचार्ड मौरिस, रायज़ डेविड्स, गायगर, वैलेसर, विंडिश, ई० जे० कारपेन्टर, चामर्स, पूसाँ, वारेन, ओटो श्रेडर, जैकोबी, लैनमैन,

बर्लिंगेम, ग्रिम, मूर, सर चार्ल्स इलियट, लियोन फ़िअर और चेरवास्की, आदि मनीषियों ने सर्वप्रथम पालि ग्रन्थों का सम्पादन, अनूदन और बौद्ध धर्म और दर्शन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचने का प्रयत्न किया। हमारे यहां तो भिक्षु उत्तम की यह अन्यतम अभिलाषा ही कि समग्र त्रिपिटक साहित्य अपने मूल रूप में नागरी अक्षरों में ही आ जाय, अभी तक पूरी नहीं हो पाई है! क्या यह हमारे जागरण का लक्षण है? क्या पालि टैक्स्ट सोसायटी के कम-से-कम अनुकरण के ही हम योग्य नहीं हैं? किन्तु कुछ आत्मानुस्मृति के चिह्न हममें मिलते हैं। यह कुछ प्रसन्नता की बात है कि हम भी अपने यहां बुद्धदत्त, हरप्रसाद शास्त्री, धर्मानन्द कोसम्बी, वेणीमाधव वाड़ुआ, सतीशचन्द्र विद्याभूषण, सुरियगोड सुमंगल, बापट, हरिनाथ दे, अनागारिक धम्मपाल, गुणरत्न, जयतिलक, नारद, सिद्धार्थ, नलिनाक्ष दत्त, सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप जैसे कतिपय नाम गिना सकते हैं जिन्होंने पालि एवं बौद्ध धर्म और दर्शन के क्षेत्र में बहुत प्रशंसनीय कार्य किया है। किन्तु इतना ही पर्याप्त है, यह कौन कहेगा? जिस सर्वविध और सब दिशाओं में प्रसरणशील स्फूर्तिमय जागरण के लक्षण हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन में कुछ दिनों से प्रकट हो रहे हैं उनके परिणामस्वरूप बुद्धानुस्मृति को भी तो एक अभिनव रूप धारण कर हमारे हृदय-पटल पर आना ही चाहिए ताकि उन विश्व-गुरु की, उन देव और मनुष्यों के शास्ता की, वीर्यवती वाणी हमारे सर्वविध जीवन का परिष्कार करे और हम उनके सन्देश को सुन सकें, स्वयं अपनी ही आज की लोक-भाषा में, राष्ट्र-भाषा हिन्दी में, उसकी गौरव-वृद्धि के लिये।

आधुनिक युग सर्वत्र ही एक अभूतपूर्व परीक्षण-युग, स्वभावतः ही बौद्ध विचार के प्रति एक नई दिलचस्पी और शाक्य-मुनि का आकर्षण

आधुनिक युग सर्वत्र ही एक अभूतपूर्व परीक्षण का युग है। सर्वत्र मनुष्यों के विचार में एक अद्भुत क्रान्ति है। परम्परागत धर्मों के बन्धन ढीले पड़ गए हैं। जड़वादी वैज्ञानिक तत्ववाद के भी निष्कर्ष आश्वासनकारी नहीं हैं। धार्मिक नेताओं की लोलुपता और भोगवादी प्रवृत्ति के कारण विचारकों की उनमें श्रद्धा नहीं रही। कोई नहीं जानता कि मनुष्य का भविष्य क्या है। 'अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः' की उपनिषद् वाणी आज खूब चरितार्थ हो रही है। सभी धर्म और आदर्श आज परीक्षा में होकर गुजर रहे हैं। महान् हृदय-मन्थन चारों ओर दिखाई पड़ रहा है। कहने की आवश्यकता

नहीं कि मानवतावादी बुद्ध-धर्म के लिए यह एक अच्छा अवसर है। वह वैज्ञानिक परीक्षा पर खरा उतरता है। यहां विश्वास की आवश्यकता नहीं। इस 'एहि-पस्सिक धम्म' की ओर विश्व-मानव की रुचि दिन-दिन बढ़ेगी, इसमें सन्देह नहीं।

आधुनिक युग के अरुणोदय में रामकृष्ण परमहंस ने अपनी वैष्णवी भाषा में भगवान् बुद्ध को ईश्वर का साक्षात् अवतार कहा था। 'शान्तं शिवमद्वैतं' के उपासक स्वर्गीय विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने तथागत के प्रति श्रद्धामयी भावना उपस्थित करते हुए उन 'करुणा धन' से पृथ्वी को कलंक शून्य करने की प्रार्थना की थी:—

"हिंसा-उन्मत्त धरणि, नित्य निठुर द्वन्द्व
घोर कुटिल जगत-पन्थ लोभ जटिल बन्ध
नूतन तव जन्म-हेतु कातर सब प्राणी
करो त्रास महाप्राण, लाओ अमृतवाणी
विकसित कर प्रेम-पद्म चिर मधुर निष्यन्द
शान्त हे, मुक्त हे, हे अनन्त पुण्य
करुणाधन, धरणीतल कर कलंकशून्य ॥"
"दानवीर करो दान त्याग कठिन दीक्षा
ग्रहण करो महा-भिक्षु अहंकार-भिक्षा
लोक-लोक विगत-शोक, नष्ट करो मोह,
उज्ज्वल हो ज्ञान-सूर्य उदय-समारोह
पायें प्राण सकल भुवन, पायँ दृष्टि अन्ध
शान्त हे, मुक्त हे, हे अनन्त पुण्य !
करुणाधन, धरणीतल कर कलंक शून्य ॥"[१]

इतना ही नहीं, उन क्रान्तदर्शी कवि ने इस 'दत्त-तिलक-रक्त-कलुष-ग्लानि' आधुनिक जगत् की सन्तप्त अवस्था और उसकी समस्याओं का समाधान और प्रतिकार तथागत (या उनके धर्म) के आविर्भाव में ही देखा था। उन्हीं की उदात्त पद-योजना में—

---

(१) देखिए धर्मदूत, सितम्बर १९३९, पृष्ठ ६९, ७०

'क्रन्दनमय निखिल हृदय ताप दहन दीप्ति
विषय-विष-विकार-जीर्ण दीर्ण अपरितृप्त
देश-देश दत्त-तिलक-रक्त-कलुष-ग्लानि
निज मंगल शंख लाओ निज दक्षिण पाणि
निज शुभ संगीत राग निज सुन्दर छन्द
शान्त हे ! मुक्त हे ! हे अनन्त पुण्य !
करुणाधन धरणीतल कर कलंक शून्य ।।

पर्वत-शिखर के समान उच्च आध्यात्मिक अनुभूति वाले शाक्यमुनि की तुलना किसी आधुनिक महापुरुष से नहीं की जा सकती । विश्ववन्द्य महात्मा गांधी भी उनके सामने समतल भूमि पर ही खड़े दिखाई पड़ते हैं । गांधी जी की जीवन-साधना में अदम्य वीर्य था, प्रज्ञा भी थी, परन्तु जिस प्राप्ति के लिये उन्होंने उद्योग किया, वह अत्यन्त उच्च और लोक कल्याणकारी होते हुए भी, अन्ततः भौतिक ही थी । अध्यात्म-पिपासुओं को उसमें पूरा आश्वासन नहीं मिल सकेगा । परन्तु गांधी जी ने विश्व में मैत्री-धर्म का प्रसार किया, जो मैत्रेय बुद्ध का काम है । भगवान् 'अट्ठकथाचरिय' ने एक जगह कहा है कि तथागत क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दो कुलों में ही जन्म लेते हैं । महात्मा गांधी जी ने भगवान् 'अट्ठकथाचरिय' की इस उक्ति को मिथ्या साबित कर दिखाया है । महात्मा गांधी तथागत के ही स्वरूप हैं । इस युग में समग्र विश्व में गांधी जी ही एक जगे हुए व्यक्ति हैं, एक 'बुद्ध' हैं, ऐसा हम कहते हैं । जो उनके मार्ग पर चलते हैं वे भारतीय दर्शन की सर्वोत्तम शिक्षाओं का ही अनुसरण करते हैं । गांधी जी के नीति-तत्व की गौतम बुद्ध के नीति तत्व से बहुत समानता है, किन्तु एक बात में विभेद भी है । गांधी जी का नैतिक आदर्शवाद एक क्षण भी ईश्वरवाद के बिना टिकता नहीं दीखता, ईश्वर-विश्वास या आस्तिकता सत्याग्रही की अनिवार्य शर्त है, परन्तु तथागत इन सब दृष्टियों से परे चले गये थे। कर्म का फल है, यही उनके लिये आस्तिकता थी । गांधी जी कुछ अधिक विश्वासी स्वभाव के आदमी थे। बेरियर एल्विन के सारगर्भित शब्दों में, गांधी जी 'मध्यकालीन कैथोलिक साधुओं के ढंग के आदमी हैं'[1], और यही उनकी तथागत से मुख्य विभिन्नता है, ऐसा हम कह सकते हैं । वैसे दोनों ही महात्माओं का

(१) जवाहरलाल नेहरू : 'मेरी कहानी', पृष्ठ ४८७ में उद्धृत ।

आविर्भाव लोक-कल्याण के लिए ही हुआ और दोनों ही विश्व के वन्द्य हैं, एक अतीत के जगे हुए पुरुष हैं तो दूसरे वर्तमान के। 'नमः मैत्रेयाय'।

जड़वाद के निश्चित परिणामों से विह्वल, धार्मिक विश्वास जैसी किसी भी चीज़ के लिए अयोग्य, शान्ति की इच्छुक किन्तु अपने व्यष्टि और समष्टि सभी रूपों में तत्रतत्राभिनन्दिनी तृष्णा की बुरी तरह से शिकार, मानवता के लिए आश्वासन और सन्देश

भगवान् तथागत का उपदेश आधुनिक युग के लिए एक महान् सन्देश रखता है। आधुनिक जगत् में हम सर्वत्र ही क्या देखते हैं? लोभ, घृणा और मोह की आग सभी जगह तो धधक रही है। बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञों और राज्यों के नियमन करने वालों के भी तो 'अकुशल' चित्त हो रहे हैं। व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता आज कहां है? सभी जगह तो जड़वाद के निश्चित परिणाम उपलब्ध हैं। भगवान् ने भोगों के दुष्परिणामों के बारे में जो कुछ भी कहा था वे सब तो आज समाज में दिखाई पड़ रहे हैं। क्या शोषित और क्या शोषण करने वाले सभी तो आज कराह रहे हैं। कर्म की धार क्या कम पैनी है? ऐसी हालत में सिवाय 'नन्दी' (तृष्णा) को छोड़ने के और क्या उपाय है?[1] लिप्सा क्यों नहीं छोड़ी जाती, फिर चाहे वह साम्राज्य की हो, चाहे व्यापार की, चाहे विजय की, चाहे सोने के सिक्कों की? "जैसे गृहपति! गिद्ध, कौआ या चील मांस के टुकड़े को लेकर उड़े, उसको गिद्ध भी, कौए भी, चील भी पीछे उड़-उड़ कर नोचें-खसोटें। तो क्या मानते हो गृहपति! क्या गिद्ध, कौए और चील यदि शीघ्र ही उस मांस के टुकड़े को न छोड़ दें, तो क्या उसके कारण मरण या मरणान्त दुख को वे न पाएँगे?" "पाएँगे, भन्ते!" समस्त संसार में यही तो सब जगह आज हो रहा है। सारा समाज और सब व्यक्ति इसी प्रयत्न में हैं कि इस मांस लगे हड्डी के टुकड़े को हम लें कि हम। तथागत के वचन व्यर्थ नहीं

---

(१) 'पूर्ण! नन्दी (तृष्णा) की उत्पत्ति से दुःख का समुदय कहता हूँ'। पुण्ण-सुत्त (संयुत्त० ३४।४।६);
"ऊपर, नीचे, तिर्यक् और मध्य में सारी संग्रह करने की तृष्णा को छोड़ दो। लोक में जो संग्रह करता है उसी से मार जन्तुओं का पीछा करता है। संग्रह करने वालों को मृत्यु के हाथ में फँसी प्रजा समझ सारे लोक में कुछ भी संग्रह न करें।' भद्रावुध-माणव-पुच्छा, सुत्तनिपात ५

हो सकते कि यदि वे उस हड्डी के टुकड़े को, उस आमिष उपादान को नहीं छोड़ते तो वे पाएँगे मरण को या मरणान्त दुःख को। बाहरी विधानों को बनाने से क्या होता है, चार्टरों और उद्घोषणाओं के करने से क्या होता है, जब तक राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति को व्यापक और व्यावहारिक रूप से यह नहीं सिखाया जाता कि संग्रह से त्याग ही श्रेष्ठ है, सतृष्ण होने से अ-तृष्ण होना ही ठीक है, कामों के प्रापण से उनका छोड़ देना ही श्रेयस्कर है (जो भारतीय दर्शन का सामान्य और बौद्ध दर्शन का विशेष सन्देश है) तब तक लोक के व्यापक कल्याण की आशा नहीं। समत्व की स्थापना तब तक न होगी, स्वामित्व लोग तब तक न छोड़ेंगे। 'हा सन्तप्त ! हा पीड़ित' की आवाज यदि संसार से दूर करनी है तो शास्ता बुद्ध ने जो मार्ग दिखाया था उसी से यह सम्भव हो सकता है, फिर चाहे उनके नाम को हम भले ही छोड़ दें जिसके लिए उन्हें भी बिलकुल आग्रह नहीं था। यदि शील और मैत्री की प्रतिष्ठा समाज में है, पाप के प्रति सलज्जता और भय है तो इसे बौद्ध धर्म का प्रचार ही समझना चाहिये। आज का मनुष्य किसी भी धार्मिक विश्वास जैसी चीज़ के लिए योग्य नहीं रहा। अनेक आघात-प्रतिघातों के फल-स्वरूप वह इस परिणाम पर आ पाया है। अतः जिस धर्म में विमुक्ति है किन्तु देवताओं की दासता नहीं, जहां अनुत्तर नैतिक आदर्शवाद है किन्तु कर्मकाण्ड नहीं, जहां कारुणिकता है किन्तु बुद्धि का अभाव नहीं, जहां परम आश्वासन है किन्तु देववाद की आवश्यकता नहीं, वह आज मानवता को प्रियकर कैसे नहीं हो सकता ? उसका सार्वभौम स्वरूप किस समय मनुष्य को शान्ति नहीं दे सकता। चाहे गृही हो चाहे प्रव्रजित, चाहे ब्राह्मण हो चाहे अन्त्यज, चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, सभी के लिए महाश्रमण के मार्ग में आश्वासन की पर्याप्ति सामग्री है। कर्म का मूल्य देकर उसे हम खरीद सकते हैं।

बौद्ध दर्शन की बहुत सी मान्यताएँ आज विचारकों के द्वारा पुनरुज्जीवित की जा रही हैं, यह बौद्ध विचार की महिमा का एक प्रख्यापन है। इस प्रकार 'अभिधर्म' में जो चित्त-धारा का वर्णन है उसने जंग जैसे विचारकों का मार्ग प्रदर्शन किया है और उनके विचारों को उसने पूर्णता प्रदान की है[१]। यदि आयंस्टन के वैज्ञानिक पारिभाषिक भाग

(१) देखिए ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक के प्राक्कथन में केसियस ए० पेरीरा का वक्तव्य।

को छोड़ दें तो उनका सापेक्षवाद भी उन्हीं तर्कों का प्रवर्तन करता है जिनका कि बौद्ध माध्यमिक मत। इसी प्रकार द्वन्द्व-मूलक तर्क-पद्धति में 'पट्ठान' के कुछ नयों का प्रवर्तन देखा जा सकता है। भगवान् बुद्ध की मनोवैज्ञानिक दिशा एवं उनकी तात्विक परिस्थिति को प्रकारान्तर से क्रमशः फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां और प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट ने भली प्रकार दिखाया है, इसके निदर्शन में हम यहां प्रवृत्त नहीं हो सकते। इसी प्रकार चेतनाद्वैतवादी ब्रेडले ने अपने ग्रन्थ 'ऐपियरैन्स एण्ड रिअलटी' में बौद्ध विज्ञानवाद के तर्कों को पुनरुज्जीवित किया है। जर्मन दार्शनिक शोपेनार पर बौद्ध दर्शन का जो विशाल प्रभाव पड़ा है, वह अविदित नहीं है। काउंट कैसरलिंग, सर फ्रांसिस यंगहस्बेन्ड और बरट्रैण्ड रसल जैसे उच्चकोटि के विचारकों ने बौद्ध दर्शन के प्रभूत महत्व को स्वीकार किया है।

अः—संश्लेषणात्मक दृष्टिपात और एक सर्वनिष्ठ संग्राहक तत्व की ओर संकेत

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि का अनुवर्तन कर हमने वैदिक काल से लेकर अब तक की भारतीय विचार-परम्परा का बौद्ध दर्शन के साथ सम्बन्ध देखा।

अनेक तत्त्वज्ञान सम्बन्धी और प्रमाण-प्रमेय विषयक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की भूमि में सब दर्शन एक होते हैं

अनेक तत्वज्ञान और प्रमाण-प्रमेय व्यवहार सम्बन्धी विभिन्नताएँ हमने विभिन्न दर्शनों के विवेचन में देखीं और यदि मनुष्य अपनी विश्लेषणात्मिका प्रवृत्ति को कुछ भी प्रोत्साहन दे तो इन विभिन्नताओं का कोई अन्त नहीं है। 'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' यह वाणी इसी प्रवृत्ति की परिचायक है, किन्तु सम्पूर्ण सत्य इतना ही नहीं है। यदि विभाजक बुद्धि के द्वारा ही सत्य पाना सम्भव होता और वही एक मात्र उपकरण उसकी अधिगति में कारणस्वरूप होता तो सम्भवतः हमको निराश होने का कारण था, किन्तु विचारकों के सामान्य मत से स्वानुभूति ही, सहज अन्तर्ज्ञान ही वह वस्तु है जो हमें सत्य के निकट पहुँचा सकती है। इस स्वानुभूति का पाना विना पवित्र जीवन के सम्भव नहीं है, जो सभी विचार का अन्तिम गन्तव्य स्थान है। आत्म विद्या को यदि अपने अभिमुख करना है तो जीवन को पवित्र

बनाना ही होगा, फिर चाहे दार्शनिक सिद्धान्त कोई भी हमें रुचता हो अथवा न रुचता हो। साधना के क्षेत्र में ही समग्र दार्शनिक नयों का पड़ाव डालने के हम पक्षपाती हैं। सभी प्राचीन ऋषियों और दर्शनकारों ने यही सिखाया है। दर्शन का अन्य कोई प्रयोजन ही नहीं है। 'शमार्थं सर्वशास्त्राणि विहितानि मनीषिभिः। स एव सर्वशास्त्रज्ञः यस्य शान्तं मनः सदा।' यह महाभारत की वाणी भारतीय दर्शन के विद्यार्थियों के लिए भूरि-भूरि स्मरणीय है। निश्चय ही सभी भारतीय दर्शनों का उद्भावन ही, जैसा कि हम पहले विवेचित कर चुके हैं, इस जीवन की 'हा सन्तप्त ! हा पीड़ित' अवस्था के शमन के लिए हुआ है। जिसने जीवन में शान्ति पाई है, उसने समग्र भारतीय दर्शनों के लक्ष्य को सम्पादित कर लिया है। जो विभिन्नता चिकित्सा-शास्त्र में वर्णित दवाइयों में होती है, वही विभिन्नता भारतीय दर्शन-प्रणालियों में भी है। अनेक दवाइयां होते हुए भी जिस प्रकार रोग के अनुसार उनके देने का विधान होता है और इससे वैद्यक शास्त्र में ही कोई परस्पर विरोधभाव अथवा असम्बद्धत्व नहीं आ जाता, उसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों और स्वभावों को लेकर उत्पन्न प्राणी भिन्न भिन्न निष्ठाओं और साधनाओं से प्रभावित होते हैं और उन पर चल कर लक्ष्य को सम्पादन करते हैं। अतः आरोग्य लाभ तो सब को होता ही है, और यही आवश्यक वस्तु भी है। किन्तु यदि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के प्रश्नों को लेकर और जीवन से असम्बद्ध होकर हम चलें तो हम कहीं नहीं पहुँचते। बुद्धि के विकल्पों का अन्त नहीं है और उनमें शान्ति नहीं है। बोध के लिये निर्विकल्प चित्त चाहिये, जो शील के अभ्यास से ही उत्पन्न होता है। सदाचार के बिना ध्यान नहीं होता और विना ध्यान के ज्ञान नहीं है। अतः ज्ञान का आधार जीवन में है। जो प्रवृत्तियां धर्म के लिए हैं या जो अधर्म के लिए हैं, जिनके द्वारा हम ज्ञान, निर्वेद, उपशम, अभिज्ञा और निर्वाण की ओर बढ़ते हैं अथवा जिनके द्वारा हम अज्ञान, ग्रहण, अशान्ति, अविद्या और बन्धन की ओर प्रवण होते हैं, उनके विषय में क्या दो दर्शनकारों का भी कोई विभेद है ? क्या गीताकार ने यही बात नहीं कही ? क्या षड्दर्शनकारों ने प्रायः सभी ने साधना-मार्ग का प्रख्यापन कर इसी बात को प्रख्यापित नहीं किया ? तो फिर विवाद तो जीवन को छोड़, उसकी पवित्रता को छोड़, बुद्धि के विकल्पों में ही रहा, जो अकिञ्चित्कर है। विशुद्धि सब जगह है, वैदिक दर्शन में भी, जैन दर्शन में भी और बौद्ध दर्शन में भी। आचार्य वसुबन्धु ने कहा है 'श्रामण्य निर्मल मार्ग

है'[1] । आगे उन्होंने कहा है 'ब्राह्मण्य भी वही है ।'[2] दोनों अनास्रव मार्ग हैं ! तो फिर क्या शेष रहा ? 'अत्र ह्येते सर्वे एकं भवन्ति ।'

—

(१) श्रामण्यम् अमलो मार्गः । अभिधर्मकोश ६।५१

(२) ब्राह्मण्यमेव तत् । वहीं ६।५४

छठा प्रकरण

उपसंहार और भारतीय दर्शन-साधना में बौद्ध दर्शन के स्थान और महत्व का अनुमापन

सिंहावलोकन और अन्तिम निष्कर्ष--'विश्वे सतो महान्त इत्'

गत पृष्ठों में बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों का जो पर्यालोचन किया गया है, उससे भारतीय दर्शन के अंगभूत बौद्ध दर्शन का तत्समान अन्य दर्शन-प्रणालियों से क्या तात्त्विक और ऐतिहसिक सम्बन्ध है, इसे एक अत्यन्त संक्षिप्त और परिमित रूप में हमने देखा है। पहले भारतीय दर्शन की सामान्य प्रवृत्तियों और उसकी चिन्ता के मुख्य विषयों पर विचार कर हमने उसके ऐतिहासिक विकास को देखा। फिर 'नास्तिक' नाम से पुकारे जाने वाले बौद्ध दर्शन के प्रति इस परम्पराभुक्त निन्दा बुद्धि का परिहार और निरसन करते हुए हमने एक विशुद्ध, मंगलमय एवं पक्षपातरहित भूमि में अपने विषय का उपन्यास किया, पूर्वोक्त भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियों और उसके ऐतिहासिक विकास का आश्रय और प्रकाश लेते हुए। बौद्ध दर्शन के भारत में उद्भव और विकास का एक संक्षिप्त विवेचन उपस्थित कर एवं उसके साहित्य, तत्त्वदर्शन, आचारतत्त्व और प्रमाण-दर्शन आदि पर कुछ विचार कर, हमने अन्त में सहोदर भारतीय दर्शनों के साथ उसके सम्बन्ध को अपने अध्ययन का विषय बनाया। वैदिक प्रज्ञान से लेकर आधुनिक भारतीय विचार तक सभी ऐतिहासिक दर्शन-पद्धतियों के साथ हमने बौद्ध दर्शन का एक के बाद एक से मैत्री-पूर्ण आलिंगन कराया और इस प्रकार एक शास्त्र से दूसरे शास्त्र की ओर प्रगति करते हुए हम कहां पहुँचे ? किस दिशा को हमने अपना गन्तव्य बनाया और किस रूप में हमने समस्या को देखा ? जहां शंकर, कपिल, बुद्ध और याज्ञवल्क्य जैसे मस्तिष्कों से जूझना है, वहां एक अल्पज्ञ जीव के अन्तिम निष्कर्ष जैसी कोई बात कहना तो केवल अहम्मन्यता ही होगी। एक

मक्षिका का आकाश को नापने जैसा प्रयत्न होगा। पूर्वगत परमर्षियों के सामने हम सब कितने बौने हैं, इसकी पूरी अनुभूति हम कभी कर ही नहीं सकते। अतः उन पुरुषोत्तमों के विचारों के परीक्षणस्वरूप जो कुछ भी यहां कहा गया है या आगे कहा जायगा, वस्तुतः केवल मानव-बुद्धि का सम्मान रखने के लिए ही होगा, हृदय-पक्ष से तो कभी नहीं। फिर अपनी श्रद्धा का मूल्य चुकाकर ही तो इन सब पूर्व मनीषियों के प्रज्ञानों को, जो विशेषतः नैसर्गिक और सहज आन्तरिक अनुभूति पर प्रतिष्ठित हैं, हम कदाचित् समझ भी सकें, किन्तु उन उत्तरकालीन महाप्रज्ञ वादियों और प्रतिवादियों की परम्पराओं को लेकर हम क्या करेंगे, जिनका सिवाय तार्किक विरोध के और किसी बात में साम्य ही नहीं है। वात्स्यायन और दिङ्नाग, कुमारिल और धर्मकीर्ति, नागार्जुन और श्रीहर्ष, जैसे मनीषियों के तर्कजालों के पास भी हम नहीं फटक सकते, उनको समझना और उनकी समीक्षा करना तो दूर की बात है! फिर इन दोनों की अर्थात् पूर्व के ऋषियों, सहज अनुभव सम्पन्न महात्माओं और जीवन के शास्ताओं की, और उत्तरकालीन उनके व्याख्याकार आचार्यों की, आपेक्षिक महत्ता की मर्यादा भी हम क्या आंकेंगे ? क्या हम पूर्व मनीषियों के अपरोक्षानुभूति पर व्यवस्थित प्रज्ञानों पर विशेषतः अपनी दृष्टि केन्द्रित कर समन्वय-विधान की प्रतिष्ठा में प्रवृत्त होंगे, या उस प्रवृत्ति से विभिन्न मार्ग का अवलम्बन कर, समन्वयवाद का निरसन कर, उत्तरकालीन तार्किकों की वाद-परम्परा से ही विशेषतः सत्य निकालने की चेष्टा कर, अन्त में उनके पारस्परिक विरोधी तर्कों को उनके ही एक दूसरे के विरुद्ध प्रयुक्त कर, और इस प्रकार उन सब को धराशायी कर और एक प्रकार से नागार्जुन, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और श्रीहर्ष की ही वाद-परम्परा का पुनरुज्जीवन कर, और इतना ही नहीं, आधुनिक संदेहवादी अथवा अविज्ञेयतावादी वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी उसमें समावेश कर, (जैसासाधु शान्तिनाथ ने अपनी 'प्राच्य-दर्शन-समीक्षा' पुस्तक में किया है) अपने मन और बुद्धि को भ्रमित करेंगे। अथवा विशुद्ध वैज्ञानिक मार्ग का अवलम्बन कर किसी निश्चित निष्कर्ष पर न पहुँच कर केवल वस्तुस्थिति के निर्देश मात्र से ही सन्तोष कर लेंगे। जो मनीषी विद्वान् न केवल वैदिक और बौद्ध दर्शनों के ही बल्कि प्रायः सभी भारतीय दर्शनों के एक दूसरे के साथ समन्वय-विधान का प्रयत्न करते हैं, वे उनकी विभिन्नताओं को जानकर ही ऐसा करते हैं, और जो विश्लेषणात्मक बुद्धि वाले मनीषी उनकी विभिन्नताओं का प्रख्यापन करते नहीं थकते, वे भी उनकी आधारभूत

समानताओं से अनभिज्ञ होते हों, ऐसी भी बात नहीं है। और फिर जो मध्यस्थ मार्ग का अवलम्बन कर वैज्ञानिक अध्ययन जैसी वस्तु को उपस्थित करने का प्रयत्न करते हैं, वे ही किसी विशेष प्रकाश में रहते हों, ऐसी भी बात नहीं है। कोई भी ऐसा सुनिश्चित मार्ग नहीं है जिस पर चलकर साधक विद्यार्थी कह सके 'यहि मग चलत सुलभ मोहिं भाई'। वस्तुस्थिति के समान होने पर भी अन्त में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मनुष्य की श्रद्धा ही प्रधान है। हमने जिस दृष्टि का अवलम्बन लिया है, वह समन्वयात्मक ही कही जा सकती है। मतवादों के चौरस्तों को पारकर हमने जीवन की भूमि में उन सभी पर केवल एक ही अभिलेख पढ़ा है और वह है 'जीवन-विशुद्धि', 'सत्व- शुद्धि'। इसी की अधिगति के लिए सभी महनीय दर्शनों का उदय हुआ है, और इसी में उनका स्वाभाविक पर्यवसान भी है। अधिकारी-भेद से से, या विशिष्ट ऐतिहासिक और तात्त्विक पृष्ठभूमियों के भेद से, विभिन्न दर्शन-प्रणालियों में भेद है। परन्तु सत्य तो उन सब में अभिव्याप्त है। अतः वे सब समान रूप से महान् हैं। 'विश्वे सतो महान्त इत्'। यदि किसी एक विचार-धारा को किसी दूसरी विचार धारा से श्रेष्ठ भी मान लिया जाय तो भी उस विचार धारा को मानने के कारण किसी व्यक्ति का अपने को श्रेष्ठ मानने लग जाना तो भयंकर अनर्थ और नैतिक पतन का कारण होगा। वह तो उस अहंभाव का बढ़ाने वाला होगा जो सम्पूर्ण भारतीय दर्शन-साधनाओं के सम्मिलित साक्ष्य से हीन और त्याज्य है। भिक्षु के मन में जब भूल से अभिमान आ जाता है तो वह अपने सौन्दर्य विहीन मुंडित सिर को छूता है, अपने काषाय वस्त्रों और भिक्षा-पात्र को देखता है। अहंभाव के विनाश के लिये ही बौद्ध धर्म की साधना की जाती है और उसकी शिक्षा के अनुसार उस साधना में भी श्रेष्ठता का अभिमान नहीं किया जा सकता। कोई भी धर्म हो या दर्शन, अन्ततः तो पर वस्तु ही है। वह केवल तरने का एक साधन है। अतः उसमें अभिनिवेश का होना अज्ञान का लक्षण है। बन्धन का कारण है। मनुष्य को मिलेगा तो वही जिसे वह अपने कर्म से अर्जित करेगा। अतः न कोई दर्शन छोटा है और न बड़ा। छोटे बड़े की धारणा ही मिथ्या है। सब सत्य के उपासक हैं और साधक अपनी योग्यता, स्वभाव और प्रवृत्ति के अनुसार सत्य उनसे ग्रहण करना है। वे जितना हमें दे सकते हैं वह महान् है। परन्तु महत्तर वह है जिसे वे हमें नहीं दे सकते, जो उनसे भी अतीत है। वही वास्तविक सत्य है, परम सत्य जो पुस्तकों में उपलब्ध नहीं होता, शास्त्र जिसे नहीं दे सकते, दार्शनिक प्रणालियां जिसे हमें प्रदान नहीं

कर सकतीं। यह सत्य केवल अनुभव से हमें मिल सकता है। अतः अनुभव ही सब से बड़ा दर्शन है। सब दर्शन-प्रणालियां उसी की ओर इंगित करती हैं और उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकतीं। इसलिये हम कह सकते हैं कि सत्य जब कि सब दर्शन-परम्पराओं में निहित है, सब विचार-धाराओं में अभिव्याप्त है, वह उन सब से अतीत भी है। वह उनमें से किसी में भी नहीं मिलता। जीवन का स्थान कोई विचार-दर्शन नहीं ले सकता। वह जीवन के लिए है, अनुभव की व्याख्या के लिये है। जिस प्रकार वैदिक ज्ञान से बुद्ध को शान्ति नहीं मिली थी, उसी प्रकार केवल बौद्ध ज्ञान से शान्ति प्राप्त करने का प्रयास व्यर्थ ही होगा। स्वयं भगवान बुद्ध ने कहा है, 'कठोर योगाचार के विना केवल मेरे दर्शन से ही मुक्ति नहीं मिल सकती, जैसे कोई मनुष्य ओषधि-सेवन किये विना केवल वैद्य को देखकर ही रोग-मुक्त नहीं हो जाता'।[1] सत्य प्राप्ति से पूर्व प्रत्येक को बुद्ध का जैसा अभ्यास करना होगा और वह शास्त्रों और दर्शनों से नहीं होता, फिर वे चाहे कोई हों। गीताकार के शब्दों में सम्पूर्ण 'श्रुत' और 'श्रोतव्य' से मनुष्य को निर्वेद अन्ततः प्राप्त करना ही पड़ेगा। दर्शन केवल उसके सहायक हो सकते हैं, गन्तव्य नहीं। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की तुलना एक ही हिमालय की गगनचुम्बी चोटियों से भली प्रकार की जा सकती है। सभी विशाल, सभी महान्, सभी तुषार-धवलित और सभी वीरान! यहां समुद्र की ऐसी कोई स्थिर सतह नहीं मिलती जिससे उनकी आपेक्षिक ऊँचाई नापी जा सके। इसीलिए कह सकते हैं कि वे सभी समान रूप से विशाल हैं, समान रूप से महान् हैं। यदि उनका गवेषित विषय दृश्य जगत् या तत्सम्बन्धी ज्ञान होता तो कहा जा सकता था कि अमुक दर्शन अथवा उसका उद्भावक उस अवस्था को पहुँचा और उस पर अमुक दर्शन अथवा दार्शनिक ने विकास इतना किया। किन्तु यहां तो प्रारम्भ से ही अनिरुक्त और अनिर्देश्य को ही, असीम और 'बेहद' को ही, परिनिष्ठित और स्थिर तत्त्व को ही, लक्ष्य बनाया हुआ है। फिर उसके विषय में निश्चित वैज्ञानिक भाषा की क्या गति चले? जो अनन्त को नाप सकता है, निर्विकल्प की कल्पना कर सकता है 'आनीदवातं स्वधया तदेकं' पर स्वच्छन्द और सुनिश्चित विचार उपस्थित कर सकता है, वही कोई औपनिषद 'यक्ष' बौद्ध दर्शन या अन्य किसी भारतीय दर्शन में निहित आध्यात्मिक विकास को भले ही नाप

---

(१) देखिये बुद्धचरित २।७७-७८

सके, मनुष्य की बुद्धि की तो गति नहीं है। न्याय और वैशेषिक जैसे दर्शन, जो अधिकांश में दृश्य जगत् के आधार पर ही समस्या के उद्घाटन और समाधान का प्रयत्न करते हैं, अन्त में अपनी अपूर्णता को जाने बिना नहीं रहते, अतः वे भी अज्ञात और असीम के क्षितिज की ओर ही ताकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। सभी भारतीय दर्शन जीवन की उच्चतम पवित्रता से अभिव्याप्त हैं, इसीलिए हम कह सकते हैं कि हिमालय की चोटियों के समान तुषार-धवलित हैं। किन्तु साथ ही वे सभी वीरान भी हैं ! ज्ञान के वे पर्याय नहीं, केवल मार्ग हैं। ज्ञान का मानसरोवर तो उन सबके पार हिलोरें लेता हुआ दिखाई पड़ता है, जिसका दर्शन केवल स्वानुभव से ही शक्य है। जिस प्रकार कपिल, गौतम और बादरायण, उसी प्रकार बुद्ध और महावीर भी हमें केवल मार्ग दिखा सकते हैं, जिस परम सत्य को उन्होंने पाया था उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। वह तो अवाच्य, निरभिलाप्य और अनिर्वचनीय ही रहेगा। अतः सभी दर्शनों और उनके उद्भावकों के प्रति हम यही श्रद्धा अर्पित कर सकते हैं 'हे देवो ! आप में न तो कोई अल्प है और न कोई तुच्छ। आप सभी समान रूप से महान् हैं।' समानान्तर रूप से दिगन्त तक फैली हुई हिमालय की पर्वत श्रेणियों की विभिन्नता केवल प्रज्ञप्ति के लिए ही है, वास्तव में वे एक दूसरी से सटी हुई एक ही अंगी के विभिन्न अविभाज्य अंग हैं, जिनकी संग्राहक अनुभूति ही 'यह हिमालय है' इस प्रकार होती है। इसी प्रकार यह जैन दर्शन है, यह बौद्ध दर्शन है, यह वैदिक दर्शन है, यह अवैदिक दर्शन है, इस प्रकार के प्रयोग केवल निरुक्ति के लिए हैं, विश्लेषणात्मक निरूपण की सुविधा के लिए ही हैं। परमार्थतः वे एक-दूसरे से इस प्रकार से सटे हुए हैं और एक में अनेक और अनेक में एक की गम्भीर अनुभूति पर इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि मनीषी ऋषि पञ्चशिख के पद-चिन्ह पर चलकर सिवाय 'एकमेव दर्शनम्' कहने के और कोई गति ही हमारे लिये नहीं है। सभी को समान रूप से महान् कहने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं है। अल्प और महान् कहने में विषमता आ जाती है, भेद-बुद्धि घर कर जाती है। पर ज्ञानियों के लिये सम-विषम कुछ रह ही नहीं जाता। सत्य की यह अविवाद और समाहारक भूमिका ही भारतीय दर्शन का अभिप्राय है और यही उसका चरम लक्ष्य और गन्तव्य भी है।

जितने दर्शन हैं, उतने सत्य नहीं है। यह वैदिक सत्य है, यह बौद्ध सत्य है, यह कहना अज्ञान है। सत्य एक और अखण्ड है। हम पहले एक बुद्ध-वचन को

'एकमेव दर्शनम्' की भावना में किसी भी एक दर्शन-प्रणाली को अल्प या महान् कहना उचित नहीं

उद्धृत कर चुके हैं और उसकी प्रभावशीलता के कारण यहां निष्कर्ष रूप में उसके पुनः उद्धरण का हमें लोभ है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि 'सत्य एक है, दूसरा (सत्य) नहीं है'। 'एकं हि सच्चं न दुतियमत्थि'। अद्वैत का इससे अधिक सुन्दर निरूपण अब तक नहीं किया गया है। सत्य नाना नहीं हैं। नाना सत्यों या दर्शनों की कल्पना मिथ्या है। जब दूसरा ही सत्य नहीं है, तो नाना कहां से होंगे? दर्शनों के तत्त्वों में भेद नहीं है। भेद केवल उनकी दृष्टियों में है। जिसने जिस दृष्टिकोण से और जितना सत्य देखा है उतना ही अंकित किया है, परिपूर्ण सत्य तो परिपूर्ण मानव के लिये ही जानना शक्य है और फिर वह मनुष्य की व्यक्त करने की शक्ति के भी बाहर है। भारतीय दर्शन-सम्प्रदाय जितना व्यक्त करते हैं, उससे अधिक वे छिपाते भी हैं। उनका शान्त मौन उपदेश तो एक है। उसे मौन साधक ही सुनते हैं, दूसरों के लिए वाद-विवाद का मार्ग खुला है। सब भारतीय दर्शन सम्प्रदाय साधना पर प्रतिष्ठित हैं, सभी दुःख निवृत्ति के मार्ग को बताते हैं और क्या किसी ने भी परीक्षा करके उनमें से किसी अन्य को भी मिथ्या बताया, तो फिर कुतार्किकों की तरह केवल बुद्धि-कौशल को ही दिखाकर हम किसी को किसी से बड़ा या छोटा दिखाने का प्रयत्न क्यों करें? आचार्यों को छोड़कर हमें पूर्व ऋषियों के पास क्यों न जायँ? वहां क्या कोई विभेद शक्य है? सम्यक् ज्ञान का रूप केवल बुद्धि के द्वारा कभी जानने योग्य नहीं है, और न साधना करके किसी ने भी आज तक उसके लिए विवाद रोपा है? ईश्वर, जीव, प्रकृति और परमेश्वर सम्बन्धी सिद्धान्तों में तो सदा विवाद रहेंगे ही, किन्तु क्या 'अपने' विषय में भी किसी को विवाद है? क्या नाना दुःखों से प्रतिक्षण तप्त होने में भी कोई सन्देह है? तो फिर उसका प्रतिकार हम क्यों नहीं करते? अंधकार में पड़े हुए हम प्रकाश को क्यों नहीं खोजते? यही तो दर्शन को देना है। नाना दुःखों को सहते हैं, अशान्ति की अग्नि में निरन्तर जलते हैं, व्यष्टि और समष्टि की असंख्य समस्याएँ हमें घेरे हुए हैं, अन्धकार हमारे चारों ओर है, तो फिर त्राण को अपने अन्दर क्यों नहीं देखते। क्यों नहीं अपने ही शरीर में नाना विपत्तियों और वेदनाओं को नित्यप्रति सहते हुए हम उनके शमन के मार्ग को समझने का प्रयत्न करते? हमें क्यों नहीं कभी विचार आता कि क्या इनके निरोध का भी कोई मार्ग है? जिस क्षण यह विचार

आ जायगा हम मुमुक्षु हो जाएँगे और भारतीय दर्शन हमारा मार्ग दर्शक बन जायगा। किसी भी उसके अंग पर हम अपना चित्त एकाग्र करें मूल वस्तु हम बहुत दूर नहीं जा सकेंगे। अन्त में अनात्म को आत्म से विलग कर उस अक्षय सुख के उत्तराधिकारी हम बनेंगे जो शान्त है, शिव है, अद्वैत है और जिसके लिए सभी भारतीय दर्शनों का समान रूप से उपक्रम है, उद्योग है। इस दृष्टि से किसको छोटा और किसको बड़ा कहा जाय, सब एक ही अंगी के आवश्यक अंग हैं जो सब मिलकर ही परिपूर्णता प्राप्त करते हैं। 'एकमेव दर्शनम्' की भावना की गूढ़तम अनुभूि में तो तुलनात्मक अध्ययन भी एक निचली कोटि की चीज रह जाती है। 'एकं हि सच्चं' जानने वाला किसकी किसके साथ तुलना करेगा ? दूसरा तो है ही नहीं। 'न दुतियमत्थि'। हमारे अध्ययन की यही भूमिका है और यही उसका उपसंहार भी।

अत: अन्य दर्शनों के प्रति विरोध अथवा निरादर बुद्धि का सर्वथा परिहार करके, उनके ही सहचर, सहोदर और समान मन्तव्य वाले बौद्ध-दर्शन के प्रति उनके सम्बन्ध को हम धर्मसेनापति सारिपुत्र के इन शब्दों के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं कि 'बुद्ध-शासन मनन करने के लिए अत्यन्त उत्तम हैं'। इस छोटे से वाक्य में तथागत के उस प्रधान ज्ञानी भिक्षु ने अपने शास्ता के मार्ग का समग्र महत्त्व और आकर्षण भर कर रख दिया है। तथागत के समान शास्ता इस लोक में दुर्लभ हैं। जो पुरुष अपने को दमन करना चाहता है, संयम का इच्छुक है, उसके लिए बुद्ध जैसा 'सारथी' मिलना सम्भव नहीं है। लोक में शास्ता और दर्शनकार तो अनेक हैं और सबकी अपनीअपनी विशेषताएँ हैं, किन्तु शाक्यमुनि जैसे उपदेष्टा दुर्लभ हैं जो प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर साधिकार कह सकें, 'निर्वाण के लिये कोई समय निश्चित नहीं है। यहां आओ और सौगत्य प्राप्त करो'। तथागत के समान उदात्त और अनन्त कोमल व्यक्तित्व इस विश्व ने नहीं देखा। उनकी मूर्ति के समान ही उदात्त और मानव-मन को ऊँचा उठाने वाली वस्तु विश्व में यूरोप के एक महान् दार्शनिक (काउंट केसरलिंग) को नहीं मिली, तो फिर उनके साक्षात् व्यक्तित्व के विषय में तो कहना ही क्या ? जो तत्त्व के एकनिष्ठ उपासक हैं और जिनके मस्तिष्क में इतनी शक्ति

अतः 'बुद्ध-शासन मनन करने के लिए अत्यन्त उत्तम है' धर्मसेनापति सारिपुत्र के इन सामान्य और अत्यन्त उदार शब्दों में ही समग्र बौद्ध दर्शन के महत्त्व का यहां अंकन

है कि वे जीवन की गम्भीरतम समस्याओं पर अपनी परम्परागत भावनाओं पर विजय प्राप्त करके विचार कर सकें और उसे जीवन की साधना में पचा सकें, उनके लिए शाक्यमुनि के उपदेशों के समान मननपूर्ण और कोई चीज नहीं हो सकती। उपनिषदों का स्मरण इस सम्बन्ध में अवश्य विशेष रूप से होता है और वे भी निश्चय ही बुद्ध के प्रज्ञान के समान सभी मुमुक्षुओं के लिए सदा विचारणीय हैं। मनुष्य के रोग को जिस प्रकार बुद्ध ने ठीक तरह से समझा है, उस पूर्ण पुरुष ने जिस प्रकार दुःखी मानव की समस्याओं की नब्ज़ पकड़ी है, वैसा अन्य किसी महात्मा या विचारक के विषय में नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि आज वैज्ञानिक युग में भी, जब कि धर्म और दर्शन के नाम से भी मनुष्य चिढ़ने लगें हैं, बुद्ध और बौद्ध धर्म का आकर्षण निरन्तर बढ़ रहा है और विश्व में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के लक्षण उदय हो रहे हैं। भगवान् बुद्ध विश्व इतिहास के एक युग निर्माता विचारक हैं। और सब से बड़ी बात तो यह है कि वे मानवता के सब से बड़े 'भिषक्' हैं। जिसे जीवन की समस्याओं पर सोचना होगा, अपना और लोक का कल्याण करना होगा, वह एक बार महाश्रमण की ओर अवश्य देखेगा, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु अन्त में संकल्प के महान् ही उनके प्रखर तेज के सामने ठहरेंगे, निर्बल और अल्पशक्ति तो कोई अधिक आश्वासनकारी त्राता चाहेंगे जिसकी पीठ पर सवार होकर वे भव पार कर सकें, और उन्हें वे मिल भी जायँगे। किन्तु जो विचार के द्वारा, साधना के द्वारा, अपने ही 'प्रधान' के द्वारा, जीवन के उद्देश्य को सम्पादिन करना चाहेंगे, फिर चाहे वे किसी भी राष्ट्र, किसी भी जाति अथवा किसी भी देश के क्यों न हों, वे बुद्ध के 'धम्मदायाद' बनेंगे। कपिल, बादरायण, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य और शंकर के प्रज्ञान भी विचारकों के लिए कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं, किन्तु शाक्यमुनि का क्षेत्र इनसे कुछ भिन्न प्रकार का है, और वह यह कि शाक्यमुनि के स्वर में उपर्युक्त मनीषियों की अपेक्षा मनुष्य की गम्भीरतम समस्या दुःख और उसके निरोध को लेकर जो गहन मनन है, वह अन्यत्र उस प्रभाव के साथ नहीं मिलता। पूर्वोक्त मनीषी गण तत्त्वज्ञान पर ही अधिक जोर देते हैं और उनके व्यक्तित्व ऐतिहासिक रूप से इतने प्रभावशाली नहीं हैं। तथागत का अन्तर्वेधी ज्ञान भारतीय विचार-शास्त्र के इतिहास में ही नहीं सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान के इतिहास में अतुलनीय है और इसीलिए वह उतना प्रभावशाली भी है। उनके वचनों के मनन के समान गम्भीर और आश्वासनप्रद वस्तु विश्व के विचारशास्त्र के इतिहास में दूसरी नहीं है।

पूर्व-प्रस्तावित 'बहुजन वेदान्त' के रूप में मूल बुद्ध-दर्शन और 'बौद्ध वेदान्त' के रूप में उत्तरकालीन विकसित बौद्ध दर्शन को देखना ही भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन के स्थान और महत्व का सम्भवतः सर्वोत्तम अनुमापन है

'बहुजन वेदान्त' या जन वेदान्त के रूप में हमें मूल बुद्ध-दर्शन को देखना चाहिए, यह हम पहले निरूपित कर चुके हैं। उपनिषदों की सर्वोत्तम भावनाएँ ही जन-साधारण के कल्याण के लिए व्यवहार-भाषा में भगवान् बुद्ध के द्वारा व्यक्त की गईं, किन्तु उपनिषदों के प्रमाण के आधार पर अथवा उनका साक्ष्य दे देकर नहीं बल्कि अपने ही साक्षात्कार के बल पर। तथागत की बोधि पूरे अर्थों में मौलिक थी, उपनिषदों के ऊपर का वह ज्ञान था और उसी पर बुद्ध-धर्म आधारित है। बुद्ध का मन्तव्य और प्राचीन उपनिषदों का मन्तव्य एक था, पर यह बताने का काम तथागतों का नहीं, यह तो आचार्यों का काम है। तथागत सिद्धान्त बनाने अथवा उखाड़ने के लिए नहीं आये थे, उनका आना तो लोक में प्रकाश फैलाने के हेतु ही था। प्रस्तावित 'बहुजन-वेदान्त' या 'जन-वेदान्त' शब्द में यह ध्वनि विद्यमान है कि बुद्ध-धर्म औपनिषद ज्ञान के ऊपर प्रगति के रूप में है। उपनिषदों के लिये जो तत्त्व है, अध्यातम है, बुद्ध के लिये वही नीति है, जीवन है। उपनिषदों के लिये जो ब्रह्म का साक्षात्कार है, वही बुद्ध के लिये जीवन का कल्याण बन गया है, मैत्री, करुणा, और मुदिता और उपेक्षा के रूप में वास्तविक 'ब्रह्म विहार' बन गया है। एक ब्रह्म को जानने की बात कहता है, दूसरा उसमें विहार करने की। उपनिषदों के अध्यात्मवाद का बुद्ध-शासन में मानवीकरण है, अतः वह ज्ञान की एक उच्चतर स्थिति मानी जा सकती है। उपनिषदों का गुह्य आदेश यहां बहुजनों के हितार्थ सूर्य और चन्द्रमा की तरह चमका है, उसने आचार्य-मुष्टि के स्थान पर नाना जाति और गोत्र के पुरुषों के लिये, चातुर्वर्णी शुद्धि के आधार पर सत्त्व-शुद्धि का मार्ग खोला है। अतः वह पूरे अर्थों में एक उच्चतम ज्ञान है जो सब जनों के लिये है। इसी अर्थ में उसे यहां 'जन-वेदान्त' या 'बहुजन वेदान्त' कहा गया है। उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन के विकास को हम भली प्रकार 'बौद्ध वेदान्त' पुकार सकते हैं, यह हम पहले देख चुके हैं। जिस प्रकार शंकर आदि वेदान्ती आचार्य उपनिषदों के साक्ष्य पर ज्ञान के चरम निष्कर्ष स्वरूप (वेदान्त) को निर्णय करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार श्रौत प्रमाण का आश्रय न लेकर बल्कि अन्य ही उपादानों से मनीषी बौद्ध आचार्यों ने अन्तिम सत्य को देखने

की जो परम्परा प्रचलित की है, वह भली प्रकार 'बौद्ध वेदान्त' के नाम से अभिहित हो सकती है। शंकर के 'निर्विशेष' और नागार्जुन के 'शून्य' में विभेद करने के लिए, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, कुछ विशेष नहीं है। इसी प्रकार बौद्धों का जो चतुष्कोटि विनिर्मुक्त सत्य रूप शून्यता है, वही वेदान्त का निर्गुण–निर्विकार है और वेदान्त के विज्ञानघन आत्मा और बौद्धों की विज्ञप्तिमात्रता दो अलग-अलग सत्य न होकर एक ही चरम सत्य हैं। 'भूत तथता' के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। फिर यदि विभेद हों भी तो जिस प्रकार ब्रह्मसूत्रों के सभी विभिन्न व्याख्याकार आपस में विभेद रखते हैं, उसी प्रकार एक सम्प्रदाय बौद्ध आचार्यों का भी माना जा सकता है, जो एक विभिन्न मार्ग से ही सत्य के वास्तविक स्वरूप को देखने का प्रयत्न करता हुआ परमार्थ के सम्बन्ध में समान निष्कर्ष पर पहुँचता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के एक अन्यतम प्रभावशाली दर्शन अर्थात् वेदान्त दर्शन के साथ हम बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध का अंकन और अनुमापन कर सकते हैं। वैदिक परम्परा की ओर से महा मनीषी गौडपादाचार्य, जो इस सम्बन्ध के प्रथम द्रष्टा ऋषि अथवा आचार्य हैं, इस विषय में हमारे लिए भूरि-भूरि स्मरणीय हैं और भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन के महत्त्व के प्रकृत स्वरूप को देखने के जो इच्छुक हैं, उनके लिए 'माण्डूक्य कारिका' विशेष अध्ययन और मनन की वस्तु होगी, यह सब पूर्व प्रकाशित किया ही जा चुका है। इसी प्रकार वैदिक परम्परा के समन्वयकारी दर्शनकारों में हमें योग- वासिष्ठ के रचयिता को भी स्मरण रखना होगा। जहां तक उत्तरकालीन दार्शनिक विकास की बात है, हमने अपने अध्ययन में उन प्रवृत्तियों को अधिक महत्त्व दिया है जिनका उद्भावन योगवासिष्ठ के मनीषी रचयिता और आचार्य गौडपाद ने किया है। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिकों में हमने अश्वघोष, शान्तिदेव और वसुबन्धु के कार्य को अधिक महत्त्व दिया है। जब कि उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों में प्रायः सब ने भारतीय विचार को अनुपम मौलिक दान दिया है, हमें उनके कार्य की ही अधिक प्रशंसा करनी पड़ी है, जिन्होंने बुद्ध-मन्तव्य को औपनिषद दर्शन के साथ मिलाते हुए देखा है। इसी दृष्टि से धर्मकीर्ति और दिङ्नाग के कार्य को, जो अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रतिभा सम्पन्न था, अश्वघोष, शान्तिदेव और वसुबन्धु के कार्य से कम महत्त्व का समझा गया है। इसी प्रकार वैदिक परम्परा के आचार्यों में वात्स्यायन, उद्योतकर और श्रीहर्ष को शंकर और गौडपाद की अपेक्षा कम महत्त्व दिया गया है। यहां अन्य

तथ्यों के पिष्टपेषण से, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है, कुछ विशेष लाभ न होगा ।

तथागत की 'पच्छिमा वाचा' ही समग्र भारतीय दर्शन-साधना की 'पच्छिमा वाचा' (अन्तिम वाणी) है

अपनी जीवन-धारा के अन्तिम क्षणों में भिक्षुओं को आमन्त्रित करते हुए भगवान् ने कहा था 'हन्त भिक्षुओ ! अब तुम्हें कहता हूँ—सब संस्कार व्ययधर्मा हैं, अप्रमाद से (लक्ष्य) सम्पादन करो'। यह तथागत की अन्तिम वाणी थी और समग्र भारतीय दर्शन की अन्तिम वाणी भी यही है । अप्रमाद से जीवन-लक्ष्य को सम्पादन करना ही भारतीय दर्शन का सम्मिलित सन्देश है मानव-जीवन के लिये । जिन ऋषियों ने सत्य को प्राप्त किया वे शब्दों के द्वारा उसे हमें नहीं दे सकते । वे केवल उसकी अधिगति का मार्ग हमें बताते हैं। उस पर चलकर केवल स्वानुभव से हम सत्य को जान सकते हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि जब भगवान् ने अपनी अन्तिम वाणी (पच्छिमा वाचा) में कहा कि संस्कार नष्ट हो जायँगे, अप्रमाद से लक्ष्य को सम्पादन करो, तो उन्होंने भारतीय दर्शन की ही अन्तिम वाणी को ध्वनित कर दिया । यह लोक नश्वर है, आश्वासन-हीन है, अ-शरण है । इसे ज्ञान पूर्वक समझकर साधना करनी है । तथागत की पच्छिमा वाचा समग्र भारतीय दर्शन की पच्छिमा वाचा है और वह है 'हन्द दानि भिक्खवे । आमन्तयामि वो, वयधम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथा'ति' । ये शब्द जिसके हृदय-पटल पर अंकित हैं, समग्र भारतीय दर्शन का अन्तिम निष्कर्ष और निचोड़ उसके हृदय पर अंकित है । भारतीय दर्शन-साधना में इनसे अधिक प्रेरणाप्रद शब्द दूसरे कोई नहीं हैं ।

लेखक की देसना या क्षमा-याचना

अन्त में लेखक को बुद्ध की अनुस्मृतिपूर्वक देसना (क्षमा-याचना) करनी पड़ेगी कि बुद्ध-शासन पर ठीक प्रकार चले बिना उसने उसके विषय में विद्वत्ता दिखाई । अपने इस गुरु अपराध को अपराध के तौर पर उसे उन देवातिदेव के सामने रखना पड़ेगा ताकि यह उसके चिर कल्याण के लिए हो । वस्तुतः 'गोपद बूड़िबे जोग करम करों बातनि जलधि बहावों' की गोस्वामी तुलसीदास की वाणी इस लेखक के विषय में कितनी सत्य हुई ! अविद्यमान वस्तु को विद्यमान के रूप में दिखाने का उसने शब्दों के सहारे ढोंग रचा। अश्वघोष के शब्दों में, रागी होकर

उसने विराग-कथा को कहा ? अहो बुद्ध ! अहो धर्म ! अहो संघ ! का उसने उद्गार किया, पर क्या जीवन में कभी उस गम्भीर शान्ति का अनुभव भी किया जिसे पुरुषश्रेष्ठ ने साक्षात्कार किया था ? क्या उसके अध्ययन के पीछे जीवन की साधना-भूमि भी कुछ विद्यमान है ? इन प्रश्नों को कोई पूछेगा तो वह इनका क्या उत्तर देगा ? क्या यह सद्धर्म के लिये उल्टी असेवा ही तो नहीं हुई ? तथागत का उपदेश बांध रखने के लिए तो नहीं था, पुस्तकों में प्रख्यापित कर प्रतिष्ठा लाभ करने के लिए तो नहीं था, वह तो मध्य रात्रि में उठकर बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने के लिए था, शून्यागारों में जाकर ध्यान लगाने के लिए था, दुःखी प्रजाओं की दुःख-निवृत्ति के लिए चतुर्दिक् पर्यटन करने के लिए था, मैत्री भावना से दिशाओं को आप्लावित करने के लिए था। तो क्या हे दम्भी लेखक ! यह सब तूने किया ? तू अच्छी तरह से जानता है कि तथागत किन चीजों से सत्कृत, गुरुकृत और पूजित होते हैं, तो क्या शब्दों के इन खिलौने से तेरी उपासना सम्पन्न हो गई ? अच्छी तरह तुझे अपनी स्थिति को प्रकट करना होगा ताकि यह लोक तुझसे धोखा न खा जाय और तुझ से सावधान हो जाय। अधिक-से-अधिक तूने वाणी से तथागत-धर्म की सेवा की है, जो बुद्ध-शासन में, जहां अभ्यास ही सब कुछ है, अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इससे अधिक यदि तू कुछ मानेगा तो बुद्ध-शासन की असेवा ही करेगा, अपना अकल्याण ही सम्पादित करेगा। तो फिर यह सब तो कुछ नहीं हुआ ! क्या तथागत के अग्र श्रावक धर्मसेनापति सारिपुत्र के शब्द तुझे स्मरण नहीं रहे 'गीला या सूखा कुछ भी खाते हुए....चार या पांच कौर खाने के बाद कुछ न मिले तो पानी पी ले, आत्मसंयत भिक्षु के लिए बस यही काफी है', तो फिर इस लोक में जहां सब संस्कार विनाशधर्मा हैं, कर्मचित लोक की तरह पुण्यचित लोक का भी जहां क्षय अवश्यम्भावी है, तुझे किस चीज की इच्छा अभी बाकी है। जिसे तू धर्मस्वामी कहता है, अपना शास्ता कहता है, वह तो काशी के दुकूलों को छोड़ पांशुकूलिक बन कर रहता था, कभी-कभी भिक्षान्न भी न पाकर लौट आता था। कभी-कभी ऐसा भिक्षान्न खाने को पाता था जिससे उसकी अँतड़ियां पीड़ा से जैसे बाहर निकल पड़ती थीं। क्या तेरी इच्छाएँ उसके अनुरूप हैं ? सम्यक् सम्बुद्ध ने नन्दी (तृष्णा) को ही तो दुःख-समुदय का आदि कारण बताया था, तो फिर इस महानागिनी को कब तक हे मुग्ध साधक ! दूध पिला पिलाकर

पोषित करेगा, कब तक इसके फन की छाया तेरे लिए सुखद होगी ? धर्म-स्वामी ने रूप को अनित्य और दुःख कहा था। क्या रूप की आसक्ति तेरी नष्ट हो गई ? क्या दुःख-विमुक्ति तू ने प्राप्त की ? तो फिर बुद्ध-शासन पर लिखने का यह उपक्रम क्यों ? मुझमें यह कहने का साहस नहीं कि सम्यक् सम्बुद्ध जैसे शास्ता को पाकर भी मेरे सभी दुष्कृत्य क्षीण हो गए, मेरे सभी मल विनष्ट हो गए। मार्ग निश्चय ही मेरे लिए बहुत लम्बा है। न जाने 'प्रभु नाम हुँ पाप न जारचो' की विवशता कब दूर होगी। किन्तु मेरे जैसे मलग्रस्त जनों के लिए तो स्रोत में पड़ जाना ही कुछ कम नहीं है। इसी मानसिक स्थिति में इस ग्रन्थ की रचना की गई है, यही निवेदन है।

मैंने भगवान् बुद्ध के मन्तव्य को यहां अपने अध्ययन का विषय बना कर अन्य भारतीय मनीषियों के मन्तव्यों के साथ उसके सम्बन्ध का निरूपण किया है। न जाने प्रमादवश कितनी कितनी गलतियां कीं, कितने भ्रमित विचार उपस्थित किए। उन सब के लिए हे तथागत ! क्षमा चाहता हूँ। आप ही से नहीं सभी 'प्रतिबुद्धों' से। हे याज्ञवल्क्य ! हे भगवति मैत्रेयि ! हे औपनिषद मनीषियो ! तुम्हारे वचन क्या हैं, इस जीव-लोक के लिए अमृत स्वरूप हैं। यदि ये आज हमारे लिए नहीं होते तो इस जीवन में विचार करने योग्य कोई चीज ही नहीं होती। तुम्हारे गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य हमारे जीवन के आश्वासन के अन्यतम रहस्य भी हैं। ब्रह्मज्ञान का अमृत फल उपनिषदों के ही रस को निरन्तर चूसते-चूसते फूट पड़ता है। मानवीय प्रज्ञान इनसे अधिक कुछ झांक नहीं सका। एक अज्ञानी जीव, जो इन्हीं के सतत मनन, श्रवण और निदिध्यासन से अपने कल्याण की इच्छा रखता है, इनकी मीमांसा भी किस प्रकार करे ! किन्तु फिर भी अनेक प्रकार से सम्यक् सम्बुद्ध के मन्तव्य के साथ इनके मन्तव्य के सम्बन्ध को निरूपित किया गया और वह हे औपनिषद मनीषियो ! हे विभज्य-वादिन् बुद्ध ! एक परीक्षक के रूप में नहीं, किन्तु एक सत्य गवेषक के रूप में ही। जिन अमृतमय वचनों से अपने उद्धार की आशा रखता हूँ, जिनके सतत आचरण से अपने लिए यहीं अमृत परोसे जाने की सम्भावना देखता हूँ, उनका परीक्षण मैं कहां की बुद्धि लाकर करूँगा, विनम्र भाव से उनका आचरण ही तो मेरे लिए परम पुरुषार्थ है। किन्तु हे पूर्व ऋषियो ! अपने चले जाने के बाद चूंकि आपने भी ज्ञान के समझने में तर्क रूप विचार को ही सर्वश्रेष्ठ ऋषि बताया, और हे सम्यक् सम्बुद्ध ! आपने भी कालामों

को ऐसा ही उपदेश दिया, अतः मैं समझता हूँ कि जहां कहीं मैंने कभी-कभी परीक्षक का चोला पहनकर भी यदि विचार किया है तो वह दम्भ या अभिमान के कारण नहीं, बल्कि आपके मन्तव्य के अनुकूल ही किया है। फिर भी इस आत्म-प्रतारणा के लिये क्षमा अवश्य चाहता हूँ।

हे निर्ग्रन्थ मनीषियो ! प्रागैतिहासिक युग से आज तक सुविस्तृत आपकी उपदेश-परम्परा को मौलिक रूप में अध्ययन करने का अवसर इस अल्पज्ञ विद्यार्थी को नहीं मिला, अतः हे निखिल ज्ञानदर्शियो ! यदि आपके मन्तव्य के प्रख्यापन में और बुद्ध-मन्तव्य के साथ उसके सम्बन्ध को दिखाने में कहीं कोई अशुद्धियां हुई हों, जिनकी कि बहुत सम्भावना है, तो मैं आपसे भी क्षमा का प्रार्थी हूँ। आपने जिस गहनता के साथ मानव-जीवन की समस्याओं पर विचार किया है, उसके लिए मनुष्यता सदा आपकी ऋणी रहेगी। स्वतन्त्र विचार के इतिहास में बौद्ध दर्शन के साथ आपका भी एक अत्यन्त उच्च स्थान है, अतः स्वतन्त्र चेता पुरुषों के द्वारा आप भी सदा नमस्कार के पात्र हैं, इसमें सन्देह नहीं। उन सभी निर्ग्रन्थ अर्हन्तों को नमस्कार ! उन अनुत्तर दर्शी ज्ञानदर्शनधर वैशालिक भगवान् अर्हत् ज्ञातृपुत्र को शतशः नमस्कार !

हे मनीषी चार्वाको ! तुम्हारा भी भूलना निष्पक्षता का चिन्ह नहीं होगा, अतः तुम भी मेरे द्वारा स्मरणीय अवश्य हो। फिर तुम्हारे साम्राज्य का ढिंढोरा तो जगत् भर में पिट रहा है, अतः मेरे द्वारा स्तुत किये जाने की तुम्हें अपेक्षा नहीं है। तुम्हारे प्रति सहानुभूति की वाणी आजकल विद्वानों में बहुत कुछ सुनी जाती है। मैंने भी तुम्हें आवश्यक सहानुभूति दिखाई है, किन्तु यदि तुम्हारे मन्तव्य को स्पष्ट रूप से दिखाने में कोई गलती रह गई हो, तो हे 'दुरुच्छेद्य' दर्शन के उपदेश करने वालो ! आपसे भी यही प्रार्थना है कि आप मुझे क्षमा करें और यह जान कर सन्तोष करें कि मुंह से चाहे जो कुछ बकता रहूँ, मैं हृदय और मन से तो आपका ही सच्चा पर्युपासक हूँ, आपका ही क्रीत दास हूँ और आपसे ही नित्य नवीन-नवीन प्रीति है। आपकी पंक्ति में से उठाकर यदि मैंने शाक्यपुत्रीय श्रमणों को वास्तविक औपनिषद परम्परा में ही बिठलाने का प्रयत्न किया है, तो हे वेदद्विषो ! आप इससे मुझ से रुष्ट न हो जायँ। वास्तव में भारतीय दार्शनिक परम्परा में आपको भी मैं एक स्थान का भागी समझता हूँ, किन्तु हे जड़वादियो ! हेतु पर आश्रित धर्म का उपदेश करने वाले, प्रतीत्य समुत्पाद के उपदेष्टा श्रमण गौतम को तो अपनी संसद् में बिठालने का कभी प्रयत्न न करो, इतनी ही प्रार्थना कर मैं आपसे विराम लेता हूँ।

हे षड्दर्शनकारो ! हे अक्षपाद ! हे कणभुक् ! हे सिद्ध कपिल ! हे भगवन् पतञ्जलि ! हे धर्मोपदेष्टा जैमिनि ! हे बादरायण महर्षि ! आपके प्रज्ञानों को उनके सामग्रय में समझना किसी मनुष्य के एक जीवन का काम नहीं है । आप सभी ने जिस गहनता से आन्तरिक और बाह्य सृष्टि के रहस्यों को छाना है, वह मनुष्य की बुद्धि से परे है । फिर भी दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति पर ही आपके सब ज्ञान की प्रतिष्ठा है, अतः वह मानवीय बुद्धि के द्वारा अवगम्य भी है । इसी दृष्टि को लेकर विशेषतः मैंने आपके मन्तव्यों का कुछ तुलनात्मक अध्ययन समान प्रवृत्ति वाले बुद्ध-मन्तव्य के साथ किया है और इसमें जहां भी मैं पहुँचा हूँ, वह गलत भी हो सकता है और सही भी, किन्तु यह निश्चित सा दीखता है कि जहां तक मानवीय जीवन में आप सब के मन्तव्यों के प्रयोगात्मक स्वरूप से सम्बन्ध है, वहां आप एक दूसरे से विभिन्न नहीं हैं । आप सब के ऐतिहासिक पूर्वापर-सम्बन्ध की गवेषणा को मैं अत्यधिक महत्वपूर्ण मानता हुआ भी आपके तात्विक पक्ष पर ही मैं विशेषतः अपनी दृष्टि को निबद्ध करता हूँ और इस प्रकार आप सभी समान रूप से ही पूजनीय और महान् हो, ऐसी श्रद्धा मेरे हृदय में जगती है । फिर आप सब के व्याख्याकार भी, जिनमें से अनेक स्वयं बड़े विचारक और सिद्ध पुरुष हैं, बहुत वाद-विवाद और विभिन्नताएँ उपस्थित करके भी एक दूसरे से बहुत दूर नहीं गए हैं, ऐसा भी कहा ही जा सकता है । हे शंकर ! हे धर्मकीर्ति ! हे 'खण्डन खण्ड' के मनीषी रचयिता ! हे 'मूल माध्यमिक कारिका' के मनीषी विचारक ! आप सभी के उत्कट तर्कों तक मेरी गति कहां ? हे दिङ्नाग ! हे वात्स्यायन ! हे वाचस्पति मिश्र ! हे भूततथता के उपदेशक अश्वघोष ! हे विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि करने वाले असंग ! हे 'काश्मीर वैभाषिक-नीति सिद्ध' कोश का गान करने वाले मनीषी वसुबन्धु ! आपके तुलनात्मक विचारों का मैं क्या अध्ययन प्रस्तुत कर सकता हूँ, जिसने कि ज्ञान-सद्म के पहले दरवाजे तक भी प्रवेश नहीं किया है । यह मेरी धृष्टता ही है, मेरी अचित्ति और प्रमाद-परता ही है कि मैंने आपके प्रज्ञानों को विवेचित करने का प्रयत्न किया है । आप इस बालक की जल्पनाओं पर विचार मत करो, नत-मस्तक होकर मैं आप सब को अत्यन्त श्रद्धा से प्रणाम करता हूँ । आप सभी के आचार्यत्व के लिए तो संसार आपका ऋणी है ही, हे मनीषी आचार्यों और भाष्यकारो ! आपकी आचरण सम्पदा और उसे अपने समग्र प्रज्ञानों की प्रतिष्ठा प्रख्यापित करने के लिए ही मेरी तो विनम्र प्रणामाञ्जलि विशेषतः आपके चरणों में जाती है, जिसे आप स्वीकार करें । भगवन् शंकर !

आपकी ओर तो दुवारा भी मेरी स्मृति गए बिना रुकती नहीं। हे जगद्गुरो! आप अपने आचार्यत्व के कारण नहीं बल्कि साधना-सम्पत्ति के कारण ही भारतीय हृदय के लिये इतने आदर और श्रद्धा के विषय बने हैं। फिर आपके ज्ञान की ध्वजा भी विश्व में भली प्रकार विस्तारित है और जो आपकी प्रज्ञा की सीमा को नहीं नाप सकते वे भी श्रद्धापूर्वक आपके लिए नतमस्तक होते हैं। फिर बौद्ध दर्शन के साथ आपके दर्शन के सम्बन्ध के विषय में बड़े-बड़े विद्वानों को भी अनेक विचिकित्साएँ हुई हैं, यदि मैंने कोई भ्रामक दृष्टिकोण रक्खा हो तो आपसे भी मैं क्षमा का प्रार्थी हूँ। 'सुहृल्लेख' के मनीषी रचयिता से भी, जिनके दार्शनिक ज्ञान की इस जगत् में तुलना नहीं है, मैं प्रकारान्तर से इन्हीं शब्दों को दुहराता हूँ ताकि वे मुझे क्षमा करें। नहीं कह सकता कि मैं 'शून्य' 'निर्गुण', 'निर्विशेष' अथवा 'अनिर्वचनीय' तत्वों के पारस्परिक सम्बन्धों को कहां तक समझ सका हूँ, इसके लिए पूर्व उपदेष्टा मनीषियों के प्रति अपनी भ्रान्तियों के लिए क्षमा याचना करने के अतिरिक्त मैं और कर ही क्या सकता हूँ। मैंने इस बात पर जोर दिया है कि शंकर से सात सौ-आठ सौ वर्ष पूर्व 'प्रज्ञापारमिताओं' ने शून्यता को तथता या बुद्धता कहा था, जो सब वस्तुओं की प्रतिष्ठा है। अतः शून्य न अप्रतिष्ठ है और न अभावावसान। जगत् सत्य में स्थित है, यह भूमिका वेदान्तियों के समान बौद्धों की भी है। अतः मैंने शून्य को ब्रह्म से मिलाया है। महा मनीषी आचार्य गौडपाद को मैं इस प्रसंग में कैसे भूल सकता हूँ। बल्कि यों कहना चाहिए कि जिस दृष्टि को मैंने इन पृष्ठों में उपस्थित किया है, वह सब इन्हीं मनीषी प्रथम वेदान्ताचार्य की प्रेरणा का फल है। समग्र भारतीय दार्शनिक साहित्य में यदि किसी भी विचारक ने सभी समय के लिए अभूतपूर्व शब्दों में बौद्ध और वेदान्त दर्शनों के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट किया है, तो ये 'अजातिवाद' के उपदेष्टा भगवान् गौडपादाचार्य ही हैं। शंकर के दादा गुरु, पूज्याभिपूज्य मनीषी आचार्य! मुझे आपका बड़ा आश्वासन है। आपके ही द्वारा निर्दिष्ट 'अविवाद और अविरुद्ध' तत्व को मैंने अनेक प्रकार से यहां दिखाने का प्रयत्न किया है और मेरा विश्वास है कि औपनिषद ज्ञान को बौद्ध दृष्टिकोण से अध्ययन करने का अथवा बौद्ध दर्शन को औपनिषद ज्ञान के प्रकाश में देखने का जो मार्ग आपने हमें दिखाया है, वह आज भी वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर सत्य की अनुरक्षा करते हुए बहुत कुछ विस्तारित किया जा सकता है। हे मनीषी भगवन्! मेरे लिए यह प्रश्न बिलकुल महत्वपूर्ण नहीं

कि आप बौद्ध थे या नहीं। जो बात मुझे रुचती है वह यह है कि किसी भी प्रकार आप बुद्ध और उपनिषदों के मन्तव्यों में एकता देखने के पक्षपाती थे और इसीलिए हे महान् वेदान्ताचार्य ! आपके लिए सहस्रशः अभिवादन !

वेदान्त दर्शन के वैष्णव आचार्यो ! आपको भूलना भी तो अकृतज्ञता होगी। आपके ही प्रज्ञानों के फलस्वरूप तो भारतव्यापी वह आन्दोलन चला जिसकी देन हमें तुलसी, कबीर, तुकाराम, ज्ञानेश्वर और चैतन्य जैसे महापुरुषों के रूप में मिली जिनके आश्वासन भरे वचन हमारे लिए सदा प्रेरणा का काम करेंगे। जिन आधुनिक विचारकों ने तथागत की वाणी या कर्म से सेवा की है, वे भी सभी नमस्कार के योग्य हैं। तान्त्रिकों को भी तो विस्मरण करना नहीं होगा, जिन्होंने बौद्ध धर्म के उस विशाल गूढ़ प्रासाद में घुस कर उस सुदृढ़ भवन को, जिसे वाचस्पति, कुमारिल और उद्योतकर के तर्क भी न गिरा सके थे, क्षणमात्र में विध्वंसित कर दिया। सम्भव है हे तान्त्रिको ! यह तुम्हारा उचित मूल्यांकन न हो और ऐसा कहना तुम्हारी एक निन्दा ही मानी जाय और सम्भव है उपयुक्त रूप से व्याख्यात होने पर तुम्हारा भी जीवन और विचार के लिये एक विशेष महत्त्व हो, जैसा कि अनेक पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वान् आपके लिये देना चाहेंगे, तो हे मनीषयो ! मैं भी उसे स्वीकार करता हूँ, किन्तु आपके विचारों की अभिव्यक्ति तो मुझे रुचती नहीं और आपके प्रतीक भी नापसन्द हैं जो सम्भवतः मेरे अज्ञान अथवा नैतिक आदर्शवाद के प्रति अधिक प्रशंसा बुद्धि रखने के कारण भी हो सकते हैं।

अन्त में तो फिर तथागत पर ही आना होगा 'जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पै आवै'। हे तथागत ! हे सम्यक् सम्बुद्ध ! हे कल्याणमय महर्षि ! उत्तम भिषक् ! आपके किन-किन गुणों को मैं स्मरण करूँ। वे अनन्त हैं। हे समन्तचक्षु ! आपने इस जीव-लोक को वह दिया जो आज तक किसी ने नहीं दिया। आपने शान्ति के मार्ग को प्रकाशित किया और अपने वचनामृत से जगत् को तृप्त किया। हे बुद्ध ! हे वीर ! हे सर्वोत्तम प्राणी ! तुम्हें नमस्कार ! इस जीवन की शंकाओं को दूर करने वाले हे महाप्रज्ञ शास्ता ! आपने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर अनुकम्पापूर्वक प्राणियों के लिये उसे प्रकाशित किया है। अविद्या रूपी पर्दे से आप मुक्त हैं, निर्मल रूप से संसार में सुशोभित हैं। हे अमर ध्यानी ! आपका चित्त समाधिस्थ है, आपका ध्यान कभी रिक्त नहीं नहीं होता। आप सब प्राणियों के प्रति समान हैं। काम-राग-विहीन आप धर्मों के विषय में चक्षुष्मान् हैं। हे शोकरहित, हे

संग्रामजित् ! हे सार्थवाह ! उऋण-ऋण ! पर्वत के शिखर पर चढ़े आप बुद्ध-नेत्रों से शोक ग्रस्त लोक का अवलोकन करते हैं। हे ब्रह्मभूत ! हे धर्मभूत ! आप कृतकृत्य और वासना-रहित हैं।

आप उस धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हैं, जिसे आपने ब्रह्मचक्र भी कहा है। हे महान् ! जगत् के दु:ख को नष्ट करने के लिये आपका जन्म हुआ था, आपने क्षमा द्वारा क्रोध को जीता था। निन्दा से आपके चित्त में कभी क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ और आपको देखकर इस लोक को शान्ति की शक्ति विदित हुई।

सोते हुए जीव-लोक को आपने जगाया और स्वयं शान्ति प्राप्त कर आपने उन लोगों को शान्ति दी, जो क्षुब्ध थे। जो बद्ध थे, उनको आपने मुक्त किया।

हे चक्षुष्मान् ! आप बुद्ध हैं, आप शास्ता हैं, आप मार-विजयी मुनि हैं।

उपाधियां आपकी हट गई हैं ! आस्रव आपके विदीर्ण हो गए हैं ! सिंह-समान भव की भीषणता से रहित, आप उपादान रहित हैं। विश्व के साधक हाथ जोड़े खड़े हैं !

हे वीर ! पाद प्रसारित करो, निष्पाप प्राणी शास्ता की वन्दना करें :

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।
नमः परम ऋषिभ्यः, नमः परम ऋषिभ्यः ।

इति शुभमस्तु ।

अनुक्रमणिका

आ

इ

ऋ

घ

च

ध

न

भ

म

व

क्ष

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
३९	योगक्षेत्र	योगक्षेम
४२	आकलम	आकलन
७१	मूमि	भूरि
२१६	च पुराततम्	चक्षुराततम्
२३४	प्रज्ञावादांश्च पुत्र भाषसे	प्रज्ञावादांश्च भाषसे
२७८	नियम पिटक	विनय पिटक
२७९	आमलक	आलवक
३१७	हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलॉसफी	इन्डियन फिलॉसफी
४२८	आश्रवों	आस्रवों
५१९	बुध	बुद्ध
५२२	अभत	अभूत
५४८	पाठेयक	पावेयक
५४९	पाठेय्य	पावेयक
५५१	हैवतय	हैमवत
७१९	आरुण	आरुणि
७२६	वेहाविषयक	देहविषयक
७३७	उनर	उत्तर
७५८	याजंयोगो	याजयोगो
७५८	परम्पारा	परम्परा
७५९	व्रिपिटक	त्रिपिटक
७५९	क्षप्ति	क्षिप्त
७७१	नम	हम
८०२	आहतादिनी	आह्लादिनी
८०३	योग में के	योग के
८०८	पंचशिव	पंचशिख
८१९	withein	within

८३०	पबौद्ध	बौद्ध
८३२	गायकर	गायगर
८४८	सूरसुत्त	पसूर सुत्त
८५७	आनुभव	अनुभव
८७५	सांख्ययोगी	सांख्ययोगौ
९४९	दृष्विाद	दृष्टिवाद
१०४६, १०४७	आलमन्दार	आलवन्दार
१०४९	२०४९	१०४९
१०८४	रसत	रसल
६ द्वितीय भाग की भूमिका में	संस्कारा	संखारा

P

बंगाल हिन्दी मंडल द्वारा पुरस्कृत तथा प्रकाशित पुस्तकों की सूची

	पुस्तक का नाम	लेखक
१.	सूरदास और उनका काव्य	पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२.	तुलसीदास और उनकी देन	श्री रामनाथ 'सुमन'
३.	महाकवि भूषण	श्री भागीरथ प्रसाद दीक्षित
४.	सुगम हिन्दी शिक्षा	प्रो० शिवनारायण लाल
५.	पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शन	डा० देवराज
६.	विजयनगर साम्राज्य का इतिहास	श्री वासुदेव उपाध्याय
७.	विषपान (नाटक)	श्री हरिकृष्ण प्रेमी
८.	भारतवर्ष का आर्थिक इतिहास	श्री कृष्णदत्त भट्ट
९.	आधुनिक व्यापार	प्रो० दयाशंकर दुबे प्रो० कान्तानाथ गर्ग
१०.	वीर सतसई (श्री सूर्य्यमल्ल मिश्रणकृत)	प्रो० कन्हैयालाल सहल प्रो० पतराम गौड़ ठा० ईश्वरदान आशिया
११.	द्रौपदी-विनय अथवा करुण-बहत्तरी (श्री रामनाथ जी कविया री कही)	प्रो० कन्हैयालाल सहल
१२.	बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (दो भाग)	श्री भरतसिंह उपाध्याय
१३.	हिन्दू परिवार मीमांसा	श्री हरिदत्त वेदालंकार
	(अप्रकाशित)	
१४.	हिन्दू विवाह का विकास	श्री हरिदत्त वेदालंकार
१५.	राजस्थानी कहावतें	प्रो० कन्हैयालाल सहल
१६.	भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास	श्री कृष्णदत्त भट्ट
१७.	विष्णुगुप्त चाणक्य (ऐतिहासिक उपन्यास)	डा० सत्यकेतु विद्यालंकार
१८.	राम (बालकोपयोगी)	श्री अतुलानन्द चक्रवर्त्ती